विद्यापति का अमर काव्य

(सटीक)

विद्यापति का अमरकाव्य

(प्रश्नोत्तर रूप में आलोचना, मूल, शब्दार्थ, तथा टिप्पणियों सहित)

लेखक तथा सम्पादक:—

श्री गोपालाचार्य 'पराग'

एम० ए०,

अनुसन्धित्सु, हिन्दी-विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र।

भू० पू० प्राध्यापक,
हिन्दी-विभाग
दिगम्बर जैन कालिज, बड़ौत।

प्रकाशक :—

स्टूडेन्ट स्टोर, बिहारीपुर, बरेली।

विषय-सूची

(आलोचना-खण्ड)

(व्याख्या-खण्ड)

प्रिय अनुज

श्री सुदर्शनाचार्य,
बी० ए०

को

सस्नेह ।

❀ अपनी बात ❀

विद्यापति पर अब तक अनेक ग्रंथों का प्रणयन हो चुका है, किन्तु हिन्दी के एम० ए० के छात्रों द्वारा बराबर यह भी अनुभव किया जाता रहा है कि उनकी परीक्षा में आने वाली समस्याओं का समाधान किसी एक ग्रंथ में नहीं मिलता। प्रस्तुत ग्रंथ का लक्ष्य यही है कि इसमें विद्यार्थियों की परीक्षा सम्बन्धी समस्याओं का समुचित अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। इसके अतिरिक्त इसके व्याख्या-खण्ड में विद्यापति के काव्य-सौन्दर्य को स्पष्ट तथा सरस शैली में विवेचित किया गया है। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए प्रायः दो-दो पंक्तियों की व्याख्या को पृथक-पृथक 'पैराग्राफों' में दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रणयन में जिन-जिन विद्वानों के ग्रंथों से सहायता ली है उनका यथास्थान उल्लेख कर दिया है। लेखक उन सब के ही प्रति हृदय से अपना आभार प्रकट करता है।

मुझे आशा है कि इस पुस्तक के माध्यम से पाठक एवं विद्यार्थी विद्यापति के काव्य के सौन्दर्य-लोक से भली भाँति परिचित हो सकेंगे। स्टूडेन्ट स्टोर के प्रकाशक श्री श्रीराम अग्रवाल ने इसे शुद्ध रूप में मुद्रित कराने का भरसक प्रयत्न किया है फिर भी कुछ अशुद्धियों का रह जाना सम्भव है। लेखक उनके प्रति खेद ही प्रगट कर सकता है। पुस्तक में जो कमियाँ हों उनकी ओर ध्यान दिलाने वाले पाठकों के सुझावों का लेखक सदैव विनम्रतापूर्वक स्वागत करेगा।

अन्त में मैं श्री श्रीराम अग्रवाल को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिनके कि सहयोग के बिना यह ग्रंथ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत नहीं हो सकता था।

कोठी हजारी लाल,
बरेली।
२० मार्च, १९६५

गोपालाचार्य 'पराग'
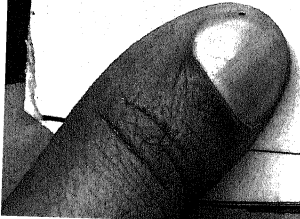
आलोचना-खण्ड

प्रश्न :—(१) विद्यापति के जीवन-वृत्त, जन्म स्थान एवं उनके सम्प्रदाय के विवरण को संक्षेप में लिखिये ।

उत्तर :—नामात्मक एवं रूपात्मक जगत को मिथ्या मानने की दार्शनिक आस्था ने भारतीय दार्शनिकों एवं कवियों को अपने जीवन-वृत्त के प्रति वीतरागी कर दिया । यही कारण है कि आज हम अपने अतीत के सांस्कृतिक जीवन के स्वरकारों की जीवन-कथा के प्रमाणिक रूप से बंचित हैं । विद्यापति एक राजाश्रित कवि थे; इस कारण उनके जीवन-वृत्त पर अपेक्षा कृत अधिक प्रकाश पड़ जाता है । फिर भी कुछ न कुछ संदिग्धता तो बनी ही रहती है । विद्यापति के जीवन-वृत्त को मालूम करने के दो मुख्य आधार हैं :—

१. बहिर्साक्ष्य :—

डॉक्टर गुणानन्द जुयाल के अनुसार 'विद्यापति राजाश्रित कवि थे, अतः उनके सम्बन्ध में बाहरी प्रमाणों का इतना अभाव नहीं'। तत्कालीन ऐतिहासिक तथा उनसे सम्बन्धित राज दरबारों के लिखित विवरणों एवं किंवदन्तियों के द्वारा विद्यापति का जीवन-वृत्त अन्य वीतरागी कवियों की अपेक्षा अधिक प्रमाणिक है ।

२. अन्तर्साक्ष्य :—

विद्यापति लौकिक कवि थे, वह राज्याश्रित थे; उन्होंने अपने कृपालु राजाओं के साथ ही यत्र-तत्र अपने विषय में भी कुछ लिखा है । इस कारण उनके जीवन-वृत्त के बहुत से सूत्र हाथ लग जाते हैं ।

जीवन-वृत्त :—

विद्यापति मिथिला के एक अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे । इनके वंशज राज्यमंत्री, राज पण्डित जैसे सुप्रतिष्ठित पदों को शोभायमान करते रहे हैं । डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के अंगरेजी लेख 'कवि-शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर' के अनुसार विद्यापति की वंशावली इस प्रकार है—

त्रिपाठी कर्मादित्य ठक्कुर
|
देवादित्य सान्धिविग्रहिक

वीरेश्वर (२)	गणेश्वर	जयदत्त
चण्डेश्वर	रामदत्त	गणपति ठक्कुर
		विद्यापति
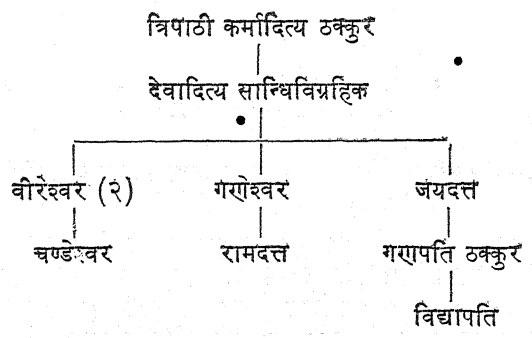
विद्यापति के वंश के आदि पुरुष विष्णु शर्मा ठक्कुर के पोते त्रिपाठी कर्मादित्य ठक्कुर राजमंत्री थे। कर्मादित्य के पौत्र वीरेश्वर ठक्कुर महाराज हरिदेव सिंह के राजमंत्री थे। वीरेश्वर ठक्कुर ने 'छान्दोग्य-दशकर्म पद्धति' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया; यह ग्रन्थ आज भी बिहार प्रान्त में 'दर्शकर्म' विधान का मूलाधार है। इनके अन्य वंशज भी विद्वान कवि एवं राजमंत्री थे। इनके पिता गणपति ठक्कुर राजा गणेश्वर के सभापंडित तथा मंत्री थे। गणपति ठक्कुर ने 'गंगा-भक्ति-तरंगिणी' नामक एक काव्य-ग्रन्थ की रचना की। डा० बाबूराम सक्सेना के अनुसार विद्यापति इस वंश के सबसे जाज्वल्यमान रत्न हुए।

विद्यापति अपने पिता के साथ राजा गणेश्वर के दरबार में जाया करते थे। विद्यापति ने उस युग के महान् विद्वान महामहोपाध्याय हरिमिश्र के श्री चरणों में बैठ कर सरस्वती की साधना की। इनके सहपाठी पक्षधर मिश्र भी प्रख्यात विद्वान थे। राजा गणेश्वर की मृत्यु के उपरान्त महाराज कीर्त्तिसिंह मिथिलापति हुए। विद्यापति ने कीर्त्तिलता और कीर्त्तिपताका इन्हीं की प्रशस्ति में लिखीं। कीर्त्तिसिंह के बाद महाराज देवीसिंह सिंहासनारूढ़ हुए, विद्यापति इनके भी राजदरबार में रहे। देवीसिंह के सम्बन्ध में विद्यापति के कई पद मिलते हैं। देवीसिंह के उपरान्त उनके पुत्र शिवसिंह जो कि विद्यापति के घनिष्ट मित्र भी थे, राजा हुए। इनके काल में विद्यापति ने अपनी सुप्रसिद्ध पदावली की रचना की। विद्यापति के अनेक पदों में राजा शिवसिंह और उनकी महारानी लखिमा देवी का नाम आया है। राजा शिवसिंह की मृत्योपरान्त विद्यापति उनके उत्तराधिकारी राजा पद्मसिंह

और हरिसिंह के राज्य काल में भी रहे । विद्यापति की अन्तिम रचना दुर्गाभक्ति तरंगिणी है, जो धीरसिंह के राज्यकाल में लिखी गई ।

विद्यापति एक ही राजवंश की सात पीढ़ियों के राज्याश्रित कवि रहे । यह बात इस बात का प्रमाण है कि विद्यापति ने दीर्घ जीवन का उपभोग किया । विद्यापति का जन्म और मृत्युकाल विद्वानों के लिए विवाद का विषय बना हुआ है । एक प्रसिद्ध जनश्रुति के अनुसार राजा शिवसिंह ५० वर्ष की अवस्था में सिंहासनारूढ़ हुए और विद्यापति अवस्था में इनसे दो वर्ष बड़े थे । विद्यापति के निम्नलिखित पद के अनुसार राजा देवीसिंह की मृत्यु २९३ लक्ष्मणाब्द संवत् में हुई—

अनल(३) रन्ध्र(९) कर(२) लक्खन नरवइ सक समुद्द(४) कर(२) अगिनि(३) सस(१) ।

चैत कारि छठि जेठा मिलिओ बार बेहप्पय जाहु लसी ।।
देवीसिंह जू पुहुमि छड्डिअ अद्धासन सुर राअ सरू ।

इसी वर्ष (२९३ ल० स० में) राजा शिवसिंह गद्दी पर बैठे । इस प्रकार ल० स० २९३ में विद्यापति का ५२ वर्ष का होना सिद्ध होता है । अतः उनका जन्म लक्ष्मण सम्वत् २४१ सिद्ध होता है । डॉ० उमेश मिश्र का यही मत है । अन्तर्साक्ष्य के आधार पर यही मत सर्वाधिक प्रमाणित है ।

विद्यापति के मृत्यु-सम्वत् के सम्बन्ध में भी विभिन्न प्रकार के मत हैं । श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त विद्यापति की मृत्यु-तिथि कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी, लक्ष्मणाब्द ३२९ मानते हैं । यह अनुमान अन्तर्साक्ष्य पर आधारित है । लक्ष्मण सम्वत् २९६ में राजा शिवसिंह की मृत्यु हुई और उसके ३२ वर्ष पश्चात् एक दिन विद्यापति ने उन्हें 'सामर रूप' में—मलिन वेष में देखा, इस तथ्य की पुष्टि विद्यापति के निम्नलिखित पद से होती है :—

सपन देखल हम सिवसिंघ भूप ।
बतिस बरस पर सामर रूप ।।
बहुत देखल गुरुजन प्राचीन ।
आब भेलहुं हम आयु विहीन ।।
सिमटु सिमटु निज लोचन नीर ।
ककरहु काल न राखथि थीर ।।

विद्यापति सुगतिक प्रस्ताव।
त्याग के करुना रसक सुभाव ॥

इस प्रकार ऐसा अनुमान तर्क संगत प्रतीत होता है कि विद्यापति ८७ अथवा ८८ वर्ष तक जीवित रहे।

विद्यापति के मृत्यु-सम्वत् के विषय में डा० रामकुमार वर्मा एवं डा० उमेश मिश्र का भिन्न मत है। इन दोनों के अनुसार विद्यापति की मृत्यु लक्ष्मण सम्वत् ३५६ (१४७५ ई०) में हुई; इस प्रकार विद्यापति ने लगभग ११५ वर्ष की आयु उपभोगी। डा० मिश्र ने विद्यापति के समकालीन वाचस्पति मिश्र का समय १४७५ ई० तक माना है, अतएव उन्होंने यह कल्पना की कि विद्यापति भी तब तक जीवित रहे। समकालीन एक समय तक जीवित रहें यह आवश्यक नहीं। आधुनिक युग में टाल्सटाय और गांधी भी समकालीन थे; लेकिन दोनों के मरण वर्षों में कितना अन्तर था। यही बात विद्यापति के विषय में भी मानी जा सकती है। अतः अन्तर्साक्ष्य के अनुसार ल० स० ३२९ अर्थात् १४४७ या १४४८ ई० में विद्यापति की मृत्यु मानना अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है।

जन्म स्थान :—

विद्यापति के जन्म स्थान का निर्णय १८७५ ई० के पूर्व तक विद्वानों के लिये बौद्धिक व्यायाम का विषय था। विद्यापति के भाषा-माधुर्य्य एवं बंगाली वैष्णव भक्तों में उनके काव्य के अत्यधिक प्रचलन के कारण बंगाली विद्वान विद्यापति को बंग-प्रदेशी मानते रहे। इन विद्वानों में त्रिलोक्यनाथ भट्टाचार्य प्रमुख थे। इस मत के अनुसार विद्यापति के बाल्यकाल का नाम वसन्तराय था, और जन्म-स्थान जैशोर, जिला बनी माना जाता था। यही नहीं कल्पना-उर्वर बंगाली विद्वानों ने विद्यापति की ससुराल आदि की भी बंगाल में ही कल्पना कर ली उनकी कल्पना ने यहाँ तक उड़ान भरी कि उन्होंने बंगाली इतिहास में विद्यापति के आश्रयदाता राजा शिवसिंह एवं उनकी महारानी लखिमा देवी तक को खोज निकाला। बंगाली रक्त बंग-गरिमा को सर्वोपरि मानता है। इसी मान्यता की प्रेरणा से उन्होंने विद्यापति को बंगाली माना। किन्तु जब योरोपीय विद्वानों ने भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया और विद्यापति के कारण बंगला-भाषा को हिन्दी की उपभाषा बताना

प्रारम्भ किया, तो बंगाली रक्त की बंग-गरिमा को आघात लगा और उन्होंने स्वयं विद्यापति को मैथिल कवि सिद्ध किया। इस आन्दोलन का प्रारम्भ १८७५ ई० में राधाकृष्ण मुखोपाध्याय ने किया। कुछ बंगाली विद्वानों ने विद्यापति के प्रति आसक्ति के कारण समन्वयवादी मार्ग अपनाया, इनके अनुसार विद्यापति बंगाली थे और कतिपय आकर्षक कारणों से मिथिला के लिये प्रवास कर गये। लेकिन अब अन्तिम रूप से यह सिद्ध हो चुका है कि विद्यापति मैथिल कवि थे। इस मत के प्रस्थापक हैं सर्वश्री सर जार्ज ग्रियर्सन, नगेन्द्रनाथ गुप्त, तथा रामवृक्ष बेनीपुरी।

बंगला भाषा के आदि कवि माने जाने के कारण :—

१. भाषाविदों ने मैथिली और बंगला दोनों की उत्पत्ति मागधी प्राकृत से मानी है। दोनों भाषाओं में प्रत्ययों की पर्याप्त समानता है।

२. बंगाल में विक्रम की बारहवीं शताब्दी में संस्कृत के कोमल कान्त पदावली के प्रतिभाशाली कवि जयदेव का आविर्भाव हुआ। उनका 'गीत गोविन्द' जनता के गले का हार बन गया। विद्यापति की गीत शैली की कोमल कान्तता एवं माधुर्य्य जयदेव के 'गीत गोविन्द' की कोटि का था। मिथिला में बंगाली छात्र विद्यापति की पदावली से प्रभावित हुये और उसे बंगला उच्चारण के साथ बंगाल ले आये। बंगला उच्चारण के परिवर्तन ने ही कदाचित विद्यापति का बंगालीकरण कर दिया।

३. चैतन्य महाप्रभु बंगाल के वैष्णव आन्दोलन के विधायक पुरुष थे। उनके प्रति बंगालियों में असीम श्रद्धा थी। चैतन्य महाप्रभु विद्यापति के राधा-कृष्ण विषयक गीतों को गाते-गाते समाधिस्थ हो जाते थे। फलतः बंगाल में विद्यापति के पद कीर्तन में प्रयुक्त होने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि बंगाल के काव्य पर विद्यापति का अमिट प्रभाव पड़ा। त्रैलोक्यनाथ भट्टाचार्य के अनुसार "विद्यापति और चण्डीदास की अतुलनीय प्रतिभा से समस्त बंग-साहित्य उज्जवल और सजीव हुआ है। वैष्णव गोविन्ददास और ज्ञानदास से लेकर हिन्दू बंकिमचन्द्र और ब्राह्म रवीन्द्र नाथ ठाकुर तक सब ही उन लोगों की आभा से आलोकित हैं, और उन लोगों का अनुकरण करके कविता-रचना में व्यस्त पाये जाते हैं।" बंगाल के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक

जीवन से विद्यापति की इस सीमा तक की एकरूपता ने सम्भवतः विद्यापति के बंगदेशीय होने की भ्रान्ति को जन्म दिया।

४. विद्यापति के युग का मिथिला शैव था। लेकिन उनके अधिकांश पद राधा-कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित थे। यही कारण है कि विद्यापति बिहार के तत्कालीन धार्मिक आन्दोलन से इतने बाहर चले गये कि बिहार वाले उनके मिथिलात्व तक को विस्मृत कर बैठे। विद्यापति के प्रति मिथिला की इस अनासक्ति ने बंगाली विद्वानों को विद्यापति के बंगालीकरण करने की पर्याप्त छूट दे दी।

विद्यापति के मैथिल होने के प्रमाण :—

१. भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जोनवीन्स महोदय ने विद्यापति की पदावली की भाषा को बंगला नहीं माना। श्री ग्रियर्सन ने अपने ग्रंथ "एन इन्ट्रोडक्शन टु दि मैथिली लैन्वज आफ़ नार्थ बिहार" में मैथिली भाषा की स्वायत्तता सिद्ध की। नगेन्द्रनाथ गुप्त महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्री प्रभृति विद्वानों ने भी इसी मत को मान्यता प्रदान की।

२. विद्यापति रचित ग्रन्थों की प्राचीन प्रतियाँ मिथिला के गावों में पाई गई हैं।

३. मिथिला में पंजी प्रथा का प्रचलन है। १३२६ ई० में राजा हरिसिंह की आज्ञा से मिथिला पंजों की रचना हुई। उसमें विद्यापति का वंश वृक्ष भी पाया जाता है।

४. कवि की स्वयं की रचनाएँ उसके मिथिला प्रदेशीय होने की घोषणा करती हैं। कवि की रचनाओं में जिन राजाओं और रानियों का उल्लेख हुआ है वे सब मिथिला प्रान्त की हैं। विद्यापति की रचनाओं का भौगोलिक परिवेश बंगाल का न होकर मिथिला का है।

५. राजा शिवसिंह ने विद्यापति को श्रावण सुदी सप्तमी, गुरुवार लक्ष्मण सम्वत् २९३ के (सिंहासनारूढ़ होने पर) दिन बिसपी ग्राम दान में दिया। इस विषय में एक ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ है डॉ० ग्रियर्सन ने इसको जाली माना है। हर प्रशाद शास्त्री तथा डा० दिनेश चन्द्र इसको प्रमाणिक मानते हैं।

६. विद्यापति के विषय में जितनी भी किंवदन्तियाँ एवं जनश्रुतियाँ प्रचलित हुईं वे सब मिथिला प्रदेश में ही हुईं।

७. डा० विनययोहन शर्मा के अनुसार 'विद्यापति के पदों को मैथिल महिलाओं ने वर्षों से अपने कंठों में सुरक्षित रखा है उनकी नचारियों और उनके पदों को गाकर आज भी वे विभोर हो उठती हैं।' इस प्रकार विद्यापति मिथिला के लोक कवि के रूप में मान्य रहे हैं।

८. विद्यापति को 'मैथिल कोकिल' का विशेषण प्रदान किया गया। वे बंगाल कोकिल के नाम से कदाचित् कभी भी अभिहित नहीं किये गये।

विद्यापति मैथिल निवासी थे, इस विषय में अब कोई विवाद नहीं है।

विद्यापति का सम्प्रदाय :—

विद्यापति का व्यक्तित्व इतना महान् एवं उदार था कि विभिन्न मतावलम्बी उनमें अपने-अपने मतों की छाप देख लेते थे। यही कारण है कि विद्यापति के सम्प्रदाय का प्रश्न प्रश्नों का चक्रव्यूह ही बन कर रह गया है। निम्नलिखित तालिका से विद्यापति का सम्प्रदाय सम्बन्धी विवाद स्पष्ट हो जायेगा।

विद्वानों के नाम	उल्लखित सम्प्रदाय
१. ग्रियर्सन, डा० आनन्दकुमार स्वामी, बाबू ब्रजनन्दन सहाय, प्रो० विपिन बिहारी मजूमदार नरेन्द्रनाथ दास, डा० श्याम सुन्दरदास	वैष्णव सम्प्रदाय
२. श्री भागवत शुक्ल 'पायोद'	शाक्तमतानुयायी
३. महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री	पंचदेवोपासक
४. प्रोफेसर जनार्दन मिश्र	एकेश्वरवादी
५. बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त, बाबू रामवृक्ष बेनीपुरी, पं० शिव नन्दन ठाकुर	शैव सम्प्रदाय

इस प्रकार विद्वानों ने विद्यापति को पाँच सम्प्रदायों से सम्बन्धित माना है। इसमें विद्वानों का बहुमत विद्यापति को वैष्णव रूप में मानता है। अतएव पहले यह ही देख लिया जाये कि विद्यापति वैष्णव मतावलम्वी थे या नहीं। संक्षेप में उनके वैष्णव होने के तर्क इस प्रकार हैं :—

१. विद्यापति के पद वैष्णव लोगों के भजन व कीर्तन के अधिक समीप है (They are nearly all vaishnava hymns or Bhajans)

२. डा० मजूमदार के अनुसार विद्यापति ने भागवत पुराण नामक ग्रंथ की हस्त प्रतिलिपि स्वयं की।

३. डा० श्यामसुन्दर के अनुसार विद्यापति ने कृष्ण की चिर प्रेयसी के रूप में राधा की कल्पना विष्णु स्वामी और निम्बार्क सम्प्रदाय से ही ग्रहण की है।

विद्यापति के वैष्णव होने का खण्डन :—

विद्यापति के वैष्णवत्व के समर्थन का मुख्य आधार उनकी 'पदावली' है। लेकिन विद्यापति ने पदावली के अतिरिक्त भी संस्कृत एवं अवहट्ट भाषा में १२ ग्रंथ रचे हैं। अतएव विद्यापति की मात्र पदावली के आधार पर उनके सम्प्रदाय के विषय में कोई भी निर्णय देना न केवल असगत है, अपितु अवैज्ञानिक भी है। विद्यापति ने पदावली के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रंथ में राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओं का वर्णन नहीं किया। यदि वे वैष्णव मत में दीक्षित होते तो ऐसा असम्भव था।

हम विद्यापति की पदावली के आधार पर भी उनके वैष्णवत्व का समर्थन नहीं कर सकते। जिन दिनों विद्यापति ने अपने पदों की रचना की, आचार्य श्री विनयमोहन शर्मा के अनुसार 'उन दिनों मिथिला में भक्ति की विशेष चर्चा भी नहीं थी जैसी कि चैतन्यदेव के समय बंगाल में थी।' वस्तुतः विद्यापति की पदावली का सृजन 'गीत-गोविन्द' के अनुकरण पर हुआ। जयदेव ने ग्यारहवीं शताब्दी में गीत-गोविन्द की रचना की और चौदहवीं शताब्दी में विष्णु स्वामी और निम्बार्क की प्रेरणा पर वैष्णव सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण की उपासना का समावेश हुआ। अतः जयदेव पर वैष्णवी राधा-कृष्णीय

भक्ति का प्रभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। विद्यापति पर भी हम वैष्णव प्रभाव को स्वीकार नहीं कर सकते। उन्होंने अपनी पदावली में कृष्ण को प्रभु रूप में चित्रित भी नहीं किया। पदों के अन्त में 'राजा शिवसिंह रूप नारायण, लखिमा देई रमाने' की आवृत्ति तो स्पष्ट ही वैष्णव विद्यापति का चित्र प्रस्तुत नहीं करती। न ही उन्होंने कीर्त्तन के उद्देश्य से पदों की रचना की। कीर्त्तन का प्रचलन भी विद्यापति के काल में नहीं था। कीर्त्तन का समावेश विद्यापति के लगभग दो सौ वर्ष उपरान्त भक्ति-आन्दोलन में हुआ। इस प्रकार विद्यापति के वैष्णव मतावलम्बी सिद्ध करने का यह तर्क भी निराधार ही है।

शाक्तमतानुयायी :—

पं० भागवत शुक्ल 'पाथोद' ने विद्यापति को शाक्त प्रमाणित किया है 'पथोद' जी का मुख्य आधर 'पुरुष परीक्षा' का प्रस्तुत मंगलाचरण है :—

> ब्रह्मापि यान्नोति नुतः सुराणों यामर्चितोऽप्यर्चतीन्दुमौलि,
> या यायति ध्यानगतोऽपि विष्णुस्तामादिशक्ति शिरसा पपद्ये।

इसमें आदि 'शक्ति को शिव की पूज्या' एवं 'विष्णु की ध्याया' तथा 'ब्रह्मा की प्रणम्या बतलाया' है। इसके अतिरिक्त कुछेक पदों में आदि-शक्ति का वर्णन है। साथ ही विद्यापति के युग में मिथिला के विद्वान शाक्तमतानुयायी थे।

पंचदेवोपासक :—

'कीर्त्तिलता' के प्रथम सम्पादक महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने विद्यापति को पंचदेवोपासक स्मार्त बताया है। यह पंचदेव हैं—गणेश, सूर्य, दुर्गा, विष्णु तथा शिव। इन पंचदेवों की बंदना विद्यापति ने केवल एकाध स्थानों पर की है। केवल इसी आधार पर विद्यापति को पंचदेवोपासक मानना युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता। श्रीराम वशिष्ठ ने इस मत को 'नितान्त अमान्य' ठहराया है।

एकेश्वरवादी :—

प्रो० जनार्दन मिश्र ने अपनी पुस्तक 'विद्यापति' में विद्यापति को एकेश्वरवादी बतलाया है। इस सम्बन्ध में प्रो० मिश्र ने

निष्कर्षात्मक रूप में लिखा है "विद्यापति प्रगाढ़ विद्वान थे ...... हिंदू देवी देवताओं के यथार्थ रूप से परिचित होने के कारण किसी विशेष रूप के प्रति उनका भेद भाव या पक्षपात नहीं था।" श्री मिश्र के अनुसार सनातन-हिन्दू धर्म एकेश्वरवादी है।

५ शैव सम्प्रदाय :—

विद्यापति के सम्बन्ध में यह मत ही अधिक मान्य है। शिवनन्दन ठाकुर तथा श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने पर्याप्त विस्तार से इस मत का विवेचन किया है। निम्नलिखित कारणों से विद्यापति का शैव होना सिद्ध होता है :—

१. विद्यापति शैव और विष्णु की एकता के विश्वासी थे। 'विभाग-सार' और 'पुरुष-परीक्षा' में उन्होंने इसी एकता की स्थापना की है। पदावली में भी 'भल हर भल हरि भल तुअ कला' तथा 'हरि-हरि शिव-शिव तावे जाइअ जिव जावे न उपजु सिनेह' जैसे पदों में भी 'शिव-विष्णु एकता की स्वीकारोक्ति है। इसके अतिरिक्त शिव की स्तुति के पदों में विद्यापति की हार्दिक निर्मलता एव विनयशीलता की सहज अभिव्यक्ति हुई है। इस वर्ग के पदों में सूर एवं तुलसी की ही भाँति दैन्य-भावना की अभिव्यक्ति हुई है, वह भी उनसे कई सौ वर्ष पूर्व।

२. विद्यापति के आश्रयदाता सभी राजा शैव मतावलम्बी थे।

३. विद्यापति की चिता पर शिव मन्दिर विद्यमान है। यदि विद्यापति वैष्णव होते तो ऐसा होना उस युग में असम्भव था।

४. विद्यापति ने 'पुरुष परीक्षा' में धार्मिक विवेचन में राजा रत्नांगद से शिव की उपासना की प्रतिज्ञा करवाई।

५. विद्यापति की 'महेश बानी' शिव-राशि के पर्व पर गाई जाती है।

६. विद्यापति ने शिव से सम्बन्धित देवियों—गंगा तथा दुर्गा पर पृथक ग्रंथों की रचना की।

७. किंवदन्तियों से युग सत्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार भी विद्यापति शैव थे। दो मुख्य किंवदन्तियाँ इस प्रकार हैं :—

(अ) विद्यापति के पिता ने 'कपिलेश्वर' शिव की उपासना के उपरान्त विद्यापति को प्राप्त किया।

(ब) विद्यापति की भक्ति से अभिभूत हो उदना के रूप में शिव विद्यापति के घर सेवक रूप में रहे। भेद खुलने पर वे अन्तर्ध्यान हो गये। तब विद्यापति ने पीड़ित होकर अनेक पदों की रचना की।

८. विद्यापति ने स्वयं अपने एक पद में शिव की उपासना की इस प्रकार चर्चा की है :—

आन चान गन हरि कमलासन सभ परिहरि हम देवा।
भक्तबछल प्रभु बान महेसर जानि कयल तुअ सेवा॥

यह 'बान महेसर' बाणेश्वर शिव के लिये प्रयुक्त हुआ है जो कि विद्यापति के ग्राम विसपी के निकट स्थित है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि विद्यापति शैव मतावलम्बी थे; तथ्यात्मक बहिर्साक्ष्य तथा अन्तर्साक्ष्य के आधार पर यह मत ही संपुष्ट होता है।

प्रश्न :—(२) विद्यापति की रचनाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिये।

उत्तर—विद्यापति अपने विद्वान और प्रतिभाशाली वंश के 'सबसे जाज्वल्यमान रत्न' थे। उनमें विद्वता एवं प्रतिभा का मणि-काँचन संयोग था। उन्होंने संस्कृत, अवहट्ट (अपभ्रंश) तथा मैथिली भाषा में १४ ग्रंथों की रचना कर अपने ऐतिहासिक, नीतिशास्त्रीय, भौगोलिक, व्यावहारिक, पौराणिक ज्ञान तथा कल्पना-चारुता का परिचय दिया है। डा० गुणानन्द जुयाल के अनुसार विद्यापति की "पदावली उनको महाकवियों में स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है। ·········विद्यापति उन सौभाग्यशाली व्यक्तियों में से थे जिन्हें कवित्वशक्ति, प्रतिष्ठा, विद्वता और सांसारिक वैभव युगपत् प्राप्त होते हैं।" उन्होंने अपनी कारयित्री तथा भावायित्री प्रतिभा की अभि-व्यक्ति निम्नलिखित ग्रंथों में की :—

संस्कृत-ग्रन्थ :—

१. भू-परिक्रमा, २. पुरुष-परीक्षा, ३. लिखनावली, ४. विभाग-सार, ५. शैवसर्वस्वसार, ६. गंगावाक्यावली, ७. दुर्गाभक्ति तरंगिणी, ८. दानवाक्यावली ९. गयापत्तलक, १०. वर्षकृत्य, ११. पांडव विजय, तथा १२. मणि-मंजरी।

अवहट्ट-ग्रन्थ :—

१. कीर्त्तिलता, २. कीर्त्तिपताका (संस्कृत-अपभ्रंश दोनों में)।

मैथिली-रचना :—

पदावली

उपर्युक्त ग्रंथों में वर्णित विषय इस प्रकार हैं ;—

१. भूपरिक्रमा :—

यह पुस्तक डा० बाबूराम सक्सेना के शब्दों में 'आजकल के गज़ेटियर की तरह है।' बलराम के शापग्रस्त होने पर प्रायश्चित के उद्देश्य से तीर्थों के पर्यटन की कथा इस ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय है। इस वर्णन में देश के भौगोलिक सौन्दर्य का मनोरम अंकन हुआ है। इस अंकन के साथ ही रोचक कहानियों के सन्निवेश ने पुस्तक को कथा-सौन्दर्य का स्पर्श भी दिया है। इस पुस्तक का लेखन राजा देवीसिंह की प्रेरणा पर हुआ।

२. पुरुष-परीक्षा :—

इस ग्रन्थ में महमूद गजनवी के काल से लेकर विद्यापति के युग तक की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन है। कहानी के रूप में पुरुषों के लक्षण कहे गये हैं। इस प्रकार इतिहास और नीति का समन्वय प्रस्तुत हुआ है। इसके मैथिली, बंगला अंग्रेजी भाषा में अनुवाद हो चुके हैं। अँग्रेजी भाषा में अनुवाद राजा काली कृष्ण बहादुर ने किया।

३. लिखनावली :—

इस ग्रन्थ का प्रणयन राजबनौली के राजा पुरादित्य की प्रेरणा पर प्रशासनिक पत्र-व्यवहार, प्रशस्ति-लेखन क उद्देश्य से लक्ष्मणाब्द २९० में किया गया। ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है;

क्योंकि इसमें तत्कालीन राजाओं तथा उच्चवर्गीय महापुरुषों के नामों का उल्लेख है। इसकी प्रति डा० गंगानाथ झा के पास है।

४. विभवसार :—

यह अर्थशास्त्रीय ग्रन्थ है। डा० बाबूराम सक्सेना के शब्दों में इस संस्कृत ग्रन्थ में दायभाग के अनुसार सम्पत्ति के बटवारे के नियम दिए हैं। श्री राम वशिष्ठ की सूचनानुसार यह पुस्तक अभी अप्रकाशित है।

५. शैवसर्वस्वसार :—

इस ग्रन्थ की रचना राजा शिवसिंह की मृत्योपरान्त रानी विश्वासदेवी के काल में हुआ। शिवोपासना का विधि-कर्म इसका वर्ण्य विषय है। ताल पत्र में लिखित इसकी एक प्रति महाराजा दरभंगा के पुस्तकालय में अभी भी सुरक्षित है।

६. गंगावाक्यावली :—

इस रचना में गंगा-तट पर स्थित तीर्थों का भक्ति-भाविल भाषा में वर्णन है। साथ ही इसमें गंगा-स्नान करते हुये दान-सकल्पों का भी संग्रहण है। इस ग्रन्थ की रचना भी राजा पद्मसिंह की रानी विश्वास देवी के काल में हुई।

७. दुर्गाभक्तितरंगिणी :—

इसमें दुर्गा-भक्ति का विवेचन है, दुर्गा पूजा के प्रकारों का भी वर्णन है। यह ग्रन्थ विद्यापति के पौराणिक एवं धर्मशास्त्र के ज्ञान का परिचायक है। यह राजा धीरसिंह युगीन विद्यापति की अन्तिम रचना है। इसका प्रथम प्रकाशन १९०२ ई० में हुआ।

८. दानवाक्यावली :—

इस ग्रन्थ में दान के स्वरूप का विवेचन हुआ है। साथ ही 'प्रधान दान के १२ संकल्प वाक्यों का संग्रह' भी इसमें है।

९. गयापत्तलक :—

यह ग्रन्थ अप्राप्य है। इसमें गया में श्राद्ध करने के संकल्प-वाक्य संग्रहीत हैं।

१०. वर्षकृत्य :—

डा० बाबूराम सक्सेना ने वर्ष क्रिया (सधवा-कृत्य) के नाम से इस ग्रन्थ का उल्लेख 'कीत्तिलता' की भूमिका में किया है। इसमें बारहों महीनों के पर्वों के प्रमाण एवं उनके विधानों का विवरण है।

११. पांडव विजय :—

इसका विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है। पं० शिवनन्दन ठाकुर को इसकी एक प्रति संस्कृत कॉलिज कलकत्ता में मिली। इसकी प्रमाणिकता में सन्देह।

१२. मणि मंजरी :—

विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है। इसकी एक प्रति दरभंगा में उपलब्ध हुई। अन्त में महामहोपाध्याय विद्यापति नाम का उल्लेख है। पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में इसकी प्रमाणिकता भी संदिग्ध है।

अवहट्ट-ग्रन्थ

१. कीर्त्तिलता :—

विद्वानों ने कीर्त्तिलता को विद्यापति की प्रथम रचना माना है। यह इनकी तरुणावस्था की रचना है। इसमें विद्यापति ने अपने प्रथम आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह का गुण गान किया है। इस रचना में कवि ने अपनी काव्य-प्रतिभा की प्रशसात्मक अभिव्यक्ति भी की। यह रचना कवि की जनचेतनात्मक संवेदना को व्यक्त करती है। जनभाषा में कविता लिखकर विद्यापति ने जनकवि-परम्परा का सूत्रपात किया। विद्यापति ने संस्कृत की अपेक्षा लोक-भाषा की जन-प्रियता को 'कीर्त्तिलता' में अत्यन्त सुन्दर शब्दों में इस प्रकार स्वीकार किया है :—

"सक्कय वाणी बहुअ न भावइ।
पाउँअ रस को मम्म न पावइ॥
देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा॥"

इस प्रकार 'कीर्त्तिलता' एक ऐतिहासिक रचना है। इसका बंगला और हिन्दी दोनों भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। ग्रन्थ के आदि में दो मंगलाचरण संस्कृत में हैं।

२. कीर्त्तिपताका :—

डा० बाबूराम सक्सेना ने इसको मैथिल ग्रन्थ माना है। इसके विपरीत पूज्य डा० गुणानन्द जी के अनुसार 'कीर्त्तिलता' अपभ्रंश में है। 'इसमें प्रेम कविताएँ हैं।' नेपाल नरेश के राज-पुस्तकालय में इसकी एक खंडित प्रति सुरक्षित है।

मैथिल-ग्रन्थ—

१. पदावली :—

मैथिली भाषा में प्रणीत यह पदावली ही विद्यापति की कीर्त्ति की चतुर्दिक सुगन्ध-प्रसारिणी अमरलता है। पूर्वी भारत में विद्यापति का प्रचार सर्वव्यापक है। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के अनुसार कोई मिथिला में जाकर तमाशा देखे। एक शिव पुजारी, डमरू हाथ में लिए, त्रिपुंड रमाए, जिस प्रकार 'कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ' गाते-गाते तन्मय होकर अपने आपको भूल जाता है, उसी प्रकार नववधू को कोहबर में ले जाती हुई कलकंठी कामनियां 'सुन्दरि चलिलहु पहु-घर ना, जाइतहि लागु परम डर ना' गाकर नव वर-वधू के हृदयों को एक अव्यक्त आनन्द स्रोत में डुबो देती हैं। जिस प्रकार नवयुवक 'ससन-परसु खसु अम्बर रे देखलि धनि देह' पढ़ता हुआ एक मधुर कल्पना से रोमांचित हो जाता है उसी प्रकार एक वृद्ध 'तातल सैकत बारि बुन्द सम सुत मित रमनि समाज, तोहि बिसारि, मन ताहि समरपिनु अब मझु हब कोन काज', 'माधव हम परिनाम निरासा' गाता हुआ अपने नयनों से शत-शत अश्रुबिन्दु गिराने लगता है।" तात्पर्य यह है कि विद्यापति के पद जन-जीवन की विविध आयामीय भाव-भंगिमाओं का स्पर्श करते हैं।

पदावली के कितने ही संग्रह उपलब्ध हैं जो इस प्रकार हैं ;—

१. श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त का संग्रह :—

इसमें ९४५ पद हैं। इसके हिन्दी संस्करण में केवल ६७५ पद ही हैं।

२. बाबू ब्रजनन्दन सहाय का संग्रह :—

इसमें केवल ४०० पद हैं। श्री सहाय ने प्रथम संग्रह की अपेक्षा कुछ नये पदों की खोज भी की है। विद्यापति की नचारियां इस संग्रह में प्रथम बार उल्लिखित हुई हैं।

३. रामवृक्ष बेनीपुरी का संग्रह :—

इसमें केवल २६६ पद संग्रहित हैं। हिन्दी उच्चारण की दृष्टि से इसका पाठ सर्वाधिक शुद्ध है।

इनके अतिरिक्त स्वर्गीय हर प्रसाद शास्त्री ने नेपाल से एक संग्रह प्राप्त किया है। मैथिल के कविलोचन राग तरंगिणी में भी विद्यापति के कुछ पद संकलित हैं। आचार्य श्री विनय मोहन शर्मा के अनुसार उच्चारण की दृष्टि से "बंगला और नेपाल के संग्रहों में भाषा-दोष के आधिक्य से पद भ्रष्ट हो गये हैं।" यही कारण है कि मैथिली महिलाओं के कंठों की सहायता से विद्यापति की पदावली के जो पाठ तैय्यार होंगे वे ही शुद्धतम होंगे।

पदावली की मुख्य विषय-धारा शृंगार है। डा० जुयाल के शब्दों में "पदावली के ९० प्रतिशत से भी अधिक पद शृंगारी हैं।" शृंगार के उपरान्त दूसरी मुख्य धारा भक्ति है। लेकिन यह प्रतिशत के दृष्टिकोण से अत्यन्त क्षीण है। इसके अतिरिक्त प्रहेलिका, दृष्टकूट, शिवसिंह का युद्ध वर्णन आदि के कतिपय पद भी हैं। वस्तुतः पदावली की गरिमा का कारण शृंगार सम्बन्धी पद ही हैं।

प्रश्न :—(३) 'विद्यापति की पदावली' न रहस्यवादी रचना है और न वैष्णव भक्तिवादी। प्रत्युत शुद्ध शृंगारी रचना है" इस कथन की विवेचना कीजिए।

अथवा

क्या विद्यापति शैव थे, और क्या उनके पदों की रचना शृंगार काव्य की दृष्टि से की गई थी, भक्त के रूप में नहीं ?

उत्तर—विद्यापति की पदावली अपनी मूल चेतना में रहस्यवादी हो या न हो; परन्तु विद्वानों के लिये तो वह रहस्यमयी ही बनी हुई है। इस आरोपित रहस्यमयता के कारण ही उसकी विवेचना भी त्रिआयामीय है। निम्न त्रिकोण से यह आयाम स्पष्ट हो जायेंगे :—
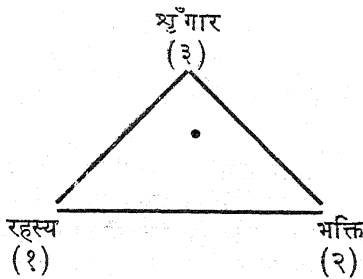
विद्यापति की पदावली के इस विवेचन-वैभिन्य को देख कर तुलसीदास जी की 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन्ह तैसी' चौपाई सहज ही याद आ जाती है। तुलसी के प्रभु तो अनास्वाद्य, परम सूक्ष्म एवं अगम्य थे, पर विद्यापति के पद तो ऐसे नहीं, वे तो स्वाद्य, स्थूल एवं गम्य हैं। अतएव केवल आलोचकों की भावना से उनके रूप का विधायन नहीं हो सकता, उनकी वस्तुगतता ही उस रूप की भंगिमा को सुस्पष्ट कर सकती है। यहाँ हम आलोचकों की भावना के अध्ययन के साथ साथ विद्यापति के पदों के वस्तुगत सत्य का निर्देशन करेंगे। तभी हम उनके पदों के 'वादी' स्वर का सही निर्णय करने में समर्थ हो सकेंगे।

विद्यापति की पदावली और रहस्यवाद :—

सर्व प्रथम हम विद्यापति की रहस्यवादिता पर विचार करेंगे। इस मत के प्रवर्तक विद्वान हैं—डॉक्टर ग्रियर्सन, डॉक्टर आनन्द कुमार स्वामी, डॉक्टर श्यामसुन्दरदास डॉक्टर जनार्दन मिश्र। यह विद्वान पदावली में प्रेमपरक प्रतीकों का आरोपण करते हैं और इसी आरोपणा के आधार पर रहस्यवाद की परिकल्पना करते हैं। डॉ० आनन्दकुमार स्वामी के निम्नलिखित कथन में इसी प्रतीकात्मकता के दर्शन होते हैं :—

'Vidyapati is roses, rose all the way, is a Bower of Bliss there we have the early paradise as it were of an Indian willium morris—Jamuna bank in Vaishnave literature stands for this world regarded the constant meeting place of

Radha and Krishna where amidst the affairs of daily life the soul is arrested, beguiled to her undoing in the flute of Krishna there is call of Infinite."

डॉ० ग्रियर्सन भी विद्यापति की पदावली की राधा को सर्वोच्च प्रेयसी (supreme mistress) एवं कृष्ण को सर्वोच्च प्रिय (supreme Lord) मानते हैं। डॉ० ग्रियर्सन की ही भाँति बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने भी विद्यापति की पदावली में रहस्यवाद के दर्शन करते हुये अपने एक अभिभाषण में कहा है कि "विद्यापति की पदावली मूलतः रहस्यवादी रचना है। उसमें आत्मा परमात्मा की खोज में बेचैन है और वह परमात्मा से निर्जन स्थान में मिलने को लालायित है। संसार के लोग इस पवित्र प्रेम को नहीं जानते इस कारण वह इस सच्चे प्रेमी के मार्ग में बाधक बनते हैं। भक्त इस बाधा को बचाने के लिये इस संसार को त्यागकर बन या किसी अन्य एकान्त स्थान में चला जाता है।" हमारा मत है कि श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त के इस उद्धरण से भी विद्यापति के रहस्यवादी होने की पुष्टि नहीं, होती क्योंकि विद्यापति 'इस संसार को त्यागकर बन या किसी अन्य स्थान में' नहीं गये।

डॉ० जनार्दन मिश्र भी विचार धारा की दृष्टि से 'विद्यापति को पूर्ण रहस्यवादी' मानते हैं। उनके निष्कर्ष इस प्रकार है :—

१. मिथिला में वैष्णवों की पूजा के समय विद्यापति के पदों का कीर्त्तन।

२. विद्यापतीय युग में रहस्यवाद का अत्यधिक प्रचलन।

३. विद्यापति की पदावली की रहस्यवादी आलोचना के प्रसंग में मिश्र जी ने अपनी पुस्तक 'विद्यापति' में एक स्थल पर लिखा है कि "हिन्दू शास्त्र के पण्डित होने के नाते और उसमें श्रद्धा और विश्वास रखने के कारण उन्हें रहस्यवाद के सिद्धान्तों को, शिव-पार्वती, सीताराम राधा-कृष्ण अथवा जीवात्मा और परमात्मा की साधारण स्थिति के द्वारा अनुभव करने और कराने में किसी प्रकार की शंका नहीं होती थी।"

४. मिश्र जी ने दादू और कबीर की रहस्यवादी प्रवृत्ति से विद्यापति की समता स्थापित की।

पदावली में रहस्यवादी-प्रवृत्ति के मत का खण्डन :—

पदावली में रहस्यवाद की उपर्युक्त स्थापना के दो मूलाधार हैं—प्रतीकात्मकता एवं रति-प्रीति युक्त भक्ति-भावना अर्थात् प्रेमपरक रहस्यवाद। यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो पायेंगे कि पदावली में इन दोनों ही तत्त्वों का अभाव है। गेरैल्ड बुलेट ने अपने ग्रंथ The English Mystics में प्रतीक के प्रयोजन को विवेचित करते हुए लिखा है "The functions of symbolism is to bring metaphisical ideas within reach of the imagination by presenting them in a dramatic or pictorial form."

(रहस्यवाद में प्रतीकों का कार्य (अवर्णनीय) तात्त्विक अथवा आध्यात्मिक विचारों को नाटकीयता तथा चित्रात्मक विधा द्वारा हमारी ग्राहक कल्पना के भीतर लाना है।)

कॉलरिज के अनुसार "A symbol is characterised translucence of the special in the individual, or of the universal in the general, above all by the translucence of the eternal through and in the temporal.

(प्रतीक किसी विशेष तत्त्व का व्यक्ति में अथवा विशेष में सामान्य का या सामान्य में किसी सार्वभौम सत्ता का आभास देते हैं और इन सबके ऊपर नश्वर में अविनश्वर की झाँकी दिखाते हैं।)

इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रतीक काव्य में आध्यात्मिक सत्यों को मनोरम मधुर वाणी देते हैं। किन्तु विद्यापति की पदावली में ये आध्यात्मिक सत्य अथवा सार्वभौम सत्ता की झाँकी के दर्शन भी नहीं होते; वरन् उसमें केवल रूप का स्पष्टतर शब्दों में मांसल वर्णन है। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

कामिनि करए सनाने। हेरतहि हृदय हनए पंचबाने।
चिकुर गरए जलधारा। जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा॥
कुच जुग चारु चकेबा। निज कुल आनि मिलअ कौन देवा॥
ते संका भुज पासे। बाँधि धएल उड़ि जाएत अकासे॥
तितल वसन तन लागू। मुनिह क मानस मनमथ जागू॥

सद्यः स्नाता के इस पद में केवल रूप का उद्दाम चित्रण है; अरूप का रूप के माध्यम से चित्रण जो कि रहस्यवाद का प्राण-तत्त्व है; इस पद में तथा इस जैसे अनेक पदों में नहीं पाया जाता है।

रति-प्रीति युक्त भक्ति-भावना भी हमें पदावली में नहीं प्राप्त होती। प्रेमपरक रहस्यवाद में प्रेम ही ईश्वर के रूप में मान्य होता है। जैसा कि अन्डरहिल ने कहा भी है 'The business and methods of misticism is love' रहस्यवादी के लिये तो ईश्वर के आश्चर्य प्रेम के आश्चर्य होते हैं, उसके लिये आध्यात्मिकता दिव्य प्रेम की सुस्मिति होती है।' लेकिन विद्यापति की पदावली में रूप की उद्दामता में यह सुस्मिति हमको नहीं मिलती। अन्डरहिल के ही शब्दों में "The cry of the mystic is 'my God. my love, Thou art all mine, and I am all Thine.' 'O, let me love or not live." परन्तु विद्यापति की पदावली में ऐसी पुकार कहाँ, वहाँ तो "ससन परस खसु अम्बर रे, देखल धनि देह। नव जलधर-तर संचर रे, जनि बिजुरी रेह॥" की लौकिक मादक पुकार है और ऐसी पुकार कभी रहस्यवादी की नहीं हो सकती। अतएव इस विषय में डॉ० ग्रियर्सन तथा बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त का मत स्वीकार्य नहीं।

जहाँ तक डॉ० जनार्दन मिश्र के ऐतिहासिक निष्कर्षों का प्रश्न है, वे तो अनैतिहासिक हैं ही। विद्यापति के पद उनके युग में मिथिला में वैष्णव पूजा में प्रयुक्त नहीं होते थे, वरन् डॉ० विनयमोहन शर्मा के अनुसार "उन दिनों मिथिला में भक्ति की विशेष चर्चा भी नहीं थी जैसी कि चैतन्यदेव के समय बंगाल में थी।" श्री शिवनन्दन ठाकुर के अनुसार 'विद्यापति के शृंगारी पद मिथिला में केवल विवाह के मधुपर्क, कोहवर आदि अवसरों पर ही गाए जाते थे।" विद्यापति के युग में रहस्यवाद का प्रचार भी नहीं था। श्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मधुर भाव के रहस्यवाद का प्रारम्भ निर्गुण संतों से मानते हैं सूफीपरक मधुर भाव का रहस्यवाद १५०० से हिन्दी काव्य में आया है। अतएव इस कोटि के रहस्यवाद को विद्यापति में देखना ऐतिहासिक सत्य की अवहेलना करना है। इसके अतिरिक्त डॉ० मिश्र के कथन में भी विरोधाभास है। मिश्र जी विद्यापति को हिन्दू-शास्त्र का पंडित मानते हैं। हमारा मत है कि इसीलिए वे अपंडितों की रहस्यभावना

को स्वीकार नहीं कर सकते थे। अतएव डॉ० गुणानन्द जुयाल का यह कथन ही सत्य के अधिक निकट है "विद्यापति पर जो हिन्दू धर्म के तथ्यों के समझने वाले थे और जिन्होंने शैवसर्वस्वसार, गंगावाक्यावली तथा दुर्गा-भक्ति-तरंगिणी पुस्तकें लिखीं थीं, सूफियों के रहस्यवाद का इतना प्रभाव पड़े कि वे उसमें बह जावें असम्भव ज्ञात होता है।" मिश्र जी की विद्यापति की दादू और कबीर से तुलना तो और भी हास्यास्पद है। दादू और कबीर रहस्यवादी थे, परमप्रिय के प्रेम में अलमस्त दीवाने फकीर थे, वे अपना झोंपड़ा फूँक कर प्रियमय थे; विद्यापति ऐसे कहाँ थे, वे तो राजदरबार के कवि थे, उनका लक्ष्य परम प्रिय का सन्धान न होकर अपने आश्रयदाताओं का आह्लादन था। ऐसा कवि कभी भी रहस्यवादी नहीं हो सकता। इसीलिए डॉ० जुयाल ने 'विद्यापति को बिहारी, सेनापति आदि शृंगारी कवियों की श्रेणी में' रखा है और यह उचित भी है।

विद्यापति की पदावली और वैष्णव भक्ति :—

कतिपय विद्वान विद्यापति की पदावली में वैष्णव भक्ति-भावना के दर्शन करते हैं। इन विद्वानों में मुख्य हैं ग्रियर्सन, श्री श्यामसुन्दर दास, डॉ० आनन्द कुमार स्वामी, प्रो० विपिन बिहारी मजूमदार तथा नरेन्द्रनाथ दास। इन विद्वानों के निष्कर्ष इस प्रकार हैं :—

१. डॉ० ग्रियर्सन ने 'विद्यापति के लगभग सब पद वैष्णव पद या भजन' माने हैं। बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने विद्यापति के अभिसार के पदों में चित्रित नायिका की साहसिकता में ईश्वर-प्रेम की दुर्दमनीय शक्ति के परिदर्शन किये हैं। गुप्त महोदय का दूसरा तर्क है कि चैतन्यदेव पर पदावली का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि इसका गायन करते हुए वे मूर्छित हो जाते थे। इतना ही नहीं पदावली की प्रभावशीलता इतनी महिमामयी थी कि चैतन्यदेव ने आजीवन कौमार्य का भीष्म व्रत भी धारण किया। पदावली के पदों का कीर्त्तन में प्रयुक्त होने का तर्क भी उसकी वैष्णवी भक्ति-भावना की प्रमाणभूतता में प्रस्तुत किया जाता है।

(२) डॉक्टर श्यामसुन्दर दास के अनुसार "विद्यापति पर माध्व-सम्प्रदाय का ही ऋण नहीं है, उन्होंने विष्णु स्वामी और निम्बार्काचार्य के मतों को भी ग्रहण किया था। न तो भागवत पुराण में और न माध्वमत में ही राधा का उल्लेख किया गया है। कृष्ण के साथ बिहार

करने वाली गोपियों में राधा भी हो सकती है, पर कृष्ण की चिर प्रेयसी के रूप में वे नहीं देख पड़तीं। उन्हें यह रूप विष्णु स्वामी और निम्बार्क सम्प्रदाय में ही पहले पहल प्राप्त हुआ था। ....निम्बार्क ने विष्णु स्वामी से भी अधिक दृढ़ता के साथ राधा की प्रतिष्ठा की और उन्हें अपने चिर प्रियतम कृष्ण के साथ गोलोक में निवास करने वाली कहा। राधा का यही चरम उत्कर्ष है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेम लीला का जो विशद् वर्णन किया है उस पर विष्णु स्वामी और निम्बार्क मतों का प्रभाव प्रत्यक्ष है।"

पदावली में वैष्णव भक्ति-भावना के मत का खण्डन :—

भक्ति में समर्पणशीलता होती है; कदाचित् इसीलिए डॉ० विनयमोहन शर्मा ने प्रपत्ति को 'भक्ति का सर्वोच्च एवं मान्य भाव' माना है। विद्यापति का व्यक्तित्व इस प्रपत्तिभावना से बँचित था; कीर्त्तिलता की निम्नलिखित गर्वोक्ति इसका पुष्ट प्रमाण है :—

"बालचन्द विज्जावइ भाषा,
दुहु नहिं लग्गई दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहइ,
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ।

कोई भक्त कवि 'परमेसर' (शिव) के शीश पर सुशोभित होने वाले बालचन्द्र से अपनी भाषा की मोहकता की तुलना करने की दुश्चेष्टा नहीं कर सकता है। फिर, यहाँ कवि ने अपनी भाषा को 'नाअर मन मोहइ' अर्थात् नागरिकों के मत को मोहने वाली कह कर अनजाने ही अपने काव्य का लौकिक लक्ष्य घोषित कर दिया। जहाँ तक अभिसार के पदों में अलौकिक तत्त्व के अन्वेषण का प्रश्न है, वह तो केवल कल्पना की उड़ान मात्र है। आध्यात्मिक सांकेतिकता के नितान्त अभाव में उद्दाम शृँगार में भक्ति की आरोपण भ्रान्ति का ही प्रसार है। पं० शिवनन्दन ठाकुर ने इस प्रवृत्ति को लक्ष्य करते हुए कहा है, "यदि इस प्रकार सुधार की धारा बही तो मुझे डर है कि अभिज्ञान शाकुन्तलम् आदि शृँगार रस प्रधान ग्रन्थों में भी शकुन्तला को जीवात्मा, और दुष्यन्त को परमात्मा मान कर उसमें भी पति के रूप में ईश्वर की उपासना की कल्पना कर शृँगार रस दुनिया से निकाल ही न दिया जाय।" ठाकुर जी की यह आशंका अपने स्थान पर सही

है। प्रो० विनय कुमार सरकार भी इन शब्दों में विद्यापति के शृंगार-परक पदों का आध्यात्मिक अर्थ लगाने का विरोध करते हैं, "But the earthly element, the physical beauty, pleasure of sense are too many to be ignored." वास्तव में पदावली में लौकिक तत्त्व, शारीरिक सौन्दर्य, ऐन्द्रिक आनन्द की इतनी बहुलता है कि हमें उसकी वैष्णव भक्ति-भावना की उपेक्षा करनी ही पड़ेगी। इस सम्बन्ध में डॉक्टर बाबूराम सक्सेना ने सत्य ही कहा है, "विद्यापति के पदों के अध्ययन से पता लगता है कि वह बड़े शृंगारी कवि थे, इन पदों में उन्होंने हृदय के उन भावों का खूबी के साथ वर्णन किया जिनकी भावना भी साधारण कवि नहीं कर सकते। इन पदों को राधा-कृष्ण की भक्ति पर आरोपित करना पद-पदार्थ के प्रति अन्याय है।"

जहाँ तक विद्यापति के पदों का वैष्णव कीर्त्तन के रूप में गाने का प्रश्न है; सो इस विषय में बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त भ्रम में ही हैं। 'कीर्त्तिलता' के प्रथम विद्वान संपादक महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्री के अनुसार "विद्यापाति से करीब-करीब १०० वर्ष बाद कीर्त्तन की सृष्टि हुई। विद्यापति के पद कीर्त्तन के लिए नहीं बनाए गए थे।" इस प्रकार पद-कीर्त्तन के तर्क का भी उच्छेदन हो जाता है। श्री बाबू गुप्त द्वारा संकलित विद्यापति के कीर्त्तन-सम्बन्धी पदों की संख्या ८४० है। आश्चर्य तो यह है कि इनमें से ३३७ पदों में राधा-कृष्ण का नाम तक नहीं, प्रभु नाम के बिना प्रभु कीर्त्तन यह तो विरोधाभास अलंकार का सुन्दर उदाहरण है। श्री शास्त्री के अनुसार "अवशिष्ट ५०३ पदों में भी अनेक स्थानों पर पद के अन्त में मुरारि या हरि शब्द पाया जाता है। इससे दृढ़तापूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि ये सब राधा-कृष्ण के पद हैं।" इस प्रकार स्वयं बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त का संकलन भी प्रतिशत की दृष्टि तक से वैष्णव भक्ति की बहुलता का संकलन नहीं। रहा श्री चैतन्यदेव के कौमार्य-धारणा का तर्क, सो उसे तो इतिहासज्ञों ने ही समाप्त कर दिया; इतिहास के अनुसार श्री चैतन्यदेव के २३ वर्ष की अवस्था तक ही दो विवाह हो चुके थे। विद्यापति की पदावली को वैष्णव-भक्ति पूर्ण घोषित करने का यह महान तर्क ही जब असत्य हो गया; तो फिर कौन उसकी भक्ति-भावना का विश्वास करेगा।

२ डा० श्यामसुन्दर दास का विद्यापति की पदावली पर विष्णु स्वामी और निम्बार्क के मतों के प्रभाव का निष्कर्ष भी भ्रम-पूर्ण एवं इतिहास विरुद्ध है। विद्यापति के प्रेरक कवि थे जयदेव और जयदेव की मृत्यु ११२० ई० में हुई। रामानुजाचार्य की मृत्यु ११३७ ई० में हुई, विष्णु स्वामी और निम्बार्क रामानुज के पश्चात् के हैं। इस प्रकार जयदेव और विष्णु स्वामी तथा रामानुज के काल में लगभग एक शताब्दी का अन्तर है। अतएव जयदेव पर इन दोनों के मत के प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता, जयदेव के अनुकरणकर्त्ता होने के कारण विद्यापति भी इन दोनों के मतों से अप्रभावित थे, ऐसा मानना ही अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त विष्णु स्वामी और निम्बार्क तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल के हैं और विद्यापति का कार्य-काल १३६० ई० से १४४८ ई० तक है; उस यातायात के साधनों के अभाव के युग में दक्षिण के इन आचार्यों के मत का प्रसार बिहार तक हो सकना असम्भव प्रतीत होता है। इस प्रकार डा० दास का मत युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता।

विद्यापति की पदावली की श्रृंगारपरकता :—

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष है कि पदावली में न तो रहस्य -भावना ही है और न ही भक्ति-भावना। वह तो अपनी वस्तुगतता में श्रृंगारिक रचना है। पदावली में राधा-कृष्ण के जिस प्रेम का परिचित्रण हुआ है वह तो पूर्णतः शारीरिक है। पदावली के कलेवर में अलौकिक प्रेम तो दूर की बात है, मानसिक प्रेम (Platonic love) तक के दर्शन नहीं होते। रूपाकर्षण, रूपावेग एवं रूपोगभोग ही विद्यापति की पदावली की मूल चेतना है। उसमें यौवन की रस-केलियों की मादकतम रूप में अभिव्यक्ति हुई है, युवक-युवती-हृदय के प्रेमान्दोलित प्रति स्पन्दनों को विद्यापति ने अभिनव रूप में अपनी पदावली में चित्रित किया है। तभी तो उसमें कृष्ण का प्रेमावेग रूपावेग होकर रह जाता है और मार्ग में जाती हुई विविध भंगिमाओं से उत्तेजनामयी राधा को देख कर कृष्ण कह उठते हैं :—

पथगति पेखल मो राधा।
तखनुक भाव परान पए पीड़लि,
रहल कुमुद निधि साधा।

कृष्ण की इस साध में कोई आध्यात्मिक व्यञ्जना नहीं, इसमें तो सार्वभौमिक युवा हृदय की साध ही प्रतिबिम्बित हुई है। कदाचित् इसी कारण डॉ० रामकुमार वर्मा ने कहा है, "विद्यापति के इस वाह्य संसार में भजन कहाँ, इस वयः सन्धि में ईश्वर से सन्धि कहाँ, सद्यः स्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ, और अभिसार में भक्ति का सार कहाँ। उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना की साधना नहीं। उससे हृदय मतवाला हो सकता है, शान्त नहीं। हम उन भावों में आत्म विस्मृत हो सकते हैं, पर हममें जागृति नहीं आ सकती।" और जिस काव्य से आत्मा की जागृति न आये उसमें न तो रहस्यवाद हो सकता है और न भक्ति-भाव, क्योंकि यह दोनों तो आत्म-जागृति के शंखनाद हैं। इसके विपरीत विद्यापति की पदावली में तो शृंगार की कंकण किंकिणि की मधुर नुपुर ध्वनि है। कदाचित् इसी कारण डॉ० वर्मा ने विद्यापति की पदावली की वैष्णव भक्तिपरकता का विरोध करते हुए अपने ग्रन्थ "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" में लिखा है, "विद्यापति ने राधा कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है आराध्यदेव के प्रति भक्त का जो पवित्र विचार होना चाहिए वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है। सख्य भाव से जो उपासना की गई है उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति हैं और राधा यौवन की मदिरा में मतवाली नायिका की भाँति हैं। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है।" वस्तुतः वासनामय प्रेम विद्यापति की पदावली का प्रखर सत्य है। इस प्रसंग में तुलसी की यह पंक्ति अनायास ही मन में कौंध जाती है, "जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम" अतएव पदावली में भक्ति खोजना रजनी में सूर्य्य की प्रकाश-राशि को खोजने के सदृश्य ही बेकार का प्रयास होगा। इस विवेचन के अतिरिक्त हम निम्नलिखित कारणों से भी विद्यापति की पदावली को शृंगार रचना मान सकते हैं :—

१. पदावली के अतिरिक्त भी विद्यापति के अन्य किसी ग्रंथ में वैष्णवी भक्ति का प्रतिपादन नहीं हुआ है। उनके शैव-सर्वस्वसार, 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' और 'गंगा-वाक्यावली' आदि ग्रंथों में भी रहस्यभावना और वैष्णव भक्ति के दर्शन नहीं होते। इन ग्रंथों में कृष्ण का उल्लेख तक नहीं है; इसी बात को लक्ष्य कर महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री लिखते हैं "विद्यापति जब पंडित होकर लिखते हैं तब कृष्ण का नाम तक नहीं लेते, किन्तु जब शृंगार में कविता लिखते

हैं तो राधा-कृष्ण की ही अधिकता पाई जाती है, इसका क्या कारण है।" कारण स्पष्ट है कि पदावली का लक्ष्य शृँगार का चित्र-विचित्र चित्रण है। कुछ नचारियों को छोड़ कर अवशिष्ट ग्रन्थों में तो शृंगार और पराक्रम की ही महिमा है। अतः विद्यापति-रचित ग्रन्थ-परम्परा भी पदावली की वैष्णव भक्तिपरकता का समर्थन नहीं करती। इस कारण उनका राधा-कृष्ण का प्रेम केवल शृँगारिक एवं वासनापूर्ण ही सिद्ध होता है।

२. विद्यापति के यौवन सम्बन्धी पद तथा नखशिख-वर्णन तो इतने अश्लील एवं कामोद्दीपक हैं कि हम रूपक और प्रतीकों के आरोपण के पश्चात् भी उसमें भक्ति-तत्त्व को नहीं ढूँढ सकते।

३. विद्यापति एक दरबारी कवि थे, उनके पदों में अपने आश्रयदाता राजाओं के नामों का उल्लेख है। भक्ति सम्बन्धी काव्य में लौकिक पुरुषों का नाम कैसे आ सकता है।

४. हाल-सप्तशती, आर्या सप्तशती, अमरूकशतक, शृँगार-तिलक आदि ग्रन्थ विद्यापति की पदावली के प्रेरक ग्रन्थ हैं। इन्हीं ग्रन्थों के भावों एवं कल्पनाओं को ग्रहण कर विद्यापति ने उन्हें काव्यिल उत्कर्ष प्रदान किया है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा :—

अमरूकशतक :—

तद्वक्त्रापि मुखं मुखं विनमितं दृष्टिः कृपा पादयोः।
तस्यालापकुतूहलाकुलतरे श्रोत्रेनिरुद्धे मया।।
पाणिभ्याञ्च तिरस्कृतः सपुलकः स्वेदोद्गमोद्गण्डयोः।
सख्यः किं करवाणो यान्ति शतधा यत कंचुक सन्धवः।।

पदावली :—

अवनत आनन कए हम रहलए वारल लोचन चोर।
पिया मुख रुचि पिबय धाओल जानि से चाँद चकोर।।
ततऊ सओ हठि मोए आनल धाएल चरन राखि।
मधुक मातल उड़ए न पारए तइअओ पसारए पाँखि।।
माधव बोलल मधुरी बानी से मुनि मुँदुँमोए कान।
ताहि अवसर ठाम वाम भेल धरि धनुष पंचबान।।

तनु पसेवे पसाहनि भासलि तइसन पुलक जागु।
चुनि चुनि भए काँचुअ फाटलि बाहु बलया भांगु।।

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त विद्यापति ने कालिदास, भारवि, श्री हर्ष आदि के शृंगारिक भावों को अपनाया है।

५. विद्यापति के दार्शनिक युग में किसी भी ग्रंथ में पति के रूप में ईश्वर की उपासना का चित्रण नहीं हुआ है।

विद्यापति की शिव-भक्ति और पदावली :—

विद्यापति के सम्प्रदाय के अध्ययन में हम अन्तर्साक्ष्य एवं बहिर्साक्ष्य के आधार पर यह देख चुके हैं कि वे शैवमतानुयायी थे। इसमें सन्देह नहीं कि विद्यापति पर शाक्त-प्रभाव भी था और उन्होंने शक्ति या दुर्गा की स्तुति के पद भी लिखे हैं, लेकिन उनके हृदय की भक्ति-भाविलता की सहज अभिव्यक्ति शिव-सम्बन्धित पदों में ही हुई है। इन पदों में कवि का स्व-दैन्य और प्रभु-महात्म्य दोनों ही तत्त्वों का समावेश हुआ है। भक्ति की सरिता इन्हीं कगारों के मध्य प्रवाहित होती है। विद्यापति अपने आराध्य देव से अपने उद्धार की प्रार्थना दीनतापूर्ण स्वरों में इस प्रकार करते हैं :—

हर जनि बिरसब मो ममिता,
हम नर अधम परम पतिता।।
तुम सम अधम उधार न दोसर,
हम सन जग नहिं पतिता।।

यही नहीं ज़ब वे भवसागर के कष्टों से दंशित होते हैं तब अपने भोलानाथ की ही शरण जाते हैं और कहते हैं कि हे भोलानाथ मेरे दुख को किस क्षण हरोगे। हे देव, मेरा जन्म दुख में हुआ और सारे का सारा जीवन भी दुख में ही व्यतीत हुआ और सुख—प्रत्यक्ष जीवन में तो इसका उपभोग ही असम्भव है। यहाँ तक कि स्वप्न तक में भी यह मुझे प्राप्त नहीं हुआ। मैं तुम्हारी चावल, चन्दन, गंगाजल तथा बेलपत्र से पूजा करता हूँ। नाथ इतनी ही प्रार्थना है कि

यहि भवसागर थाह कतहु नहि,
भैरव धरु कर आए, हे भोला०

हे भोलानाथ तुम ही मेरी गति हो, मुझे सारे भव-क्लेशों से अभय का वरदान प्रदान करो हे मेरे भोलानाथ प्रभु !

यद्यपि भक्ति सम्बन्धी पद पदावली में बहुत कम हैं, किन्तु डॉ० गुणानन्द जुयाल के अनुसार "भक्ति की तन्मयता की दृष्टि से ये पद कम महत्त्व के नहीं हैं। इनमें शाँतरस की निर्मल धारा बहती दिखाई देती है। अपने उपास्य देव की महानता और अपनी दीनता की सच्ची अनुभूति ही अनन्य भक्ति-भाव की परिचायिका है।" और ऊपर हम देख चुके हैं शिव के संदर्भ में यह दोनों ही परिचायक-तत्त्व विद्यापति के कतिपय पदों में पाये जाते हैं।

सगुण भक्ति का मूलाधार है अपने उपास्यदेव की उपासना। विद्यापति ने माधव को सम्बोधित करके भी कतिपय पदों की रचना की है; जिनमें उनका दैन्य भी मुखरित हुआ है लेकिन कहीं भी माधव की उपासना का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ। विद्यापति शैव थे लेकिन साथ ही वे उदार शैव थे। उन्होंने अनेक देवी देवताओं के सम्बन्ध में भी पद लिखे, लेकिन उपासना किसी की भी नहीं की। पदावली में कवि ने स्पष्ट शब्दों में शिव की उपासना का उल्लेख किया है :—

"तोढ़ब कुसुम तोरब बेल पात।
पुजब सदाशिव गौरिक सात॥

यहाँ शिव के साथ 'सदा' विशेषण का प्रयोग भी दृष्टव्य है। इसके अर्थ हैं कि कवि की दृष्टि में सनातन देव शिव ही हैं। इन शिव के साथ उनकी शक्तिरूपा गौरी की उपासना भी कवि को स्वीकार्य है।

भक्ति में भक्त अपने प्रभु के विराट रूप में दर्शन करता है। विद्यापति ने अपनी पदावली में यदि किसी देवता के इस रूप का दर्शन किया है तो केवल शिव का। उन्होंने शिव को औपनिषिदिक अर्धनरनारीश्वर के रूप में चित्रित किया—

जय जय शंकर जय त्रिपुरारि।
जय अध पुरुष जयति अध नारि॥

× × ×

आध चेतन मति आधा भोरा।
आध पटोर आध मुँज डोरा॥
आध जोग आध भोग बिलासा।
आध पिधान आध नग बासा॥

आध चान आध सिंदुर सोभा ।
आध विरूप आध जग लोभा ।।
भने कविरतन विधाता जाने ।
दुइ कए बाँटल एक पराने ।।

शंकर में चेतन और भोरा (अचेतन), जोग और भोग तथा रूप और विरूप की समन्विति स्थापित करना उन्हें विराट पुरुषत्व प्रदान करना है और ऐसी प्रदत्ति एक भक्ति-भाविल हृदय ही कर सकता है ।

विद्यापति ने शिव के प्रति भक्ति-भावना की विभोरता में अपने आराध्य शिव को विष्णु से एकरूप करके भी देखा है—

भल हर भल हरि भल तुअ कला ।
खन पित बसन खनहिं बघछला ।।

× × ×

भन विद्यापति बिपरित बानि ।
ओ नारायण ओ सुलपानि ।।

इस पद की 'भल हर' से प्रारम्भना और 'ओ सुलपानि' से समापना इस बात की द्योतक है कि विद्यापति के चेतन एवं उपचेतन में देवत्व की एकरूपता की प्रक्रिया में शिव की ही सर्वोपरिता रही है। ऐसी सर्वोपरिता की सृष्टि भक्ति-पावन हृदय में ही सम्भव है । अतः निश्चय ही विद्यापति शिव-भक्ति में लीन थे ।

भक्ति में एक विशिष्टिता और होती है, वह यह कि भक्त तन्मय प्रेमी की भाँति अपने आराध्य को उसके पूर्ण संदर्भ में चित्रित करता है—याद करता है । शिव के संदर्भ हैं : शिवारूपिणी दुर्गा और उनके मस्तक की शोभामणि गंगा । यही कारण है कि पदावली के अतिरिक्त विद्यापति ने जहाँ "शैवसर्वस्वसार" की रचना की वहीं उन्होंने शिव की अर्द्धाङ्गिनी दुर्गा के विषय में "दुर्गातरंगिणी' तथा गंगावाक्यावली की भी रचना की । पदावली में भी कवि ने दुर्गा की 'पशुपति भामिनि' के रूप में ही स्तुति की है। और अपने आराध्य शिव की शोभामणि गंगा की स्तुति में तो कवि अत्यन्त भाव-विभोर हो उठा है । वह गंगा को 'शरणागत भय भंगे' के रूप में याद करता

है । शिव की प्रिय गंगा के प्रति अपनी सरल भक्ति-भावना को व्यक्त करते हुए विद्यापति कहते हैं ;—

बड़ सुख पाओल तुअ तीरे ।
छोड़इत निकट नयन बह नीरे ।।
कर जोरि विनमओो विमल तरंगे ।
पुन दरसन होए पुनमति गंगे ।
एक अपराध छेमब मोर जानी ।
परसल माय पाए तुअ पानी ।।
कि करब जप तप जोग धेआने ।
जनम कृतारथ एकहि सनाने ।
भनइ विद्यापति समदओं तोही ।
अन्तकाल जनि बिसरहु मोही ।।

उपर्युक्त पद में शिव-प्रिया होने के कारण ही गंगा को 'माय' कहा है और अन्त काल में ही वह उनकी कृपालुता की ही आकांक्षा करते हैं । इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि विद्यापति की जहाँ तक वैयक्तिक धार्मिक आस्था का प्रश्न है उसका मूल बिन्दु शिव है, उन्होंने इसी देवता के प्रति ही अपने हृदय की आवेगिल भक्ति की सहज एवं अनलंकृत निवेदना की है ।

पदावली एक शुद्ध शृंगारिक रचना है :—

इसमें सन्देह नहीं कि विद्यापति शिवोपासक थे, परन्तु उनका कवि-व्यक्तित्व पूर्णतया शृँगारिक था । उनकी पदावली में पूज्य आचार्य विनयमोहन शर्मा के अनुसार "राधा-कृष्ण के शृङ्गार-पदों की संख्या ४८१, है और शिव-पार्वती की भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले पदों की ४४ है ।" पदावली में शृँगार-पदों की अतिशय बहुलता के कारण ही श्री परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है, "इसमें कुछ ऐसे पद भी आये हैं जो शिव, दुर्गा एवं गंगा की भक्ति से सम्बन्ध रखते हैं और उनमें कुछ बहुत सुन्दर भी हैं । परन्तु 'पदावली' का वास्तविक महत्त्व उसके शृँगार विषयक पदों पर ही निर्भर है और विद्यापति को एक भक्त कवि के रूप में न मान कर उन्हें केवल एक सफल शृँगारी कवि ही कहना अधिक उचित जान पड़ता है ।" वस्तुतः पदावली का प्रमुख विषय ही शृँगार है । शृँगार का बहुपक्षीय, उद्दाम एवं आवेगिल
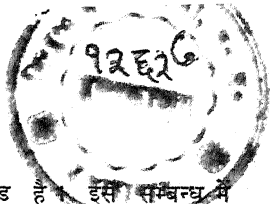
परिचित्रण ही पदावली की महत्ता का मेरुदण्ड है। इस सम्बन्ध में डा० रामकुमार वर्मा का यह मत सत्य का पूर्ण उद्घाटन करता प्रतीत होता है, "विद्यापति की कविता में शृँगार का प्रस्फुटन स्पष्ट रूप से मिलता है। भाव, आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का दिग्दर्शन उनकी पदावली में सुन्दर रीति से मिल सकता है। उनके सामने विश्व के शृंगार में राधा और कृष्ण की ही मूर्तियाँ हैं। स्थायी भाव रति तो पदावली में आदि से अन्त तक है ही। आलम्बन विभाव में नायक कृष्ण और राधिका का मनोहर चित्र खींचा गया है उनके बीच में ईश्वरीय अनुभूतियों की भावना नहीं मिलती। एक ओर नवयुवक चंचल नायक हैं और दूसरी ओर यौवन और सौन्दर्य की सम्पत्ति लिये राधा नायिका।" इस नायक-नायिका की मधुर रति-तरंगों से सम्पूर्ण पदावली तरंगायित है।

प्रश्न ४—"विद्यापति ने अन्तर्जगत का उतना हृदयग्राही वर्णन नहीं किया जितना बहिर्जगत का।" इस कथन की यथार्थता की परीक्षा कीजिये और उनके रूप-चित्रण की प्रमुख विशेषताओं को बताइये।

उत्तर—कविवर विद्यापति शृँगार के रस-शिरोमणि कवि हैं। यद्यपि विद्यापति हिन्दी कविता के प्रथम कवि हैं तथापि यह प्रेम और सौन्दर्य की चित्रणा में अनुपमेय हैं। काव्य के दो पक्ष होते हैं: एक भाव और दूसरा अभिव्यक्ति। इनके काव्य में इन दोनों का ही मणिकांचन संयोग हुआ है। इनका मुख्य वर्ण्य-विषय शृँगार है। शृंगार का आलम्बन प्रेम होता है और उद्दीपन सौन्दर्य। प्रेम वस्तुतः अन्तर्जगत का भावात्मक पावन सौन्दर्य है और सौन्दर्य बाहरी रूप की सुचारु संघटना। विद्यापति दरबार के कवि थे, उनकी मनः संस्कृति पर दरबार के ऐश्वर्यशाली वातावरण का प्रभाव पड़ा था। इस कारण वे अन्तर्जगत की शुद्ध भावमयी, मर्मस्पर्शिनी अनुभूतियों के उपभोक्ता न हो सके। इसके विपरीत वे शृँगार की ऊपरी सतह—सौन्दर्य के पर्यवेक्षण में कुशल होकर रूप के महागायक कवि हुये। श्री शिव प्रसाद सिंह के अनुसार " विद्यापति वस्तुतः सौन्दर्य के कवि

हैं । सौन्दर्य उनका दर्शन है, सौन्दर्य उनकी जीवन-दृष्टि । इस सौन्दर्य को उन्होंने नाना रूपों में देखा था, इसे कुशल मणिकार की तरह उन्होंने चुना, सजाया, सँवारा और आलोकित किया ।" सौन्दर्य मानव-मन को कितना भाव-विह्वल तथा तन्मय कर देता है विद्यापति इससे भली भाँति अवगत थे । यही कारण है कि उनका नख-शिख वर्णन केवल बाहरी रूप-संघटना मात्र ही नहीं है, वरन् वह सौन्दर्य अथवा सौन्दर्य अतिशयता से आवेष्टित है । इसीलिए जब वे राधा कृष्ण के रूप का वर्णन करते हैं तो सचेष्ट रूप से इतना कहना नहीं भूलते कि इस 'अपरूप' ने सम्पूर्ण त्रिभुवन को विजित कर लिया है' :—

> सुधामुखि के बिहि निरमल बाला ।
> अपरुब रूप मनोभव मंगल त्रिभुवन विजयी माला ।।

चूँकि विद्यापति दरबारी कवि थे, इसीलिए 'अपरुब' का वे उल्लेख भर कर सके हैं, उसको विराट आन्तरिक स्पर्श प्रदान न कर सके । उपर्युक्त पद में ही वे 'सुधामुखि निरमल बाला का त्रिभुवन विजयी 'अपरुबरूप' का उल्लेख ही कर सके और अगले चरणों में अपरूप के प्रभाव की व्यंजना न कर सके वरन् वे 'काजर रंजित भेला' आदि कवि प्रसिद्धियों के चक्कर में पड़ गये । वास्तव में विद्यापति बर्हिमुखी (introvert) व्यक्तित्व थे, दरबारी वातावरण में अन्तर्मुखी (extrovert) व्यक्तित्व का विकास असम्भव है । कदाचित् इसीकारण डा० रामकुमार वर्मा ने कहा है, कि "विद्यापति ने अन्तर्जगत का उतना हृदयग्राही वर्णन नहीं किया जितना बहिर्जगत का ।" कारण विद्यापति ने अपने लगभग बीस पदों में 'अपरूप सौन्दर्य के माया-संकुल प्रभाव की निगूढ़ व्यंजना' करने का प्रयास अवश्य किया है । लेकिन दरबारी व्यक्तित्व होने के कारण वे इस प्रयास को विकसित न कर पाये और न ही वे अन्तर्जगत का बहिर्जगत की तुलना में हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी वर्णन करने की सामर्थ्य ही अर्जित कर सके ।

शृंगार के क्षेत्र में अन्तर्जगत का प्रचुर विकास विरह के अन्तर्गत होता है । विरह में प्रेम का अन्तरोन्मुखी विकास होता है । विद्यापति के काव्य में विरह-तत्त्व का इतना विशद् निरूपण नहीं हुआ है जितना कि मिलन-तत्त्व का । विद्यापति के गीत उच्छ्वासों की लय पर सृष्ट नहीं, और उच्छ्वासों के गीत ही अन्तर्जगतीय

सौन्दर्य के निरूपण में समर्थ होते हैं। यह कवि तो लार्ड बाइरन के 'the days of youth are the days of glory' अर्थात् यौवन के दिन ही गौरव के दिन हैं" का विश्वासी रहा है। इस विश्वास के कारण नायक-नायिका के मिलन को विविध रूपों में चित्रित करना ही विद्यापति का मुख्य लक्ष्य रहा है। अपने इस लक्ष्य की अभिपूर्ति भी उन्होंने बाहरी रूप-रेखाओं की भूमि पर ही की है। दरबारी व्यक्तित्व की बहिर्मुखिता के कारण विद्यापति शृंगार के मिलन पक्ष में भी नायक नायिका के आन्तरिक भाविल उल्लास की चित्रणा न कर पाये। वह तो नायिका के शरीर-दर्शन से व्युत्पन्न नायक की केवल रूपाकुल उत्तेजना का ही चित्रण कर सके हैं। पवन के स्पर्श से नायिका का अंचल कुछ हट जाता है और उसकी स्निग्ध कान्तियुक्त देह-यष्टि प्रतिभासित होने लगती है तो इसका नायक के मन पर कोई आन्तरिक प्रभाव नहीं पड़ता वरन् वह तो

ससन परस खसु अम्बर रे,
देखल धनि-देह।
नव जलधर-तर संचर रे,
जनि बिजुरी-रेह॥

की ही अनुभूति मात्र करता है। मुड़कर देखकर जाती हुई नायिका की भंगिमा का भी भाव-जगत को स्पर्शित करने वाला कोई प्रभाव नायक के मन पर विद्यापति अंकित न कर सके और वे तो केवल रूपोत्तेजना भर का ही चित्रण कर सके हैं :—

गेलि कामिनि गजहु गामिनी बिहँसि पलटि निहारि।
इन्द्रजालक कुसुम-सायक कुहकि भेलि बरनारि॥

नारी का प्रेमावेग अन्तर्जगत की अनेकानेक प्रतिच्छवियों से आलोकित होता है। विद्यापति कदाचित् इस आलोक के दर्शन न कर पाये। यही कारण है कि वे राधा के प्रेमावेग को रूपावेग के रूप में ही प्रतिबिम्बित कर सके। प्रिय को देखकर प्रेमिका के हृदय में जिस प्रकार की मधु मादक आनन्द की तरंगें तरंगायित होती हैं उस प्रकार की तरंगें कृष्ण को देखकर विद्यापति की राधा में तरंगायित नहीं होतीं, वरन् वह तो कृष्ण को देखकर अपनी सखी से उनके रूप का

एक 'कमेन्ट्रेटर' के रूप में वर्णन भर ही करती है :—

ए सखि पेखलि एक अपरूप ।
सुनइत मानबि सपन सरूप ॥
कमल जुगल पर चाँद क माला ।
तापर उपजल तरुन तमाला ॥
तापर बेढ़लि विजुरी-लता ।
कालिंदी तट धीरे चलि जाता ॥

इसमें सन्देह नहीं कि "विद्यापति ने प्रेम सम्बन्धी रहस्यों की तह तक पहुँचकर उसका वास्ताविक स्वरूप दर्शाने का उद्योग किया है और वह भी ऐसे अच्छे ढंग के साथ कि उनके रचना-चातुर्य के कारण, सहृदय पाठक उनके भावों को बहुत शीघ्र हृदयंगम कर सकते हैं।" लेकिन इसके साथ ही वे प्रेम के शुद्ध आन्तरिक अनुभूति का प्रतिच्छवन न कर पाये, उनकी प्रेम की दृष्टि अधिकाँशतया रूप की चमत्कारिल कल्पनामयी उत्तेजना तक ही सीमित रही। उनकी प्रेमिका प्रिय-दर्शन-जनित मधु उल्लास को व्यक्त करने के स्थान पर केवल अपने अनुभावों की नाटकीयता की ही इस प्रकार अभिव्यक्ति करती है :—

अवनत आनन कए हम रहलिहुँ,
वारल लोचन चोर।
पिया-मुख-रुचि पिबए धाओल,
जनिसें चाँद चकोर।
ततहुँ सँय हठ हठि मो आनल,
धाएल चरनन राखि।
मधुप मातल उड़ए न पारए,
तइअओ पसारए पाँखि।

(मैं तो अपने आनन को नीचा कर अपने नेत्रों को रोकती रही लेकिन (क्या करूँ सखि) ये (लाख बार बरजने पर भी) प्रियतम की मुखकांति का पाने करने के लिए, चकोर की भाँति (लालच में ही) दौड़ पड़े। मैंने एक बार फिर इन्हें हठ पूर्वक रोक कर अपने चरणों की ओर स्थिर किया, लेकिन ये कहाँ माने, यह बार-बार रह-रह कर प्रिय-मुख की ओर प्रधावित होने का प्रयास

करते थे। मधुप मधु-पान के लिए मतवाला हो जाने पर यदि उड़ नहीं सकता तो कम से कम, अपने पंख तो फैला ही देता है। यही दशा मेरे नेत्रों की हो रही थी। यदि विद्यापति अन्तर्जगत के चितेरे कवि होते तो निश्चय ही वे इस 'दर्शन' से उत्पन्न आन्तरिक भाव को अभिव्यक्ति देते। प्रसाद जी के मनु श्रद्धा की रूप-राशि को देखकर स्पर्श के आकर्षण से प्रेरित हो सोचने लगते हैं—

> नित्य-यौवन-छवि से ही दीप्त
> विश्व की करुण-कामना मूर्ति;
> स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
> प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।

निश्चय ही प्रसाद के मनु का उपर्युक्त श्रद्धा-दर्शन-जनित आकर्षण विद्यापति की नायिका को आकर्षणाभिनय की अपेक्षा अधिक आन्तरिक है। यहाँ तक कि विद्यापति प्रेम जैसे शुद्ध सूक्ष्म भाव का निरूपण भी बाह्य उपादानों के माध्यम से ही करते हैं। नायिका प्रेम के प्रियोन्मुखी प्रवाह को जल के निम्नोन्मुखी प्रवाह-सा बतलाती हुई कहती है :—

> जकर हिरदय जतहि रातल,
> से धसि ततही जाए।
> जइओ जतने बाँधि निरोधिअ,
> निमन नीर थिराए॥

अर्थात् जिसका हृदय जिस ओर अनुरक्त है वह उसी ओर प्रधावित होगा। जल को कितना ही बाँधकर रक्खा जाय वह किसी नीची जमीन तक पहुँच कर ही स्थिर होगा। इसके विपरीत अन्तर्जगत का चित्रक कवि प्रीति के आकर्षण में विगत अतीत की स्मृतियों का उल्लेख करेगा जैसी कि कवि 'पराग' ने प्रीति की परिभाषा में इस प्रकार किया है :—

> प्रीति निराशा की नगरी की
> उजड़ी-सी छवि कान्ति।
> अपने मधु अतीत पर
> मिटने वाली ममता-भ्रान्ति॥

विद्यापति ने संयोग का वर्णन ही प्रचुरता से किया है। श्री राजनाथ शर्मा के अनुसार 'विद्यापति का संयोग वर्णन भी अधिक स्थूल और अधिक लौकिक है।' डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त भी विद्यापति के काव्य में 'रूप चित्रण के तत्त्व' की प्रधानता का उल्लेख करते हैं। अन्तर्जगत की अनुभूतिपरकता के स्थान पर विद्यापति ने शृंगार के संयोग-पक्ष में नखशिख-वर्णन, अभिसार, दूती-कार्य, संकेत, सद्यः स्नाता, वयः सन्धि आदि की स्थूलता का वर्णन अधिक किया है। डॉ० गुणानन्द जुआल के अनुसार "संयोग-पक्ष में कवि को बाह्य सौंदर्य वर्णन करने का ही अवसर अधिक प्राप्त होता है क्योंकि संयोग-पक्ष में सान्निध्य होता है अतएव नायक-नायिका के मन को अधिक दौड़ नहीं लगानी पड़ती।" ठीक है कि संयोग में मन को अधिक दौड़ नहीं लगानी पड़ती परन्तु उसको आननद की गहरी डुबकी तो अवश्य ही लगानी पड़ती है, इसके साथ ही प्रिय-सम्पर्क-जनित कितनी ही मधु भँगिमाएँ, प्राणों के महारास की कितनी ही ज्योतिर्छवियाँ मन में रिंध बिंध जाती हैं। विद्यापति न तो युवा-युवती हृदय की गहरी डुबकी को ही स्वरलिपि दे पाये और न ही ज्योतिर्छवियों को ही अंकित कर पाये। कदाचित् उन्होंने अपनी कल्पना-चारुता एवं चमत्कार-प्रवृत्ति के कारण इसकी अधिक आवश्यकता ही न समझी।

संयोग के अतिरिक्त विद्यापति ने विरह का परिचित्रण भी किया है। इनके काव्य में कतिपय स्थलों को छोड़कर विरह भावावेग की अपेक्षा रूपावेग से आपूरित है। इसमें सन्देह नहीं कि विद्यापति ने विरह का भाव-विदग्ध वर्णन भी किया है, लेकिन इसकी मात्रा कम है। साथ ही इस कोटि के वर्णनों में भी वे अपने व्यक्तित्व की बहिर्मुखिता के कारण विरह की अन्तसंघर्षात्मक समर्पणाकुलता का चित्रण न कर पाये। उदाहरण के लिए हम नीचे का गीत प्रस्तुत कर सकते हैं :—

लोचन धाए फेधायल
हरि नहिं आयल रे
सिव सिव जिवओ न जाए
आस अरुझायल रे
मन करे उड़ि जाइअ
जहाँ हरि आइअ रे

प्रेम परसमनि जानि
आनि उर लाइम्र रे

इस गीत में प्रिय को 'प्रेम परसमनि' कहना निश्चय ही श्रेष्ठ-भावानुभूति है, लेकिन इस अनुभूति की रक्षा विद्यापति अगली पंक्ति में नहीं कर पाये और वे 'आनि उर लाइअ रे' के बहिर्जगत में उतर आये। अन्तर्मुखिता से उद्वेलित कवि इस 'पारसमनि' की अनुभूति को 'पराग' की भाँति अन्तसंघर्षीय रूप में इस प्रकार चित्रित कर सकता है :—

सुना प्रणय-पारसमणि तुम हो
मैं लेती उच्छ्वास।
अखिल सृष्टि में मात्र अकिंचन
मुझसे ही परिहास ॥

विद्यापति ने प्राणों को करुणा की झंकृति से आहत-व्याहत करने वाली विरह की अनेक मर्मानुभूतियों को अछूता ही छोड़ दिया है। उनकी दृष्टि तो अधिकतर 'सपनेहु संगम पाओल रंग बढ़ाओल रे' तक ही सीमित रही है। इसके अतिरिक्त वे रीतिकाल के कवियों की भाँति विरह उपचारों के वर्णन तक ही सीमित रहे हैं। इन वर्णनों में भी वे केवल ऊपरी सतह तक ही पहुँच पाये हैं। उदाहरण के लिए यह पंक्तियाँ पर्याप्त हैं :—

चानन भेल विषम सर रे,
भूषन भेल भारी।
× × ×
एकसरि ठाढ़ि कदम-तर रे,
पथ हेरथि मुरारी।
हरि बिनु हृदय दगध भेल रे
झामर भेल सारी ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति के वर्णन अन्तर्जगत की अनुभूतिमयता के स्थान पर बहिर्जगत की चित्रणा से आपूरित हैं, लेकिन यह बहिर्जगत की रूप-चित्रणा विद्यापति के काव्य में अपने अभिनव मौलिक रूप में स्वर-बद्ध हुई है। विद्यापति का रूप-चित्रण अपने पूर्ववर्त्ती एवं परवर्त्ती कवियों के रूप-चित्रण की अपेक्षा अधिक उदात्त तथा चारु है।

रूप-चित्रण की विशेषताएं :—

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने विद्यापति की रचनाओं में 'कल्पना की ऊँची उड़ान के साथ-साथ सूक्ष्म निरीक्षण' के तत्त्व को पाया है। वास्तव में कल्पना की चारुता एवं सूक्ष्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति ही विद्यापति की पदावली के रूप-चित्रण की प्रमुख विशिष्टिताएं हैं। कल्पना की कालिदासीय भव्यता ने पदावली के रूप-चित्रण में मौलिकता की सृष्टि की है। डॉ० गुणानन्द जुआल के अनुसार "विद्यापति के नखशिख वर्णन में यद्यपि उपमान तो प्रायः कवि-समय-सिद्ध ही हैं किन्तु उनके वर्णन करने का ढंग सर्वथा मौलिक है। इस मौलिकता के प्रमाण स्वरूप उन्होंने "विद्यापति का अमर काव्य" की भूमिका में निम्न पद उद्धृत किया है।

"कि आरे नव जौवन अभिरामा।
जत देखल तत कहए न पारिअ छओो अनुपम एक ठामा॥
हरिन इन्दु अरविन्दु करिनि हेम पिक बूसल अनुमानी।
नयन बदन परिमलगति तन-रुचि अओो अति सुललितवानी॥
कुच जुम परसि चिकुर फुजि परसल ता अरुझायल हारा।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल चाँद विहुन सब तारा॥

वस्तुतः विद्यापति ने इस पद में कवि-समय-सिद्ध उपमानों का नवीकरण करके ही नायिका के सौन्दर्य को निरूपित किया है। विद्यापति ने रूढ़ उपमानों का प्रयोग तो किया है किन्तु उनके साथ ही उनका रूप-वर्णन उनकी अपनी कल्पना-चारु उद्भावनाओं से सुलसित है।

विद्यापति ने सौन्दर्य के सूक्ष्म पक्षों को स्पष्ट करने के लिए नये दृश्य-विधानों और अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है। यद्यपि यह प्रयोग सर्वथा नूतन सृष्टि तो नहीं तथापि कल्पना और अलंकरण की नयी संयोजना-युक्त मौलिकता से शोभित हैं। उदाहरण के लिए आँखों की उपमा भ्रमर से दी जाती रही है और मुख की कमल से किन्तु विद्यापति ने इन दोनों ही उपमानों से एक सर्वथा नई उपमा की सृष्टि कर डाली। उन्होंने सुन्दर मुख और सुन्दर आँख का इस रूप में वर्णन किया है :—

सहजहिं आनन सुन्दर रे
भोंह सुरेखलि आँखि

'सहज' में जहाँ आनन के निसर्ग-सिद्ध सौन्दर्य को अभिव्यक्ति मिली है वहीं 'सुरेखलि आँखि' से आँख की सुष्ठुता भी उभर आई है। लेकिन विद्यापति को इतने मात्र से सन्तोष नहीं हुआ और है भी सही, भ्रमर कह देने मात्र से ही चँचल वरौनियों वाली यौवन-चपल आँखों की प्रतिमा चित्रित कैसे की जा सकती है? इसीलिए विद्यापति की कल्पना ने एक नितान्त मौलिक उपमा प्रस्तुत की—

पंकज मधुपिव मधुकर रे,
ओड़ए पसारिल पाँखि।

'पाँखि' में यौवन-चपल भ्रू भंगिमा की आहतकारिणी अभिव्यक्ति हुई है। विद्यापति ऐसे रूप की प्रबल आमँत्रण शक्ति की व्यञ्जना भी हल्के ढंग से किन्तु प्रखर व्यञ्जना के साथ इस प्रकार करते हैं:—

ततहि धाओल दुहू लोचन रे,
जतहि गेल वर नारि।
आसा लुबुध न तेजए रे,
कृपनक पाछु भिखारि।

इन पंक्तियों में जहाँ रूप के प्रति नायक की प्रबल आकर्षणा की व्यञ्जना हुई है वहीं नायिका के शील-सौन्दर्य को भी स्वरलिपि मिली है।

विद्यापति ने नखशिख-वर्णन अथवा रूप-वर्णन में परम्परित अथवा रूढ़ उपमाओं का प्रयोग किया है। परन्तु विद्यापति के रूप वर्णनों का समुचित अध्ययन करने पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे इन उपमाओं से सन्तुष्ट नहीं, इनके प्रति उनकी कोई आसक्ति नहीं। इसीलिए वे सौन्दर्य को भास्वर करने के लिए नये कल्पना-पथ के यात्री बने और उन्होंने वर्ण्य-सौन्दर्य की अद्वितीय सम्पूर्णता को चित्रित करनेके लिये प्राकृतिक उपकरणों तक को विलज्जित कर दिया। इस विषय में उनका यह पद द्रष्टव्य है:—

तोहर वदन सम चाँद होअथि तहि
जइयो जतन विहि देल
कए वेरि काटि बनाओल नव कय
तइयो तुलित नहि भेल

लोचन तूल कमल नहिं भय सक
से जग के नहिं जाने
से फेरि जाय लुकायल जल भए
पंकज निज अपमाने

इसके अतिरिक्त वे सौन्दर्य की भूमि पर नायिका की सम्पूर्ण शरीर-राशि को प्रकृति के उपमानों से कहीं महत्तर मानते हुए अपने एक प्रसिद्ध पद में इस प्रकार कहते हैं :—

कबरी भय चामरिगिरि कंदर,
मुख-भय चाँद अकासे।
हरिन नयन भय, सर भय कोकिल
गति भय गज बनबासे।।
सुन्दरि, किए मोहि संभासि न जासि।

ऐसी प्रकृति-श्रेष्ठ परम सुन्दरी से सम्भाषण भी किस प्रकार किया जा सकता है। यही नहीं उनकी नायिका के उरोजों के सौष्ठव से लज्जित होकर 'कमल कोरक' जल में 'मुँदि' रहती हैं और घट (आत्मग्लानि के के कारण) 'हुतास' में 'परवेश' कर जाते हैं, 'दाड़िम श्रीफल गगन बासु' करते हैं तथा संभु भी गरल पान कर लेते हैं (निश्चय ही ऐसे उरोजों की महिमा अकथनीय है) और भुजाओं की स्निग्ध सुष्ठता से लज्जित होकर 'मृनाल' 'पंक' में नुका जाती हैं और हथेलियों की प्रतनु रक्तिम स्निग्धता से लजाकर 'किसलय' काँपने लगते हैं। तात्पर्य यह है कि विद्यापति की इस नायिका का सौन्दर्य इन उपमानों से कहीं महत्तर है। विद्यापति ने प्रकृति-सुन्दरी से अपनी काव्य-सुन्दरी को कहीं अधिक व्यामोहक सौन्दर्य-राशि से सुशोभित किया है।

विद्यापति प्राचीन साहित्य के मर्मज्ञ थे। उनका काव्य-शास्त्रीय-अध्ययन अत्यन्त सुविस्तृत था। यही कारण है कि उन्होंने नख-शिख वर्णन में प्रचुर मात्रा में कवि-प्रसिद्धियों और कवि प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अप्रस्तुतों का उपयोग किया है। लेकिन जैसा कि हम देख चुके हैं कि विद्यापति ने इन उपमानों को भी अपनी मौलिक प्रतिभा से नयी व्यञ्जना प्रदान की है। श्री शिवसिंह ठाकुर के अनुसार "उन्होंने दृश्य के रूप, गुण और वर्ण तीनों ही दृष्टियों से अप्रस्तुतों के निर्वाचन में अपनी सहज प्रतिभा का परिचय दिया है। विद्यापति ने शरीर के वर्णन के लिए प्राचीन काव्य तथा काव्य-शास्त्र में वर्णित विभिन्न उपमानों

का आश्रय ग्रहण किया है। वे कभी 'मेघ मालि सें तड़ितलता जनि' कहकर शरीर की काँति एवं कमनीयता का वर्णन करते हैं और कभी 'जनि बिजुरी रेह' कहकर उसकी यौवन छवि की चपलता को अंकित कर देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि विद्यापति ने पुराने ही उपमानों का प्रयोग प्रचुरता से किया है। उन्होंने कहीं कहीं अपनी मौलिक कल्पना के स्पर्श द्वारा अलौकिक चमत्कार उत्पन्न किए हैं। ऐसा ही चमत्कार पूर्ण स्थल है विद्यापति-वर्णित सद्य: स्नाता का वर्णन, यह वर्णन काव्यिल सौन्दर्य की दृष्टि से विश्व-साहित्य में अप्रतिम है। उन्होंने सद्य: स्नाता को देखा और देखने मात्र से उनका हृदय काम के पंच वाणों से आहत हो गया। कवि ने इस आर्द्र सौन्दर्य को देखा, उसके बालों से गिरती हुई जल-धारा को देखा और इस परिवेक्षण में उसने अपनी प्रातिभिक कल्पना की भूमि पर प्रकाश-राशि की विजय की अनुभूति की और वह गा उठा :—

चिकुर गरए जलधारा।
जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा॥

यही नहीं वे वक्षस्थल पर चिपटे हुए भीगे वस्त्र को देखकर अत्यन्त भावमयी विदग्ध कल्पना कर बैठते हैं। यह कल्पना क्या है? मानो युवा हृदय की नारी सौन्दर्य के वक्ष-प्रदेश पर केन्द्रित अनेकानेक रूप-लोभ-लिप्सु अभिलाषाओं की अभिव्यक्ति है। कदाचित् वस्त्र भी पुरुष की भाँति ही ममता-भरे हृदय को लेकर वक्ष-प्रदेश में सो जाना चाहता है और इस आशंका से कि मैं संसार के इस मधुरतम स्थान से बँचित्त कर दिया जाऊंगा वह अश्रु-निर्भरण कर रहा है :—

ओ नुकि करतहि चाहि किए देहा।
अबहि छोड़ब मोहि तेजब नेहा॥
ऐसन रस नहि पाओब आरा।
इथे लागि रोए गरए जलधारा॥

विद्यापति की सद्य: स्नाता का सौन्दर्य जड़-चेतन सब में ही आकर्षण को उत्पन्न करने वाला है। वह सौन्दर्य अपनी रस-चेतना में अत्यन्त प्रभावशाली है, तभी तो उस नायिका के रूप को निहार कर वे 'वसन लागल भाव रूप निहारि' कह उठते हैं।

विद्यापति की पदावली में वर्णित नख-शिख वर्णन में प्रयुक्त

कुछ उपमेय और उपमानों की तालिका इस प्रकार है :—

उपमेय	उपमान
१. आँख	भ्रमर, कमल-पत्र, मत्स्य, मृग-नेत्र, मेघ, खंजन, चकोर, यमुना-तरंग
२. केश	शैवाल, मेघ, अन्धकार, मयूरपक्ष यमुना-तरंग, भ्रमर-श्रेणी, चामर, धूप, नील मणि, आकाश, नील-कमल ।
३, अधर	विम्बाफल, प्रवाल, बंधूक पुष्प, पल्लव। (विद्यापति ने अधरों के सम्बन्ध विशेष रुचि नहीं दिखाई)
४. शरीर	कनकलता, दीप-शिखा, चन्द्र कला, विद्युत्लता आदि ।
५. कुच	कमल, कमल-कोरक, विल्व, सुमेरु, कनक-संभु, चकेवा, कनक कटोरा, कनक बेल, कुम्भ, वेर, नारंगी, बीजपुर, श्रीफल आदि ।

विद्यापति ने रूप के वर्णन में सर्वाधिक रुचि उरोजों में दिखाई है। इनके वर्णन में विद्यापति अप्रतिम हैं। श्री शिव प्रसाद सिंह के अनुसार 'यह उनके नखशिख वर्णन का सबसे आकर्षक और सबसे अधिक निर्बल पक्ष है।' अपनी इन्द्रधनुषी कल्पना से कुचों के सौन्दर्य को कवि ने पदावली में अत्यन्त मोहक रूप में चित्रित किया है। उन्होंने कुचों के विकास के अनुसार अपनी उपमाएँ संजोयी हैं। कुचों की विकास-सूचक स्थितियों को विद्यापति ने इस प्रकार उपमित किया है :—

पहिल बदर कुच पुन नवरंग
दिन दिन बाढ़ए पिड़ए अनग
से पुन भये गेल बीजक पोर
अब कुछ बाढ़ल सिरफल जोर

उरोजों की कितनी ही मोहक छवियों को विद्यापति ने अंकित किया है। एक नायिका आधे अंचल से अपना वक्ष ढाँप लेती है और फिर अधखुले पयोधरों की तरफ देखती है, लेकिन नायिका के इस प्रकार के

देखने में विद्यापति क्या देखते हैं ? विद्यापति देखते हैं :—

पौन पराभव सरद घन जनि
वेकत कएल सुमेरु।

व्यक्त कुच ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे [नायिका के उच्छ्वासों के] पवन ने अंचल रूपी श्वेत घन को बिखरा कर सुमेरु पर्वत को व्यक्त कर दिया हो। इस प्रकार के उरोजों से सम्बन्धित कितने ही चित्र पदावली में यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे हुए हैं।

विद्यापति ने कटि-प्रदेश का भी मोहक रूप में वर्णन किया है। रोमावलि के निम्न वर्णन में तो इनकी कल्पना ने जादू-सी सृष्टि कर डाली है :—

नाभि बिवर सय लोम लतावलि
भुजगि निसास - पियासा।
नासा खगपति - चंचु भरम-भय
कुच - गिरि संधि निवासा॥

अर्थात् नायिका की गहरी नाभि के ऊपर जो हल्की-सी रोम-लता निकली है, वह ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई सर्पिणी हो जो अपने नाभि-विवर से निकल कर नायिका की (यौवन-सुगन्धित) निश्वासों को पीने की इच्छा से ऊपर की ओर चली ही थी, कि उसे नायिका की नुकीली नाक में गरुड़ का भ्रम हो गया, और वह भय के मारे उरोज रूपी पर्वतों के सन्धि-स्थान में छिप गई। विद्यापति की यह रूपक-नगरी कितनी मायाविनी है। इस माया की छलना के कारण ही सहृदय पाठक विद्यापति की कल्पना पर अपना सर्वस्व बार देते हैं।

उपर्युक्त रूप-वर्णन के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति ने रूढ़ उपमानों का प्रयोग करते हुए भी अपनी आभिजात्य रुचि का परिचय दिया है। यही कारण है कि उनके काव्य में रीतिकालीन कवियों-सी ऊहात्मकता कम पायी जाती है।

विद्यापति का रूप-वर्णन काव्य, चित्र और संगीत का त्रिवेणी-संगम है। जिसके कारण उसमें रस, नाटय और लय का अनुपम सौन्दर्य प्रतिच्छायित होता है। विद्यापति ने अपनी अभिनव उपमाओं के द्वारा वर्णित सौन्दर्य को शाश्वत् कान्ति प्रदान की है। विद्यापति के इसी गुण पर रीझ कर बंग-विद्वान श्री दिनेश चन्द्र सेन

अपने ग्रंथ 'बंग-भाषा और साहित्य, में कहते हैं कि "भारतवर्ष में उपमा का यश केवल कालिदास को प्राप्त है। यदि किसी द्वितीय व्यक्ति का नाम लेना हो तो किसी को विद्यापति के नाम पर आपत्ति नहीं होगी।" वास्तव में विद्यापति ने उपमाओं के इन्द्रधनुषी रंगों से अपने काव्य के रूप-वर्णन को अक्षय ताज़गी प्रदान की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि विद्यापति ने अन्तर्जगत का अधिक मार्मिक उद्घाटन नहीं किया है तथापि उन्होंने बहिर्जगत की सम्पूर्ण सौन्दर्य-राशि से अपने काव्य के रूप-चित्रण को सुसज्जित किया है।

प्रश्न : ५ विद्यापति के द्वारा चित्रित श्रृंगार रस की विशेषताओं का उद्घाटन कीजिए।

उत्तर :—

विद्यापति का काव्य श्रृंगार का ऐसा लोक है जिसमें सदा-सर्वदा यौवन, माधुर्य्य एवं उद्दाम उल्लास का चिरकालिक उत्सव होता रहता है। यह कवि श्रृंगार का रस-सिद्ध कवि है। श्रृंगार के नित नूतन रूप की मादकतम अभिव्यक्ति पदावली में हुई है। श्रृंगार रस का कोई कोना विद्यापति की दृष्टि से अछूता नहीं रहा। कदाचित् इसी कारण डॉ० गुलाब राय ने कहा है, "संयोग और वियोग की जितनी परिस्थितियाँ हो सकती हैं और उन परिस्थितियों में प्रेम-विभोर युवक-युवतियों के हृदयों में जितने प्रकार के भाव उठ सकते हैं उन सब का विद्यापति जैसा संश्लिष्ट वर्णन हिन्दी के किसी अन्य कवि ने नहीं किया है।" विद्यापति का काव्य किसी दार्शनिक प्रपत्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं था, वरन् वह तो नयनाभिराम ऐन्द्रिक सौन्दर्य की ऐसी सृष्टि है जिसमें संसार के पीड़ा-ज्वर से पीड़ित व्यक्ति के लिये प्राणों को सुशीतल करने वाला प्रेम का कलछलमय निर्झर उपलब्ध होता है। जिसके तट पर तन, मन और प्राण सब ही परम विलासमयी आनन्दानुभूति करते हैं। विद्यापति ने श्रृंगार के निरूपण में राधा-कृष्ण के सयोग-वियोग पक्षों का विशद् चित्रण किया है। विद्यापति की कल्पना ने वियोग की अपेक्षा संयोग का चित्रण अत्यन्त चारुता से

किया है। दरबारी वातावरण में विरह की प्रखर अनुभूति की सम्भावनाएं भी कैसे हो सकती हैं। आचार्य विनयमोहन शर्मा के अनुसार 'विद्यापति ने मिलन शृंगार में अधिक रस अनुभव किया है। उनके विरह शृंगार में अधिक तन्मयता नहीं है। यह एक आश्चर्य में डालने वाली बात प्रतीत होती है। यद्यपि शृँगार विप्रलभ के योग से ही रस बनता है (यह आचार्यों की सामान्य मान्यता है) तो भी विद्यापति का शृंगार रस बनने के लिये विप्रलंभ की अपेक्षा नहीं रखता।' तात्पर्य यह है कि विद्यापति का संयोग-वर्णन अपने आप में पूर्ण एवं स्वायत्त है।

संयोग शृंगार :—

संयोग-शृंगार के अन्तर्गत आलंबन का रूप, उसकी चेष्टाएँ, और आश्रय की मधुमयी मिलन-क्रीड़ाएँ तथा प्रकृति के उद्दीपक रूप का सन्निवेश होता है। पदावली में इन सबका ही सजीव और यथार्थपरक वर्णन हुआ है। विद्यापति के संयोग-सौन्दर्य वर्णनों में हमारी इन्द्रियाँ रंग, गन्ध और संगीत का प्रत्यक्षीकरण करती हैं। यह प्रत्यक्षीकरण आत्मा को अमित आह्लादान से आपूरित कर देता है।

आलम्बन के रूप का वर्णन:—शृंगार रस के आलम्बन नायक और नायिका दोनों ही हो सकते हैं। विद्यापति का प्रेम-वर्णन उभय पक्षी है। यही कारण है कि पदावली में विद्यापति ने शृंगार को उत्कर्ष देने के लिए नायक और नायिका दोनों के ही सौंदर्य का अत्यन्त आमँत्रक रूप में वर्णन किया है। कवि इस बात से भली भाँति परिचित है कि नायिका की कौन सी अवस्था युवा हृदय को उन्मथित कर देती है। कदाचित् इसीलिए उसने नायिका की वयः सन्धि के चपल तरल अबोध सौन्दर्य को शृंगार रस का आलम्बन बनाया। विद्यापति की यह मौलिक सूझ है। पदावली के काव्य-मंच पर राधिका 'यौवन के आकस्मिक आगमन पर कुतूहल चकित होकर अपने अंगों का उभार' देखती हुई आती है। वह शैशव-यौवन के संगम में अज्ञात यौवना-सी कभी अपने उरोजों को लोल लोचनों से देखती है, कभी अपने ही पयोधरों को हेरि कर मुस्करा देती है। जिन्दगी के इस चौराहे पर उसकी बालापन की अल्हड़ता और उसकी सहज चपल चेष्टाओं में भी भिन्नता इस प्रकार आ गई :—

प्रकट हास अब गोपित भेल।
चरण प्रकट फिर उन्हके नेल।।
× × ×
चरन चपल गति लोचन पाव।
लोचन क धैरज पदतल जाव।।
नव कविसेखर कि कहइत पार।
भिन भिन राज भिन्न व्यवहार।।

यौवन की देहरी पर कदम रखते ही शरीर के अंगों और मानसिक स्थितियों में जो परिवर्तन हो जाते हैं कवि ने उनकी सजीव वर्णना इस पद में की है। यों तो अन्य संस्कृत और हिन्दी के कवियों ने वयः सन्धि के वर्णनों में पर्याप्त रुचि दिखलाई है, किन्तु विद्यापति की सरस जीवन्तता अद्वितीय है। काव्य प्रकाश के इस वर्णन में

श्रोणी वन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः।
पद्भ्यां मुक्तास्तरल गतयः सश्रिता लोचनाभ्याम्।।
वक्षः प्राप्त कुचसचिवतामद्वितीयन्तु वक्त्रम्।
तर् गात्राणां गुणविनिमयः कल्पितो यौवनेन।।

शारीरिक परिवर्तन ही वर्णित हैं, किन्तु विद्यापति ने इन परिवर्तनों की पृष्ठभूमि के रूप में कामदेव राजा का उल्लेख करके अपने वयः सन्धि के वर्णन को अधिक सरस और प्रभावशाली बना दिया है। विद्यापति की वयः सन्धिस्था नायिका अपूर्व है। वह क्षण-क्षण में कभी कटाक्षों का संचालन कर युवती सा व्यवहार करती है और कभी धूल में लोट कर बालापन का व्यवहार करती है। कभी बालिका की भाँति मुक्त-दन्त हो हँसती है और कभी तुरन्त ही अपने मुक्त हास्य-युक्त अधरों को वस्त्र से छिपाती है। कभी चपलतापूर्वक हिरनों सी चौकड़ी भरती है, कभी युवती-तुल्य गरिमा से मंद-मंद चलने का उपक्रम करती है, वह कामदेव से यौवन का प्रथम पाठ पढ़ती है और उसे ठीक से ग्रहण नहीं कर पाती, तभी तो हकी-बकी सी हो जाती है। पद इस प्रकार है:—

खने खन नयन कोन अनुसरई।
खने खन बसन धूलि तनु भरई।।
खने खन दसन-छटा छुटहास।
खने खन अधर आगे गहु बास।।

चंऊकि चलए खने खन चलु मंद ।
मनमथ-पाठ पहिल अनुबंध ।।

इस वयः सन्धि के पश्चात् विद्यापति की नायिका यौवन-दीप्ति से दीपित रूप की छलकती गगरी बन जाती है। इस वर्णन में उन्होंने प्राचीन परम्परा का तो अनुसरण किया ही है, साथ ही अपनी मौलिक प्रतिभा का भी परिचय दिया है। विद्यापति की राधिका के रूप-वर्णन में कल्पना की विभूति का चरम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। उनकी कामिनी कोई साधारण सुन्दरी नहीं। उसके मुख की रचना विधाता ने चन्द्रमा के सार अर्थात् धवल शुभ्र अमृत-स्निग्ध ज्योत्स्ना से की है, धरती के इस [कामिनी के मुख रूपी] नवल चन्द्र को देखकर चकोर भी चकित हो गया। आखिर वह किस चन्द्रमा को देखे। ऐसी शुभ्रमणि-रूपिणी नायिका के रूप-सौन्दर्य का वर्णन भी कैसे किया जा सकता है? ऐसा लगता है कि मानो जब इस सुन्दरी ने अमृत से अपने स्फटिक मणि से धवल मुख को पोंछा तभी दशों दिशाएँ आलोक-पूर्ण हो गईं :—

चाँद सार लए मुख घटना करु लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोय आँचर धनि पोछलि दह दिसि भेल उँजोरे।।

नायक कृष्ण नायिका के इस रूप को देखते हैं और विजड़ित-चित्त हो जाते हैं। ऐसी नायिका का दर्शन-मिलन अपने प्रथम क्षण में आनन्द-कम्प से भरा पीड़ा का एक नया संसार दे जाता है। कृष्ण राधा के इस रूप को जी भर कर देख न पाये (और जी भर भी कैसे सकता है ऐसे रूप को देखकर) और वह दंशित से कराह उठते हैं :—

सजनी भल कए पेखलि न भेलि।
मेघमाल सँय तड़ित लता जनि
हिरदय सेल दई गेलि ।।

कृष्ण कितनी ही भंगिमाओं में राधा को देखते हैं और उसके प्रेमाकर्षण में बँधते चले जाते हैं। एक बार मस्ती में भरी राधा चली जा रही थी कि चंचल पवन ने झकोर कर उसका वस्त्र गिरा दिया। कृष्ण को राधा की 'सुचिक्कण देह-यष्टि' दीख गई। श्यामल कुटिल केशराशि से घिरी वह दीपित देह-यष्टि ऐसी लग रही थी कि मानो नवल श्यामल जलधर के नीचे बिजली की रेखा संचरित हो रही हो। ऐसे

रूप में विभोर हो कृष्ण गा उठते हैं :—

> ससन परसु खसु अम्बर रे,
> देखल धनि देह।
> नव जलधर तर संचर रे,
> जनि विजुरी रेह ।।
> आज देखलि धनि जाइत रे
> मोहि उपजल रंग।
> कनकलता जनि संचर रे,
> महि निरअवलम्ब ।।

ऐसी कनकलता की मायाविनी छवि को कृष्ण ने देखा, एकबार देख लेने पर वह छवि भुलाये नहीं भूलती और वे अपनी ध्यान-चेतना में राधा के चरणों की हृदय को दग्ध करने वाली जावक को धारण कर लेते हैं। ऐसी नारी का पुनर्मिलन ही प्राणों को शीतल कर सकता है, तभी तो कृष्ण कह उठते हैं :—

> पुनहि दरसन जीव जुड़ाएब
> टुटत विरह क ओर।
> चरन जावक हृदय पावक
> दहइ सब अंग मोर ।।

विद्यापति ने श्रृंगार के आलंबन स्वरूप नायक के रूप-सौन्दर्य का भी वर्णन किया है। विद्यापति जैसा सौन्दर्यचेता कवि रूप-सौन्दर्य के अभाव में प्रेमोद्भावना की कल्पना ही नहीं कर सकता। विद्यापति के काव्य में प्रेम केवल रूप के हिंडोले में झूलता नजर आता है, साहचर्य मात्र की भूमि पर प्रेम का विकास विद्यापति को कदाचित् इष्ट न था। यही कारण है कि उन्होंने राधा के रूप की भाँति कृष्ण के रूप का भी वर्णन किया है। श्री देशराज सिंह भाटी के शब्दों में "विद्यापति की नायिका-राधा-यदि सर्वसुन्दरी है तो नायक-कृष्ण-भी सुन्दरता में अपना उपमान नहीं रखते। राधा जितनी लावण्यमयी है, कृष्ण भी उतने ही सौन्दर्यागार हैं।" इस सौन्दर्य-निधि-कृष्ण के प्रति राधा भी कम आकृष्ट नहीं है; उसे तो कृष्ण का रूप आंखों का प्रत्यक्षीकृत सत्य प्रतीत न होकर स्वप्न का अविश्वसनीय सौन्दर्यविष्टित सत्य प्रतीत हो रहा था। तभी तो वह अपनी सखी से कृष्ण के रूप का इस प्रकार वर्णन करती है :—

ए सखि पेखलि एक अपरूप।
सुनइत मानवि सपन सरूप।।
कमल जुगल पर चांद क माला।
तापर उपजल तरुन तमाला।।
तापर वेढ़लि बिजुरी लता।
कालिंदी तट धीरे चलि जता।।
साखा-सिखर सुधाकर पाँति।
ताहि नव पल्लब अरूनक भाँति।।
विमल विबफल जुगल विकास।
तापर कीर थीर करु बास।।
तापर चंचल खंजन-जोर।
तापर सांपिनि झांपल मोर।।

रूपकातिशयोक्ति अलंकार की भूमि पर कृष्ण के इस रूप-वर्णन में राधा के रूप-वर्णन की ही भाँति प्रकृति के उपमानों का सहयोग विद्यापति ने लिया है। ऐसा रूप-दर्शन नारी को चिर-दर्शन की पिपासा से आकुल कर देता है। किन्तु राधा तो आधे नयनों से ही केवल एक निमिष भर के लिये ही ऐसे कृष्ण की रूपच्छवि देख सकी थी। उसका मन-मृग आहत-व्याहत हो गया। मुरली की धुनि में उसका सारा ध्यान केन्द्रित हो गया। यमुना की तरंगों के निकट, घाट पर कदम्ब के वन में उलट पलट कर कृष्ण को देखते समय उसके चरनों को कांटे ने दंशित कर दिया। अपने इसी अनुभव को—कृष्ण के प्रेम में विह्वल अपने मन की उथल-पुथल को राधा निहायत मासूमियत से अपनी अंतरंग सखी से इस प्रकार वर्णित करती है—

की लागि कौतुक देखलौं सखि निमिष लोचन आध।
मोर मनमृग मरम वेधल विषम बान वे आध।।
× × ×
तीर तरङ्गिनि कदम्ब कानन निकट जमुना घाट।
उलटि हेरइंत उलटि पालओं चरन चीरल काँट।।

नायक-नायिका की लीलाओं का वर्णन :—

विद्यापति ने राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओं का भी वर्णन किया है। लीलाओं का यह लोक युवा हृदय की उच्छल भावमयता से भरा है। राधा कृष्ण को मिल जाती है और अनेक प्रकार की उत्तेजक

भँगिमाएँ दिखाकर चली जाती है। वह अपने आधे अंचल को खिसकाता, मुस्काती, कटाक्ष करती, अधखुले उरोज दिखाती चली जाती है और कृष्ण अनंग के रंग में रंग कर विदग्ध हो जाते हैं :—

आध आँचर खसि आधे बदन हसि,
आधहि नयन तरंग।
आध उरज हेरि आध आँचर भरि,
तबधरि दगधे अनंग ॥

कहीं कहीं विद्यापति ने नायक और नायिका के मन की स्थितियां को सरल रूप में चित्रित कर अपने संयोग-वर्णन को मार्मिकता का भी स्पर्श दे दिया है। एक बार अचानक ही राधा-कृष्ण मार्ग में मिल जाते हैं। कामदेव दोनों को अपने बाणों से बिद्ध कर देता है। दोनों के नयन उलझ जाते हैं और चतुर रसिका सखी इस उलझन भरी स्थिति से दोनों को उबार लेती है। कितना स्वभाविक एवं प्रीतिपूर्ण है यह मिलन-चित्र—

पथ-गति नयन मिलल राधा कान।
दुहु मनसिज पूरल संधान ॥
दुहु मुख हेरइत दुहु भेल भोर।
समय न बूझए अचतुर चोर ॥
विद्‌गधि संगनि सब रस जान।
कुटिल नयन कएलहि समधान ॥
चलल राज-पथ-दुहु उरझाई।
कहि कवि-सेखर दुहु चतुराई ॥

राधा कृष्ण के प्रेम की विदग्धता में प्रज्वलित होकर मदन से कह उठती है—

पुर बाहर पथ करत गतागत,
के नहिं हेरत कान।
तोहर कुसुम सर कतहुँ न संचर,
हमर हृदय पंच बान ॥

नायिका की यह शिकायत भी सही है। लेकिन क्या करे बेचारी? मिलन के बिना कोई विकल्प भी तो नहीं। वह अभिसार के लिये क्या-क्या नहीं करती। विद्यापति की अभिसारिका के साहस की सीमा नहीं। इस

साहस के माध्यम से कवि ने प्रेमाकुलता की पराकाष्ठा का चित्रण किया है। यह मिलनाकुलता की ही तो शक्ति है कि राधा प्रियतम के मिलन-संकेत-स्थल की ओर जा रही है, कि मार्ग में एक सर्प उसके चरनों से लिपट गया। नायिका ने इसे सौभाग्य माना क्योंकि सर्प-ढँके नूपुर निःशब्द हो गये—यह तो राधा का मनचीता हो गया—

चरन बेढ़िल फनि हित मानलि धनि,
नेपुर न करए रोर।
सुमुखि पुछओ तोहि सरुप कहसि मोहि,
सिनेहक कत दुर ओर॥

विद्यापति के काव्य-लोक में प्रेम की कोई सीमा नहीं—उसका कोई नियम नहीं। उसमें तो जिसका हृदय जिससे लग गया उसी की ओर दौड़ेगा वहाँ कोई नियमों का बन्धन नहीं—

जकर हिरदय जकर रातल,
से धसि ततही जाए।
जइओ जतने बाँधि निरोधिअ,
निमन नीर थिराए।

प्रेम की इस नियम-विहीनता के कारण ही विद्यापति ने वासना-आवेगिल, स्थूल एवं माँसल चित्र अपने काव्य में अंकित किये हैं। इन चित्रों में काव्य उदात्तता की उर्ध्व भूमि से पतित हो जाता है। इस निम्न भूमि पर काव्य काम-शास्त्र का रूप ले लेता है। विद्यापति की नायिका कृष्ण-समागम के विषय में सखी द्वारा पूछे जाने पर कहती है :—

हँसि हँसि पहु आलिंगन देल
मनमथ अंकुर कुसुमित भेल
जब निबि बन्ध खसाओल कान
तोहर सपथ हम किछु जदि जान

एक आलोचक महोदय ने 'तोहर सपथ हम किछु जदि जान' में मासूमियत और मर्यादासंकुलता के दर्शन किये हैं और इसी कारण वे विद्यापति की राधिका के व्यक्तित्व में 'सहज आकर्षण और मृदुता' पाते हैं। हमारी समझ में मर्यादामयी नारी अपनी मधु गोपन अनुभूतियों की चर्चा तक किसी से न करेगी, ऐसी अनुभूतियाँ सबके

लिए ही प्राकृतिक सत्य हैं, इसीलिए इनको अभिव्यक्ति का स्पर्श नहीं देना चाहिए। ऐसी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति केवल गणिकाएँ ही कर सकती हैं। ऐसी उक्तियाँ विद्यापति की वेश्या-वृत्ति की पोषक हैं। कीर्त्तिपताका में उन्होंने जौनपुर की वेश्याओं के अनेक चित्र खींचे हैं। पदावली पर भी उन चित्रों का काफी प्रभाव है।

प्रकृति का उद्दीपन :—विद्यापति ने शृंगार के संयोग पक्ष की उद्दीपना के रूप में प्रकृति का उपयोग किया है। पदावली में प्रकृति का स्वतंन्त्र चित्रण नहीं हुआ है, उसमें तो वह नायक-नायिका की भावनाओं के अनुकूल ही प्रतिचित्रित हुई है। आनन्द मिलन के मधु क्षणों में प्रकृति के उल्लसित चित्र भी कवि ने अंकित किये हैं। मिलन के पर्व पर बसन्त का प्रस्तुत वर्णन आनन्द में विभोर कर देता है :—

नवबृन्दावन नब नब तरुगन।
नब नब विकसित फूल।
नवल बसन्त नवल मलयानिल,
मातल नब अलि कूल॥
विहरइ नवल किशोर,
कालिंदी-पुलिन-कुंज बन सोभन,
नब नब प्रेम विभोर॥

मधु-ॠतु में जब सुवासित मलय पवन मन्थर गति से संचरित होता है और भ्रमर अपने मधु गुञ्जन से वातावरण में गहरी मादकता घोल देते हैं, तब हृदय में 'रभस' (रमण) की इच्छा उत्पन्न हो ही जाती है :—

मलय पवन बह। बंसत विजय कह॥
भमर करइ रोर। परिमल नहि ओर॥
रितपति रंग देला। हृदय रभस भेला॥
अनंग मंगल मेलि। कामिनी करथु केलि॥

हृदय के इन 'रभस'-क्षणों में विद्यापति के अनुसार केवल यौवन-रस से अनजान अर्थात् रति-रंग से अनभिज्ञ मुग्धा नायिका ही मान कर सकती है। तात्पर्य यह है कि विद्यापति प्रकृति के मनोरम क्षणों में नारीमात्र को रमण करने की प्रेरणा देते हैं। यह रमणाकाँक्षा ही विद्यापति के संयोग-शृंगार का व्यापक सत्य है।

वियोग शृँगार ;—प्रेम का विकास विरह में होता है—यह विरह प्रेम को अपार्थिव सूक्ष्म भावानुभूति का स्वरूप प्रदान करता है। वियोग में मन पूर्ण सात्विक और तन्मय हो जाता है। वस्तुत; विरह प्रेम का मानसिक रूप है। इस की विशद चित्रण कोई अनुभव-प्रवण कवि ही कर सकता है। हमारे विचार में विलास के कवि में ऐसी प्रवणता नहीं हो सकती। विद्यापति के वियोग-शृंगार के वर्णन में संयोग शृंगार-सी उद्दाम वासना के स्थान पर प्रेम की मानसिकता अपेक्षाकृत अधिक उभर आई है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि विद्यापति ने विरह का अत्यधिक सफल अंकन किया है। विद्यापति के वियोग-वर्णन के कतिपय स्थलों की मानसिकता का कारण स्वयं विद्यापति नहीं वरन् विरह की स्वयं की उदात्तता ही इसका कारण है। कितना भी कोई रूपावेगी कवि क्यों हो विरह के चित्रण में वह अरूप से थोड़ा बहुत अभिभूत हो ही जायेगा। यही कारण है कि विद्यापति के काव्य में विरह के कुछ उज्जवल क्षण पाठकों को मिल जाते हैं।

आचार्यों ने विप्रलंभ-शृंगार के चार प्रकार माने हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। विद्यापति की पदावली में इनमें से प्रथम तीन का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है।

१. पूर्वराग :-पदावली के नायक और नायिका मिलन से पूर्व ही एक दूसरे के मादक रूप लावण्य से आकर्षित हैं। नायिका ने कालिंदी-तट पर तमाल वृक्ष से सुन्दर-सुष्ठु श्याम को देखा और उस रूप के प्रति अपने आकर्षण-अनुराग को अपनी सखी से इस प्रकार ज्ञापित किया :-

"ए सखि पेखलि एक अपरूप।
सुनइत मानबि सपन सरूप॥
× × ×
ए सखि रंगिनि कहल निसान।
हेरइत पुनि मोर हरल गियान॥

राधा की भाँति ही कृष्ण भी राधा-रूप-दर्शन मात्र से पूर्वानुरा में डूब जाते हैं। कृष्ण ने सहज सुन्दर आनन और 'सुरेखल आँखि वाली राधा को देखा और उनके दोनों नेत्र नायिका के साथ-साथ ह चले गए। कृष्ण इसी अनुभूति को इस प्रकार वर्णित करते हैं—

ततहि धावल दुइ लोचन रे,
जतहि गेल बर नारि।

आसा लुबधल न तेजए रे,
कृपनक पाछु भिखारि ।।

यही नहीं जाती हुई उन्नतपयोधरा राधा को देख कर कृष्ण का मन, अपना सब कुछ ही खो बैठा :—

आज जाइत पथ देखलि रे,
रूप रहल मन लागि ।
तेहि खन सँय गुन गौरव रे,
धैरज गेल भाजि ।।
रूप लागि मत धाओल रे,
कुच-कंचनगिरि साँधि ।
ते अपराध मनोभव रे,
ततहि धएल जनि बाँधि ।।

विद्यापति के पूर्वानुराग में रूपोत्तेजना का ही चित्रण अधिक हुआ है । इसीलिए ऐसे स्थल पूर्वानुराग की पीड़ा-बोझिल प्रीतिल संवेदना से अस्पर्शित लगते हैं ।

२. **मान** :—'संयोग के पश्चात् प्रेम की स्वाभाविक वृत्ति अथवा ईर्षा के कारण नायक-नायिका की पारस्परिक रुष्टता मान कहलाती है ।' प्रिय की सम्पर्क-वेला में ही विरह की पीड़ा की प्रखरतम अनुभूति मान में होती है—यह अनुभूति अपने ढंग की अनोखी ही है । 'विद्यापति के नायक और नायिका दोनों ही मान करते हैं । विद्यापति ने मान की विविध परिस्थितियों का बड़ा सजीव वर्णन किया है । विद्यापति के कृष्ण एकनिष्ठ प्रेमी नहीं, वे वहु नारी-गामी हैं । उनके चंचल स्वभाव को लक्ष्य कर व्यंग्य की भूमि पर नायिका कहती है :—

लोचन अरुन बुझल बड़ भेद
रयनि उजागर गरुअ निवेद
ततहि जाहु हरि न करह लाथ
रयन्हि गमाओल जन्हि के साथ
कुच कुंकुम माखल हियतोर
जनि अनुराग राँग करु गोर

राधा के मान करने पर कृष्ण भी विरह-व्याकुलता में डूब जाते हैं । सखियाँ राधा को कृष्ण का विरह-दुख बतलाती हुई कहती हैं :—

विरह व्याकुल वकुल तरुतर,
पेखल नन्दकुमार रे ।
नील नीरज नयन सयँ सखि,
ढरइ नीर अपार रे ।

विद्यापति का प्रेम-प्रेम संबंधी उभय-पक्षी तीव्रता पर आधारित है । इसी आधार-भूमि पर कृष्ण भी राधा से मान कर बैठते हैं और इस छलिया कृष्ण का मान समर्पणोन्मुख भी नहीं है, तभी तो राधा इतनी कातर हो जाती है कि वह कृष्ण के मान में स्वयं को दोषी मान बैठती है । जब उसका परमप्रिय उसकी ओर देखता तक नहीं तब उसकी आत्मा इस प्रकार चीत्कार कर उठती है :—

का हम साँझक एकसर तारा,
भादव चौठि क ससी ।
इथि दुहु माझ कवन मोर आनन,
जे पहु हेरसि न हँसि ।।

मान का यह प्रसंग अनुभूतिपरक है । इसमें नारी के प्रिय-उपेक्षित हृदय की विदग्धता की लोक-गीतीय कल्पना-भूमि पर बड़ी ही सकरुण अभिव्यक्ति हुई है ।

३. **प्रवास** :-'पति के किसी कार्यवश या शाप-वश विदेश-वास को प्रवास कहते हैं । प्रिय के प्रवास को चले जाने पर प्रेमी अथवा प्रेमिका को मरणाधिक पीड़ा की अनुभूति होती है । पदावली में राधा के प्रय ही नहीं जाते वरन् उनके साथ ही उसके प्राण भी चले जाते हैं । पहले तो वह उन्हें रोकना चाहती है, पर 'कुलकामिनी' की लज्जावश स्वयं नहीं रोक पाती, वरन् वह सखी से ऐसा करने को कहती है :—

सखि हे बालम जितब विदेस ।
हम कुलकामिनि कहइत अनुचित
तोहहुँ दे हुनि उपदेश ।
ई न विदेसक बेलि ।।

लेकिन विरहोच्छ्वास किस बन्धन को मानते हैं । राधा ने ही 'कुलकामिनि' के बन्धनों को तोड़ कर प्रार्थना-कातर स्वरों में कृष्ण से स्वयं कहा :—

माधव तोंहे जनु जाह बिदेस।
हमरा रंग रभस ले जएवह,
लएबह कौन सनेस ॥

जब प्रतीक्षा थक जाती है और प्रिय नहीं आता तब जीना भी नहीं भाता लेकिन कम्बख्त आशा जीने को विवश करती है। ऐसी ही विवशता में पदावली की राधा करुणार्द्र स्वरों में गा उठती है—

लोचन धाए फेधाएल हरि नहिं आएल रे।
सिब सिब जिबओ न जाए आस अरुझाएल रे

राधा उड़ कर हरि के पास चली जाना चाहती है और प्रेम पारसमणि को हृदय से लगा लेने को अत्यन्त आतुर है। इसी आतुरता में वह कह बैठती है कि :—

मन करे तहाँ उड़ि जाइअ जहाँ हरि पाइअ रे।
प्रेम परस-मनि जानि आनि उर लाइअ रे ॥

वर्षा ऋतु में मनभावन प्रिय का सम्पर्क प्राणों की सघन आवश्यकता होती है। ऐसा प्रिय भरे सावन-मास में पास नहीं, भवन अकेला है, राधा उसमें रहे भी तो कैसे। इस भीषण स्थिति में वह चीत्कार कर उठती है :—

के पतिआ लए जाएत रे मोरा पियतम पास।
हिय नहिं सहए असह दुःखरे भेल साबन मास ॥
एकसरि भवन पिया बिन रे मोरा रहलो न जाय
सखि अनकर दुख दासन रे के पतिआय ॥

विरह में यौवन का व्यतीत होना यौवन का नष्ट होना है। जीवन के इस अमूल्य-धन के नष्ट होने पर विद्यापति की राधा इस प्रकार कराह उठती है :—

अंकुर तपन ताप जदि जारब कि करब बारिद मेहे।
ई नव जोवन बिरह गमाओब कि करब से पिया गेहे ॥

विद्यापति ने अपने विरह-वर्णन में संचारियों का भी अत्यन्त सफलता से वर्णन किया है। विरह में अतीत की मधु-सिक्ता बीती बातों की स्मृति आना स्वाभाविक है। आज कृष्ण नहीं हैं लेकिन राधा को उन दिनों की स्मृति उभर आती है जब कृष्ण उसके अधपके यौवन के पकने की प्रतीक्षा में थे और आज उसी परिपक्व यौवन के मध्य वे

छोड़ कर चले गये । यही स्मृति राधा के विरह को अश्रु-आपूरित कर देती है :—

आस क लता अगाओल सजनी
नयन क नीर पराय ।
से फल अब तरुनत भेल सजनी
आचर तर न समाय ।।

विद्यापति ने राधा के विरह की सृष्टि अपने हृदय के सर्वोत्तम अंश से की है । राधिका की पीड़ा की अनन्तव्यापिनी अनुभूति का चित्रण कवि ने अत्यन्त करुण-विदग्ध प्रसंग-विधान की भूमि पर किया है । राधा कृष्ण की सतत प्रवाहिनी स्मृति में तद्रूप होकर स्वयं कृष्णमय हो गई; अब वह अपने ही गुणों पर विमुग्ध है, अपने विरह में ही उसने अपने शरीर को जीर्ण कर दिया है, क्षण-क्षण में वह कृष्ण-भाव में लीन होकर राधा-राधा रटती है, और होश आने पर फिर कृष्ण-कृष्ण की रटना लगा देती है । उसके दारुन प्रेमका कोई अन्त नहीं । कितनी सजल, करुण एवं समर्पण की पावनता से उज्जवल है यह राधा की प्रेम-समाधि :—

अनुखन माधव माधव सुमरइत
सुन्दरि भेलि मधाई ।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल
अपने गुन लुबुधाई ।।
माधव अपरुब तोहर सनेह ।
अपने बिरह अपन तन जरजर
जिबइत भेलि संदेह ।।
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
छल छल लोचन पानि ।
अनुखन राधा राधा रटइत
आधा आधा बानि ।।
राधा सयँ जब पुनतहि माधव
माधव सयँ जब राधा ।
दारुन पेम तबहि नहि टूटत
बाढ़त बिरहक बाधा ।।

विद्यापति की पदावली के यह स्थल प्रेम की भक्तिमयता से

मंडित हैं । इस पद में विद्यापति ने "प्रेम की पराकाष्ठा आधार 'और आधेय के अनन्य रूप में व्यक्त की है ।"

प्रश्न : ६. विद्यापति की कविता में प्रेम वर्णन के भीतर ऊहात्मक पद्धति और गम्भीर प्रेम-व्यंजना दोनों का योग है ।' इस कथन को उदाहरण सहित सिद्ध करिए ।

उत्तर :—

विद्यापति उद्दाम यौवन के कवि हैं और यौवन के सारतत्व हैं प्रेम एवं सौन्दर्य । सौन्दर्य की सत्ता निरपेक्ष नहीं वरन् वह प्रिय-आह्लादान-सापेक्ष्य है । वास्तव में सोन्दर्य की सफलता प्रेम है । 'प्रेम रहित सौन्दर्य वन्ध्य वृक्ष के समान है ।' विद्यापति के काव्य का सौन्दर्य प्रेमोन्नायक है। कदाचित् इस विषय में वे कालिदास के 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता' के समर्थक हैं । विद्यापति के काव्य का साध्य प्रेम है और इस प्रेम की उत्पत्ति रूप-लिप्सा और साहचर्य्य के योग से नहीं हुई है । इनकी प्रेमोत्पत्ति का मुख्य आधार है रूप लिप्सा पदावली में प्रेम-भावना का विकास नहीं होता वरन् उसमें वह सहसा जीवन के एक अलस क्षण में सम्पूर्ण भविष्य की स्वप्निल तरंगिमा के रूप में उद्भूत होता है । यह प्रेम 'सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप' में फूट पड़ता है । विद्यापति ने इस रूपोत्तेजना जनित गम्भीर प्रेम की व्यंजना अत्यन्त सफलता से की है । साथ ही उन्होंने कतिपय स्थलों पर प्रेम की व्यंजना को ऊहात्मक पद्धति का भी स्पर्श प्रदान किया है । विद्यापति की ऊहा की प्रयुक्ति परिहासात्मक कम ही होने पाई ।

प्रेम की उत्पत्ति के विषय में कहा जाता है कि 'जब अनजान माधुर्य्य किन्हीं विशेष क्षणों में किसी रूप-सौन्दर्य को मधु-सिक्त कर देता है और वही किन्हीं आँखों में मधु तुषा का आवेगमय स्पन्दन भर देता है और संयोगवश ये दोनों ही जहाँ संयोजित हो जाते हैं वहीं स्नेह दो प्राणों को विद्युत-बन्धन में बाँध देता है । विद्यापति का प्रेम इस कोटि का ही है । 'खने खन नयन कोन अनुसरई' की शैशव-यौवन के इन्द्रधनुषी व्यक्तित्व से मधुमयी राधा 'बिजुरी-रेह-सी देह को मधु-तृषित आंखों से देख कर कृष्ण 'मोहि उपजल रंग' की आवेगिल अनुभूति कर गा उठते हैं :—

आज देखल धनि जाइत रे,
मोहि उपजल रंग।
कनकलता जनि संचर रे,
महि निरअवलम्ब ।।

प्रेमिका का सौन्दर्य तन-मन-प्राण सब पर छा जाता है। उस सौन्दर्य की दूरी प्राणों को दग्ध कर देती है। युवा जीवन के इस गम्भीर सत्य से हमारा आलोच्य कवि भली भाँति अवगत है। एक बार मधु रमणी राधा चली जा रही थी कि पवन-हिल्लोलित उसका शरद्कालीन बादलों-सा अंचल सरक गया और उसके सुमेरु-से उरोज कृष्ण को दीख गये। बस क्या था, कृष्ण व्याकुलता में भाव-विभोर हो गये और पुनः राधा की इस उत्तेजक छवि को देख कर ही उनके प्राणों को शीतलता प्राप्त हुई :—

उरहि अंचल झाँपि चंचल
आध पयोधर हेरु।
पौन पराभव सरद-घन जनि
वेकत कएल सुमेरु ।।
पुनहि दरसन जीब जुड़एब
टुटत विरहक ओर।
चरन जाबक हृदय पावक
दहइ सब अंग मोर ।।

नायिका की 'चरन जाबक' से नायक की 'दहइ सब अंग' की मनः स्थिति का चित्रण निश्चय ही पुरुष के समर्पणशील गम्भीर प्रेम की व्यंजना है।

राधा भी कृष्ण के सौन्दर्य से अभिभूत हुई और इसी अभिभूतता में वह काम से पीड़ित हुई। वह कामदेव से शिकायत करने चली कि :—

मनमथ तोहे की कहब अनेक।
दिठि अपराध परान पए पीड़सि
तें तुअ कौन बिवेक ।।
दाहिन नयन पिसुन गन बारल
परिजन बामहि आध।
आध नयन कोने जब हरि पेखल

तैं भेल अत परमाद ॥
पुर बाहिर पथ करत गतागत
के नहिं हेरत कान ।
तोहर कुसुम-सर कतहुँ न संचर
हमर हृदय पचबान ॥

राधा की शिकायत भी ठीक है कृष्ण को केवल आधे बायें भाग से देखने मात्र से कामदेव ने पाँचों वाणों से उसका हृदय आहत कर दिया । युवा जीवन में काम आँख के इस द्वार से हृदय-देश में प्रवेश कर ही जाता है फिर उसके तरंगायमान ज्वार में कुछ-गुन-गौरव, एवं सतीत्व का यश- अपयश सब तृण की भाँति बह जाता है :—

कुल-गुन-गौरव, सति-जस-अपजस,
तृन करि न मानए राधे ।
मनमथि मदन महोदधि उछलल
बूड़ल कुल मरजादे ॥

इस कोटि का प्रणय एक प्रकार की चिरस्थायिनी पिपासा (Everlasting thirst) है । राधा की प्रणय-पिपासा भी अनन्त है । राधा के लिए तो सच्ची प्रीति प्रतिदिन ही नयी होती जाती है । वह आजीवन अपने प्रणय-रत्न की रूप-माधुरी का पान करती है, लेकिन नयन हैं कि तृप्त होते ही नहीं । विद्यापति द्वारा वर्णित राधा की यह चिरं पिपासाकुल प्रणयानुभूति निश्चय ही प्रेम की गम्भीर व्यंजना है :—

सखि कि पूछसि अनुभव मोय ।
से हो पिरित अनुराग बखानिए,
तिल-तिल नूतन होय ।
जनम अवधि हम रूप निहारल,
नयन न तिरपित भेल ।

विद्यापति का विश्वास है कि 'प्रेम-रस का अनुमोदन कितने ही रसिक सदा किया करते हैं, किन्तु इसे भली भाँति अनुभव कर किसी ने भी नहीं देखा ।' इस कवि को 'ढूँढ़ने पर लाखों में आज तक एक भी रसिक मनुष्य ऐसा न मिला जो कह सके कि प्रेम द्वारा मेरे प्राणों को पूर्ण तृप्ति मिली है ।' विद्यापति की इन पंक्तियों का प्रेम जीवन की उथली अनुभूति नहीं, वरन् आत्मा की गम्भीर व्यंजना है :—

कत बिदगध जन रस अनुमोदई,
अनुभव काहु न पेख।
विद्यापति कह प्रान जुड़ाएत,
लाखे न मिलत एक ॥

निश्चय ही ऐसी अतृप्ति से उन्मादित प्रेम स्वच्छन्द होगा। इसे किसी का भी भय नहीं होगा। विद्यापति का प्रेम भी ऐसा ही है। कवि ने इस प्रेम की सूर्य, कमल, जल एवं कीचड़ के प्रतीकों द्वारा गहरी व्यंजना की है :—

जतओ तरनि जल सोखए सजनी,
कमल न तेजए पांक।
जे जन रतल जाहि सौं सजनी,
कि करत बिहि भए बांक।

ऐसी अविच्छिन्न लगन वाले का तो सिद्धान्त ही यह होता है :-

पेमक कारन जीउ उपेखिए,
जग जब के नहि जाने।

प्राणों की उपेक्षा करने वाली राधा के कितने ही अभिसार-चित्र विद्यापति ने अंकित किये हैं। कवि ने भादों की अमावस्या की गहनतममयी रात में कृष्ण से मिलने के लिए जाने वाली राधिका के विषय में सखि से कहलाया है :—

माधव, धनि आएलि कत भांति।
प्रेम-हेम परखाओल कसौटी,
भादव कुहु-तिथि राति ॥
गगन गरज घन ताहि न गन मन,
कुलिस न कर मुख बंका।
तिमिर अंजन जलधार धोए जनि,
ते उपजावति संका ॥

विद्यापति की मान्यता में ऐसे प्रेम की गति दुर्वार है—'पेमक गति दुरवार।' श्री परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार विद्यापति ने इस प्रकार प्रेम के गूढ़ रहस्यों को एक सच्चे प्रेमी की भाँति स्पष्ट करने के प्रयत्न किये हैं।'

मान-नायक और नायिका के मध्य अबाध गति से संचरित प्रेम

का प्रखर सत्य है। मान प्रणय का स्वाभिमान है, यह स्वाभिमान मिलन के क्षणों में ही कभी-कभी जाने-अजाने ही आहत हो जाता है। फिर प्रेमी का हृदय पीड़ा की प्रज्वलनकारी अनुभूति करता है। प्रायःकर ऐसे मान की उद्भावना एकनिष्ठ प्रेमी या प्रमिका के हृदय में तब होती है जब कि दोनों में से कोई भी किसी के प्रति छल कर जाये। कृष्ण ने राधा के जीवन से—उसकी प्रेम—समर्पणा से छल किया और राधा विरह की मर्मघाती अनुभूति करने लगी—हृदय से कृष्ण के प्रति अनुरक्त होते हुए भी बाहर से उनकी उपेक्षा करने लगी। जब सखियाँ उसे प्रबोधती हैं तो वह कराह उठती है। वह अत्यन्त करुण स्वरों में अपनी गाँठ पड़ी पीड़ा को खोलते हुए कहती है कि :—

सजनी अपद न मोहिं परबोध।
तोड़ि जोड़िअ जहाँ गाँठ पड़ए तहाँ
तेज तम परम विरोध॥
सलिल सनेह सहज धिक सीतल
ई जानए सब कोई॥
से जदि तपत कए जतने जड़ाइअ
तइओ बिरत रस होई॥

इन पँक्तियों में राधा का मान अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। है भी सही, उष्ण किये जल में फिर से स्वाभाविक शीतलता आती ही कब है। ऐसे ही छलित प्यार में फिर नवानुराग की उद्भ्रान्त लीला और चाञ्चल्य की प्रीतिल स्निग्धता कैसे आ सकती है? इस मान के पश्चात प्रणय गम्भीरतर हो जाता है। प्रणय की यह गम्भीरता विद्यापति के विरह-चित्रण में पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है।

विद्यापति वर्णित विरह में प्रेमास्पद स्मृति-मणि बन जाता है। नायिका विभिन्न रूपों में अपने हृदय—देव का स्मरण करती है। हृदय-देव का नैवेद्य-धन है यौवन और वही प्रियं दूर, यौवन की इस से बढ़कर निरर्थकता और हो ही क्या सकती है! विरह की इस यथार्थ पीड़ा की अभिव्यक्ति नायिका अत्यन्त करुणार्द्र स्वरों में इस प्रकार करती है :—

सरसिज बिनु सर, सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे।

जौबन बिनु तन, तन बिनु जौबन
की जौबन पिय दूरे।

है भी सही, बिना प्रिय-सूर्य के तन-सरोवर में यौवन-कमल कैसे विकसित एवं प्रफुल्लित रह सकता है ?

राधा विद्यापति की विरह की प्रतनु करुण प्रतिमा है। आचार्य विनय मोहन शर्मा के शब्दों में "विद्यापति की राधा में हम शरीर का भाग अधिक और आत्मा का कम पाते हैं। किन्तु विरह में उन्होंने प्रेम के कम मधुर गीत नहीं गाए हैं।" विरह में प्रेम के मधुर गीत प्रेम के गम्भीर गीत ही हो सकते हैं। यह सत्य है कि विद्यापति में चन्डीदास-सी 'विरह की दुस्सह तपस्या की तन्मयता' नहीं है। किन्तु फिर भी मानवीयता की सहज-भूमि पर विरह की गम्भीर व्यञ्जना विद्यापति ने की है। मानवीय विरह का यह गाम्भीर्य अपनी चरम सीमा पर 'दुस्सह तपस्या की तन्मयता' में परिणित हो जाता है। जिस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय तथा भक्ति के क्षेत्र में आराधक और आराध्य की एकता होती है उसी प्रकार विद्यापति के वर्णित प्रेम में राधा और माधव की तन्मयता स्थापित होती है और इस तन्मयता की भूमि पर विद्यापति की प्रेम-व्यञ्जना भक्ति-सी सात्विक, पावन एवं गम्भीर हो जाती है :—

अनुखन माधव माधव सुमिरियत
सुन्दरि भेल मधाई
ओ निज भाव सु-भावहि विरसल
अपने गुण लुब्धाई

विद्यापति की प्रेम व्यञ्जना और ऊहापद्धति :—महाकवि भाव चित्रों को नाटकीय–प्रभाव प्रदान करने के लिए ऊहा का प्रयोग करते हैं। ऊहा मनः स्थितियों का परिमाण-निर्देश करती है। ऊहा एक प्रकार की भावनाओं की परिमाणात्मक अत्युक्ति है। विद्यापति ने जिस अत्युक्ति का अपनी प्रेम व्यञ्जना में प्रयोग किया है वह सर्वत्र ही परिमाणात्मक तो है, किन्तु परिहासात्मक नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ऊहात्मक या वस्तु व्यंजनात्मक शैली के तीन प्रकार बताये हैं :-

१. ऊहा की आधारभूत वस्तु असत्य अर्थात् कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध है।

२. ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य या स्वतः संभवी है और किसी प्रकार की कल्पना नहीं की गई है।

३. ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य है पर उसके हेतु की कल्पना की गई है।

विद्यापति में ये तीनों ही प्रकार की ऊहाएँ पाई जाती हैं! किन्तु उन्होंने तृतीय प्रकार की ऊहा के प्रयोग में अपनी विशेष रुचि दिखाई है। अधिकांशतया विद्यापति की ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य है, किन्तु उसके हेतु की कल्पना उन्होंने की है। इस पद्धति के आश्रय से उन्होंने प्रेम-भावना के उद्दीपन के रूप में सौन्दर्य का हृदयहारी और व्यापक प्रभावी चित्रण किया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा ;—

कबरी भय चामरि गिरि कन्दर,
मुख भय चाँद अकासे।
हरिन नयन भय, सर भय कोकिल,
गति-भय गज बनबासे।

इन पँक्तियों में चँवर गायों का वन में होना, चन्द्रमा का आकाश में होना एवं हरिण तथा कोकिल का बन में होना स्वतः सत्य है। वे नायिका के सौन्दर्य से लज्जित होने के कारण ऐसे हैं केवल यह बात ही कल्पित है। यह कल्पना नायिका की सौन्दर्य-राशि की अद्वितीयता का द्योतन-भर करती है।

प्रेम के वियोग-पक्ष में विद्यापति ने कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध ऊहा का प्रयोग भी किया है। राधा विरह में इतनी निर्बल हो गई है कि उसको शीतलता प्रदान करने के उद्देश्य से भी उसकी सखियाँ नील-कमल से राधा को पंखा नहीं झलतीं; उनको भय है कि कहीं वह उड़ न जाये, परन्तु एक राधा है कि वह दर्पण में अपने (पांडु) मुख को देखकर उसे चन्द्रमा समझने लगती है और तापित होकर संज्ञा-विहीन हो जाती है :—

नील नलिनि लए जब कर बाए,
हृदय रहए भय उडि जुन जाए।
× × ×
मनिमय मुकुर देखि पुनि निज मुख
चान भरम झुरझाए।

विद्यापति के इस कोटि के वर्णन भी बिहारी जैसे हास्यास्पद नहीं होने पाये हैं। इस वर्णन में भी विद्यापति मानसिकता से असंप्रक्त न हो पाये। उनकी नायिका विरहिणी है, चन्द्रमा को देख कर हर विरहिणी मुरझा जाती है। यहां 'मणिमय मुकुर' में अपने श्वेत और उदास मुख की छाया में चंद्रमा की भ्रांति नायिका कर बैठती है। 'भ्रान्ति' की यह मनोवैज्ञानिका हमें बिहारी की इस विरहिणी में नहीं प्राप्त होती :—

> औंधाई सीसी, सुलखि बिरह-बरत बिललात।
> बिचहीं सूखि गुलाब गौ छींटौ छुयौ न गात।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति ने, कतिपय ऊहात्मक स्थलों को छोड़ कर अपनी पदावली में गम्भीर प्रेम की ही व्यंजना की है। यह प्रेम उनके काव्य का प्राण-तत्त्व है।

प्रश्न : ७. "विद्यापति काव्य की दृष्टि से भक्ति काल की अपेक्षा रीति-काव्य के निकट हैं।" इस कथन की आलोचना कीजिए।

अथवा

विद्यापति की कविता भक्ति "भावना की अपेक्षा पांडित्य और कलात्मकता से अधिक अनुप्राणित है।" इसके पक्ष या विपक्ष में सप्रमाण अपना मत व्यक्त कीजिए।

उत्तर :—

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति-काल काव्य की भावमयता का युग था। इस युग के काव्य में दिव्य भक्ति की परमपूत अभिव्यक्ति हुई है। भक्ति युग का काव्य सांस्कृतिक एवं 'आध्यात्मिक' भावना से अधिष्टित था। इस युग के कवि 'मिशनरी' भावना से अनुप्रेरित होकर मानव को भव-ताप से विमुक्त करने के लक्ष्य से काव्य-साधना में लीन थे। सब मिलाकर भक्ति युग का काव्य भक्ति-पावन आत्माओं की नैसर्गिक अभिव्यक्ति था। इसके विपरीत रीति-काल सांस्कृतिक लक्ष्य से

पूर्णतया असम्प्रक्त था। इस काल का कवि आत्मानुभूतियों का गायक नहीं था, वरन् वह अपने आश्रयदाता राजाओं की काम-भावनाओं का पोषक था, इस पोषण की प्रक्रिया में वह आत्म-रस का अभिव्यक्ति-कर्ता न होकर चमत्कृति पूर्ण कृत्रिम उत्तेजक अभिव्यक्ति का कलाकार होगया। संक्षेप में भक्ति-काल काव्य की आत्मा का युग था और रीतिकाल काव्य के शरीर का। जहाँ तक विद्यापति का प्रश्न है, वह इतिहास की दृष्टि से न तो भक्तिकाल के ही कवि थे और न ही रीति-काल के, किन्तु काव्य के परिवेश, लक्ष्य तथा अभिव्यक्ति-प्राञ्जलता की दृष्टि से रीतिकाल के ही अधिक निकट थे। इसमें सन्देह नहीं कि विद्यापति ने भक्तिभाव-पूरित होकर कतिपय पदों की रचना की है; इस प्रकार का भक्ति-प्रोत काव्य रीतिकालीन बिहारी, मतिराम, सेनापति प्रभृति कवियों ने भी रचा है। अतः केवल कुछ भक्ति-संबंधी पदों के कारण हम विद्यापति को भक्ति-काल के निकट का कवि नहीं कह सकते। इस प्रश्न के कलेवर में विद्यापति की काव्य-प्रकृति का अध्ययन करें ताकि हम उसकी भक्तिकालीन आदर्शवादिता अथवा रीति कालीन पार्थिवता से सम्यक् रूप से परिचित हो सकें।

विद्यापति के काव्य के आदर्श भक्तिकालीन कवियों से साम्य नहीं रखते, वरन् उनके प्रेरक कवि एवं आदर्श वे ही थे जो बिहारी, मतिराम, सेनापति आदि कवियों के थे। इन कवियों की भाँति ही विद्यापति का आदर्श ह्रासोन्मुख संस्कृत-साहित्य ही रहा। इस कोटि के संस्कृत साहित्य में स्वाभाविकता के स्थान पर कृत्रिमता का चित्रण अधिक हुआ। इसके अतिरिक्त बिहारी आदि की भाँति विद्यापति ने हाल की गाथा सप्तसती तथा अमरुकशतक के प्रभाव को ग्रहण किया। श्री शिव प्रसाद सिंह के अनुसार 'रीतिकालीन कविता को सस्ते किस्म के शृंगार की प्रेरणा भी' गाथासप्तसती से ही मिली है। विद्यापति के काव्य की कामोत्तेजक छवियों की प्रेरणा भी इसी कोटि के संस्कृत तथा प्राकृत-काव्य से मिली है। गाथा सप्तसती की नायिका अपने प्रिय के आने पर कहती है कि मैं तुम्हारे आगमन पर सभी प्रकार के मंगल आयोजन करके तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ। नयन-कमल से मैंने पथ बुहारा है और कुचों का मंगलघट बना कर हृदय द्वार पर स्थापित कर दिया है :—

रत्यापइण्णाणा अणुघला तुमं सा पडिच्छये एन्तम
दारणि ह्यियेहि दोहि वि मंगलकलसेंहिव थणेंहि

स्वयं विद्यापति की राधा भी इसी रूप में कहती है कि हे प्रिय, जब तुम ग्रह मध्य आओगे तो मैं देह के प्रत्येक अंग से मांगलिक आयोजन की सज्जा रचाऊँगी। दोनों कुचों को कनक-कुंभ की तरह रखूँगी और आँख को कज्जल-सज्जित कर उन्हें-काजल-चित्रित दर्पण की तरह रखूँगी :—

पिया जब आओब मझु गेहे
मंगल जतनु करब निज देहे
कनक कुंभ करि कुच युग राखी
दरपन धरब काजर देइ आँखि

हाल की गाथासप्तसती के अतिरिक्त अमरुकशतक की शृंगार वर्णना से भी विद्यापति ने प्रेरणा ग्रहण की है। नायक के सम्मुख नायिका का मान स्थिर नहीं रह पाता, वह भंग हो जाता है। इस भाव-स्थिति के अमरुक और विद्यापति के वर्णनों में पर्याप्त समानता है। अमरुकशतक में नायिका अपनी सखी से अपने मान के पलायन की बात करती हुई कहती है कि (मान के कारण) भौहें चढ़ाने पर भी (नायक के सम्मुख होने पर) मेरी आँखें और भी उत्कंठा के साथ उसे देखने लगती हैं। बोलना बन्द करने पर भी यह मेरा दग्ध आनन मुस्कराने लगता है। मन को कर्कश कर लेने पर भी शरीर में रोंगटे खड़े हो जाते हैं, अतः उस (नायक) के सामने आने पर मेरा मान किस प्रकार स्थिर रह सकता है :—

भ्रूभंगे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कंठमुद्वीक्षते
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनूरोमांचमालम्बते
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने

विद्यापति अपने प्रेरक अंश से भी वासना के रंग में आगे बढ़ जाते हैं। उनकी नायिका का मान तो विगलित होता ही है, लेकिन साथ ही नीबी-बन्धन भी शिथिल हो जाता है। वह वासना की उत्तेजना की चरम सीमा है और ऐसी सीमा का ओर-छोर रीतिकालीन काव्य में फैला हुआ है। मान-विगलन की घटना का वर्णन विद्यापति की नायिका इस प्रकार करती है :—

दुरहि रहिअ करिअ मन आन
नयन पिआसल हँटल न मान।
हास सुधारस तसु मुख हेरि
बाँध लेआ बाँधि निबी कत बेरि।
कि सखि करब धरब कि गोय
करबि मान जों आइति होय।
धसमस करय रहओं हिय जाँति
सगर सरीर धरब कत भाँति।
गोपहि न पारिअ हृदय उलास
मुनलओ बदन बेकत होअ हास।

अमरुकशतक आदि श्रृंगारिक रचनाओं का इस कोटि का प्रभाव भी विद्यापति को भक्तिकाल की अपेक्षा रीतिकाल के ही निकट ले जाता है।

विद्यापति के काव्य का भाव-सत्य रीतिकालीन कवियों के अधिक निकट है। भक्तिकाल में सूर के दो चार पदों की विद्यापति से समानता अवश्य मिलती है। इसके अतिरिक्त विद्यापति की पदावली के समान-सूत्र हमको भक्ति-काल में उपलब्ध नहीं होते। इसके विपरीत रीतिकाल के कवियों में विद्यापति की प्रभावमयता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। विद्यापति एवं रीतिकालीन कवियों के राधा कृष्ण के उत्तेजक पार्थिव वर्णन समान प्रसंग-भूमि पर हुये हैं। विद्यापति की राधिका सांकेतिक रूप में कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण इस प्रकार करती है :—

कर धरु करु मोहे पारे,
  देब पें अपरुब हारे, कन्हैया।
सखि सब तेजि चलि गेली,
  न जानू कौन पथ भेली, कन्हैया।
हम न जाएब तुअ पासे,
  जाएब औघट घाटे, कन्हैया।

मतिराम की राधिका भी विद्यापति की राधिका की ही भाँति कृष्ण से अपने अकेलेपन को ज्ञापित कर अपने आत्म-समर्पण का सांकेतिक मुखरण कहती हुई करती है :—

आई हुं निपट सांझ गैया गई घर मांझ,
ह्यां ते दौरि आई कछू मेरो काम कीजिए।
हौं तो हौं अकेली और दूसरो न देखियत,
वन की अंधियारी सों अधिक भय भीजिए।
कवि 'मतिराम' मन मोहन सौं पुनि पुनि,
राधिका कहति बात सांचि के पतीजिए।
कब की हौं हेरति, न हेरे हरि पावत हौं,
बछड़ा हिरान्यौ सो हिराय नक दीजिए।

विद्यापति और मतिराम दोनों की राधा के यह चित्र भक्तों के हृदय के सत्य नहीं बन सकते; हां इनके प्रणय-विदग्ध जन मन-रंजन अवश्य कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त बिहारी तथा देव के वय:साक्षी और अज्ञातयौवना नायिका के वर्णन भी समान कल्पना-विधान से मंडित हैं। इस सम्बन्ध में विद्यापति और देव का अज्ञातयौवना का वर्णन दृष्टव्य है। इन वर्णनों में दोनों की नायिकाएँ अपने अपने यौवन-आगम के प्रति अनजान है ;—

विद्यापति :—

खने खन नयन कोन अनुसरई
खने खन बसन धूलि तन भरई।
खने खन दसन छटा छुट हास,
खने खन अधर आगे गहु बास।
चहुँकि चलए खने खन चलु मंद,
मनमथ पाठ पहिल अनुबंध।
हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर,
खने आंचर दए खने होए भोर।

देव :—

नैको सुहाति न जाति गढ़ी उर पीर बड़ी गहि गाढ़ी गसी क्यों ?
खोंचि खयून खरी खटकै नहि नीठि खुलै खुभि डीठिधसी क्यों ?
'देव' कहा कहौं तोसौं जु मोसों तैं आज करी बिन काज हंसी क्यों ?
गाँठीए तोरि तनी छिनु छोड़ि दै छातीए कंचुकि ऐंचि कसी क्यों ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति के राधा-कृष्ण के शृंगार-चित्रण भक्ति-भूमि पर न होकर रति-भूमि पर हुए हैं। भक्तों ने कृष्ण एवं राधा की बाल्य-केलियों में अधिक रस अनुभव किया।

विद्यापति और रीतिकालीन कवियों में कृष्ण-राधा के प्रणय-स्निग्ध बाल्य जीवन के प्रति कोई उत्साह नहीं था।

विद्यापति का काव्य संस्कृत काव्यशास्त्र से पर्याप्त प्रभावित है। रीतिकाल के कवियों में भी नारी प्रेम की स्वतंत्र अभिव्यक्ति नहीं मिलती, उनकी नारी केवल 'टाइप' है और यह 'टाइप' नायिका-भेद के अनुसार है। विद्यापति पर भी इस नायिका-भेद का प्रभाव है। पदावली में सम्पूर्ण नायिका-भेद तो नहीं खोजा जा सकता और न ही यह इस लघु रचना में सम्भव ही है, तथापि राधा में नायिका-भेद की अनेक विभेदों के परिदर्शन हो जाते हैं। डॉ॰ ओमप्रकाश के अनुसार "नायिका-भेद की प्रथा के अनुसार राधा के भी अनेक रूप हैं जिनमें से विद्यापति को उस राधा में अधिक रुचि है जो समाज के बंधनों को तोड़ती हुई प्रेम की कसौटी पर कस कर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करती है अर्थात् वह स्वकीया की अपेक्षा परकीया अधिक है, प्रौढ़ा की अपेक्षा मुग्धा अधिक है और खंडिता की अपेक्षा अभिसारिका अधिक है। विद्यापति की राधा में मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, गुप्ता, विदग्धा, विलक्षिता, अभिसारिका, मानवती और प्रोषितपतिका नायिकाओं के लक्ष्यण मिल जाते हैं। कतिपय विद्वानों ने हमारे इस आलोच्य कवि की राधा को स्वकीया माना है लेकिन विद्यापति की राधा के प्रेम की विदग्ध विलासिता उसे परकीया नायिका का स्वरूप प्रदान करती है। विद्यापति-वर्णित प्रेमोन्मादिनी राधा की उच्छृङ्खलता को दर्शाने वाला कवि का यह कथन स्वकीया नायिका का रूप कैसे प्रस्तुत कर सकता है :—

कुल-गुन-गौरव, सति-जस-अपजस,
तृन करि न मानए राधे।
मन मथि मदन महोदधि-उछलल,
बूड़ल कुल मरजादे।

इसके अतिरिक्त पदावली में दूती नायिकाएँ भी चित्रित हैं। यह दूतियाँ नायक या नायिका के प्रेम को वासना के स्तर पर उभारती हैं। इस विषय में एक उदाहरण पर्याप्त है। कृष्ण की दूती राधा से कृष्ण की विरहाकुल दशा का वर्णन करती है और साथ ही उसे भी कामान्दोलित करने के उद्देश्य से कहती है—

कंटक माँझ कुसुम परगास।
भमर विकल नहि पावए पास॥

भभरा भेल धुरए सब ठाम।
तोहे बिनु मालति नहि बिसराम ।।
रसमति मालति पुन पुन देखि।
पिवए चाहि मधु-जीव उपेखि ।।
उ मधुजीवी तोञे मधुरासि।
साँचि धरसि मधु-मने न लजासि ।।

इस प्रकार की काम-शिक्षिकाएँ रीतिकाल के काव्य में बहुलता से उपलब्ध हो जाती हैं। नायिका-भेद की दृष्टि से भी विद्यापति रीतिकाल के अधिक निकट हैं।

विद्यापति भावुक कवि हैं, उनके काव्य में श्री देशराज भाटी के शब्दों में 'भाव-पक्ष की मंजुल पयस्विनी कलकल निनाद करती हुई प्रवाहित है।' यह हम देख ही चुके हैं कि विद्यापति के काव्य का भाव-पक्ष भक्ति काल के कवियों की अपेक्षा रीतिकाल के कवियों के अधिक निकट है। इसके अतिरिक्त विद्यापति के काव्य का कलापक्ष भी अत्यन्त समृद्ध है, उसकी यह समृद्धता रीतिकालीन ही अधिक है। इसमें सन्देह नहीं कि विद्यापति ने हिन्दी के आदिकाल में जन्म लिया, किन्तु उनका ठाठ रीतिकालीन था और राग-रसिकता भी कला-युग की ही थी। वे सौन्दर्य के कवि थे और उनकी सौन्दर्य भावना का वादी स्वर शृंगार और स.वादी स्वर अलंकार प्रियता है। अलंकार प्रियता की दृष्टि से विद्यापति बिहारी, मतिराम, देव, सेनापति प्रभृति कवियों के समान ही हैं। विद्यापति के काव्य में शब्दालंकार एवं अर्थालकार दोनों का ही समुचित प्रयोग हुआ है। अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति विरोधाभास, यथासंख्य, असंगति, विशेप, व्यतिरेक, तद्गुण, पर्यायोक्ति, एकावली आदि का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। ये अलंकार विद्यापति की कल्पना की चारुता से चमक उठे हैं। इनके काव्य-वर्णन सर्वत्र ही अलंकृत हैं। कहीं-कहीं एक ही स्थान पर अनेक अलंकारों से इस कवि ने अपने वर्णनों को चमत्कारपूर्ण कर दिया है। प्रस्तुत उदाहरण द्रष्टव्य है। नायिका के मुख-सौन्दर्य के वर्णन में उपमा, रूपक और विरोधाभास की यह छटा कितनी अलौकिक है :—

चिकुर-निकर तम सम
पुन आनन पुनिम ससी।
नयन-पंकज के पतिआओत
एक ठाम रहु बसी ।।

विद्यापति के काव्य में अलंकारों के अतिरिक्त रीतिकाल के काव्य का अप्रस्तुत-विधान वाग्वैदग्ध और उक्ति-वैचित्र्य भी चतुरता से पाया जाता है। प्रतिभा-सम्पन्न काव्य-मर्मज्ञ कवि अपने काव्य-विषय को अधिक ग्राह्य बनाने के लिए अप्रस्तुतों की सहायता लेते हैं। विद्यापति ने वास्तविक अप्रस्तुत तथा कल्पना-प्रसूत अप्रस्तुत दोनों से ही अपने शृंगार-रस को रसिक-जन-ग्राह्य बनाने का प्रयास किया है। यथा :—

वास्तविक अप्रस्तुत :—

अम्बर बिघटु अकामिक कामिनि
कर कुच झाँपु सुछन्दा।
कनक-सम्भु सम अनुपम सुन्दर
दुई पंकज दस चन्दा।।

इसमें 'कनक-सम्भु' वास्तविक अप्रस्तुत है।

कल्पनाप्रसूत अप्रस्तुत :—

सुन्दर बदन सिंदुर बिन्दु सामर चिकुर भार।
जनि रबि-ससि संगहि ऊगल पाछ कय अंधकार।।

इन पँक्तियों में नायिका के मुख पर सिंदुर-बिन्दु लगा है, काले बाल बिखरे हैं। मुख की इस शोभा के वर्णन करने के लिए जिस अप्रस्तुत से सहायता ली गई है वह कल्पना प्रसूत है। क्योंकि वास्तविक जगत में सूर्य्य और चन्द्रमा एक साथ उदित नहीं होते। इस प्रकार के उत्प्रेक्षा से पुष्ट अप्रस्तुत रीतिकालीन कवियों का प्रातिभिक व्यायाम था।

विद्यापति ने, अपने परवर्ती रीतिकालीन कवियों की भाँति ही अपने जीवन के अमूल्य समय को राजाओं के विलासी दरबारों में व्यतीत किया और दरबारी वातावरण में उक्ति-वैचित्र्य तथा वाग्वैदग्ध की व्याप्ति होती है। यही कारण है कि विद्यापति की पदावली में दूती और सखी-संभाषण में वाग्वैदग्ध की प्रचुरता है। सखी की राधा, को कृष्ण के अनुकूल बनाने की यह उक्ति-चतुरता कितनी मनोवैज्ञानिक है :-

ए धनि कमलिनि सुनुहित बानि।
प्रेम करबि जब सुपुरुष जानि।।

सुजनक क प्रेम हेम समनक।
दुहइत कनक दिगुन होय मूल ।।

दरबार का वातावरण अनुभव-समृद्धता के उपयुक्त होता है। बिहारी भी ऐसे ही अनुभव-समृद्ध कवि थे। विद्यापति ने भी अपनी संक्षिप्त उक्तियों में जीवन के सत्य की चमत्कार पूर्ण अभिव्यक्ति की है। उनकी कुछ चित्र-विचित्र उक्तियाँ इस प्रकार हैं :—–

१. 'अपन वेदन तिहि निवेदिय जे पर वेदन जान।'

(अपनी पीड़ा उन लोगों से निवेदित करो जो दूसरों की पीड़ा जानते हों।)

२. 'सुपुरुष बचन कबहुँ नहि विचलय
जओ विधि वामओ होई।'

(सुपुरुष अपने बचनों से विचलित नहीं होते चाहें ब्रह्मा (उनके) विरुद्ध क्यों न हो जाय।)

३. 'धनिक आदर सब तहँ होय।
निरधन बापुर पुछय न कोय ।।'

(धनिक का सब स्थान पर आदर होता है, निर्धन बेचारे को कोई नहीं पूछता।)

४. 'दुख सहि सहि सुख पाओल ना।'

(दुख सहने के उपरान्त ही सुख प्राप्त होता है।)

५. 'जकर हिरदय जतहि रतल
से धसि ततही जाए।
जइयो जतने बाँधि निरोधिए
नियन नीर थिराए ।।'

(जिसका हृदय जिसके प्रति अनुरक्त है वह उधर ही जायेगा; जल को चाहें जितने ही यत्नों से बांध कर रक्खो। वह नीचे स्थल की ओर ही जायेगा)

विद्यापति के काव्य में अलंकारों की प्रचुरता, अप्रस्तुत विधान वाग्वैदग्ध तथा उक्ति-वैचित्र्य की विविधता एवं बहुलता को देख कर ही श्री राम वाशिष्ठ लिखते हैं "विद्यापति जीवन के भी अच्छे पारखी

थे और साथ ही महान पण्डित भी। उनको संस्कृत के रीतिशास्त्र की परम्परा ने प्रभावित किया था, इसलिये उनमें अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। उत्प्रेक्षा और उपमा कवि के प्रिय अलंकार हैं। भाषा भी कवि के पांडित्य को प्रदर्शित करती है।……महाकवि विद्यापति जिस प्रकार एक उच्च कोटि के कवि थे उसी प्रकार उनकी अभिव्यंजना शक्ति भी उच्च कोटि की थी। भावों की अभिव्यक्ति को सुन्दरता देने में कवि ने सब प्रकार के कला के उपकरणों को जुटा दिया था। अलंकार भाषा, छन्द और उक्तियाँ सभी कुछ इस कला-शास्त्री के पास था।"

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विद्यापति के काव्य में रीतिकालीन शृंगार की धारा का अप्रहत वेग था, उसमें भक्तिकालीन उज्जवल भावोर्मियों का नितान्त अभाव था। इसके साथ ही विद्यापति के काव्य का बहिरँग भी भक्तिकालीन काव्य-सा नैसर्गिक न होकर रीतिकालीन कविता-सा कृत्रिम, प्रयत्न-साध्य एवं शैल्पिक सौन्दर्य से मंडित है। इस प्रकार यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है कि 'विद्यापति काव्य की दृष्टि से भक्तिकाल की अपेक्षा रीतिकाल के निकट हैं।' संक्षेप में हम कह सकते हैं कि विद्यापति में बिहारी आदि कवियों की भाँति ही आचार्यत्व और कवित्व का सामंजस्य प्राप्त होता है।

विद्यापति के काव्य में भक्ति-भावना गौण तथा पांडित्य और कलात्मकता की प्रधानता :—

उपर्युक्त विवेचन में देख चुके हैं कि विद्यापति आचार्य कवि थे। इस कोटि के कवि में भक्ति-भावना का प्राधान्य इतना नहीं होता जितना कि अभिव्यक्ति-सशक्तता का। फिर विद्यापति को तो कबीर, सूर प्रभृति कवियों की भाँति साधारण जनता के मध्य अपने पदों का गायन नहीं करना था, उन्हें तो अपने पांडित्य एवं कलात्मक-वैभव का प्रदर्शन करने के लिये अपने आश्रयदाता राजाओं की विद्वानों की गोष्ठियों में अपने पदों का गायन करना था। यही कारण है कि विद्यापति के काव्य में पांडित्य तथा कलात्मकता की प्रधानता पाई जाती है।

विद्यापति ने संस्कृत, अवहट्ट तथा मैथिल भाषा में लगभग १७ ग्रन्थों की रचना की। इनकी इस सम्पूर्ण काव्य-रचना में भक्ति-वर्णन

का प्रतिशत अत्यन्त नगण्य है। पदावली के अतिरिक्त शेष सोलह ग्रन्थों में से केवल तीन ग्रन्थ ही भक्ति-तत्त्व से सम्बन्धित हैं, जो इस प्रकार हैं :—

१. शैव सर्वस्वसार
२. गंगा वाक्यवली
३. दुर्गाभक्ति तरंगिणी।

इन तीनों ग्रन्थों में भक्ति-भावना के स्थान पर भक्ति-सिद्धान्त एवं विधि-विधानों का ही निरूपण हुआ है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त पदावली के कुछेक पदों में ही भक्ति-भावना है, शेष पदों में तो शृंगार का ही वर्णन है। पदावली में चित्रित भक्ति-भावना का चित्रण भी रीतिकालीन आचार्य कवियों की ही भाँति कलात्मक सौन्दर्य से परिवेष्टित है। यहां तक कि विद्यापति अपने हरिकीर्तन तक में अपने काव्यशास्त्रीय पांडित्य का प्रदर्शन करने से नहीं चूके हैं वह निम्न पद में अपने देव माधव के रूप-कीर्तन का वर्णन भी प्रतीप, व्यतिरेक, अनन्वय तथा काव्यलिंग अलंकारों की चक्रव्यूहात्मक पीठिका पर ही करते हैं :—

माधव कत तोर करब बड़ाई।
उपमा तोहर कहब ककरा हम, कहितहुँ अधिक लजाई॥
जौं श्री खंड सौरभ अतिदुरलभ तौ पुनि काठ कठोर।
जौं जगदीश निसाकर तो पुन एकहि पच्छ उजोर॥
मनि समान औरो नहिं दोसर तनिकर पाथर नामे।
कनक कदलि छोट लज्जित भएरह की कहु ठामहिं ठामे॥
तोहर सरिस एक तोहँ माधव मन होइछ अनुमान॥

यही नहीं जब वह जानकी की वन्दना करते हैं तब भी वन्दना के स्थान पर लक्षणा शक्ति के चमत्कार-प्रदर्शन में ही रत हो जाते हैं। यह रतता प्रयास-साध्य है तभी तो वह पद के अन्त में 'कवि के कवि कहँ कवि पहचान' कह कर अपनी काव्यशास्त्रीय श्रेष्ठता की घोषणा करते हैं। पूरा पद इस प्रकार है :—

रे नरनाह सतत भजु ताहि।
ताहि, नहिं जननि जनक नहिं जाहि॥
बसु नइहरा ससुरा के नाम।
जननिक सिर चढ़ि गेल बहि गाम॥

सासुक कोर में सुतल जमाय।
समधि बिलह तौ बिलहल जाय॥
जाहि ओदर से बाहर भेलि।
से पुनि पलटि ततय चलि गेलि॥
भन विद्यापति सुकबी भान।
कबि के कबि कहँ कबि पहचान॥

विद्यापति की यह जानकी-वन्दना केशव की गणेश-वन्दना की याद दिला देती है। यह भक्ति की ज्ञापना न होकर पांडित्य का प्रदर्शन ही है।

पदावली के अतिरिक्त विद्यापति का काव्य उनकी बहुज्ञता के प्रदर्शन का माध्यम था। विद्यापति ने कीर्तिलता, कीर्त्तिपताका और पुरुष-परीक्षा के द्वारा अपने ऐतिहासिक ज्ञान का परिचय दिया है। महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री के अनुसार तो प्रत्येक इतिहासवेत्ता को विद्यापति की 'पुरुष-परीक्षा अवश्य' पढ़नी चाहिए। उन्होंने अपने पौराणिक ज्ञान का परिचय 'शैव सर्वस्वसार' के द्वारा दिया है। यहाँ तक कि विद्यापति का विद्वान व्यक्तित्व 'भूगोल जैसे विषय तक को अपनी काव्य-परिधि में ले आया। 'भूपरिक्रमा' नामक ग्रंथ उनके भौगोलिक ज्ञान का साक्षी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'गंगा वाक्यावली', 'दानवाक्यावली', 'दुर्गा भक्तितरंगिणी', 'गयापत्तलक', और 'वर्षकृत्य' में अपने स्मृति-ज्ञान की अभिव्यक्ति की तथा 'विभवसार' में अपने अर्थशास्त्रीय ज्ञान का परिचय दिया। यही नहीं विद्यापति ने अपने काव्य में यत्र तत्र ही सूक्तियों के द्वारा अपने लोक ज्ञान एवं नीति-शास्त्रीय ज्ञान का भी सम्यक परिचय दिया है। आखिर काव्य की परिधि में इन सब ज्ञान-विज्ञानों की विवेचना विद्यापति ने किस प्रेरणा से की ? वह प्रेरणा स्पष्ट ही पांडित्य-प्रदर्शन की थी।

विद्यापति की पांडित्य-प्रदर्शना केवल काव्य के भाव-पक्ष तक ही सीमित नहीं रही, वरन् उन्होंने भाषाशास्त्रीय क्षेत्र में भी पांडित्य की घोषणा की। उन्होंने संस्कृत, अवहट्ट तथा मैथिली भाषाओं में अपने काव्य का प्रणयन किया। उन्हें अपनी काव्य-भाषा पर गर्व था। विद्यापति की निम्न गर्वोक्ति इस का स्पष्ट प्रमाण है :—

महुअर बुज्झइ कुसुम रस,
कव्व कलाउ छइल्ल।

सज्जन पर उअग्रार मन,
दुज्जन नाम मइल्ल ॥

(अर्थात् भौंरा ही फूलों के रस का मूल्य समझता है, कलाविज्ञ पुरुष ही काव्य का रस ले सकता है। सज्जन पुरुष का मन परोपकार में लीन रहता है, दुर्जन का मन मलिन रहता है)

विद्यापति को अपने भाषा पांडित्य पर अगाध विश्वास था, तभी तो वे अपने दुर्जन आलोचकों की किञ्चित् मात्र भी चिन्ता नहीं करते। उनका विश्वास था :—

बालचन्द विज्जावइ भाषा,
दुहु नहि लग्गहि दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सर सोहइ,
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ ॥

(अर्थात् बालचन्द्रमा और विद्यापति की भाषा पर दुर्जनों की हँसी नहीं लगती; (क्योंकि) वह (बालचन्द्रमा) शिव के शीश पर सुशोभित है और यह (विद्यापति की भाषा) नागरिकों का मन मोहती है)"

विद्यापति विनम्र भक्त नहीं थे, वे आत्माभिमानी पंडित थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने काव्य में अपने अनेक, उपनामों या उपाधियों का खुल कर प्रयोग किया है। यह उपाधियां हैं—अभिनव जयदेव, कवि शेखर, कविराज, कवि कंठहार, कवि रंजन, राजपडित, तथा दश अवधान। भक्ति-भाविल कवि को पांडित्य के अहंकार से-पूर्ण इन उपाधियों के प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं हो सकती! ऐसी उपाधियों का प्रयोग तो पांडित्य-अभिमान से बोझिल कवि ही कर सकता है। निश्चय ही विद्यापति ऐसे ही कवि थे।

पांडित्य के अतिरिक्त विद्यापति का काव्य कलात्मक सौन्दर्य से आपूर्ण है। उनका काव्य कल्पना की सुचारुता के इन्द्रधनुषी वैभव से सुसज्जित है। डा० विमलकुमार जैन का यह कथन विद्यापति की कलात्मक अनुप्रेरणा पर अच्छा प्रकाश डालता है "विद्यापति की कोमल कान्त पदावली प्रसिद्ध ही है। उनका एक एक पद मधु प्रवाही नद है जो प्रवल वेग से इस का संचार करता है। मंजुल, मृदुल, पेशल एवं स्निग्ध शब्दों की योजना की तरल ध्वनि से नवीन उत्प्रेक्षाओं की

उद्भावना जैसी इनकी पदावली में मिलती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ ही है ।"

उपर्युक्त विवेचन से यह सत्य ही प्रतीत होता है कि विद्यापति की कविता भक्ति-भावना की अपेक्षा पांडित्य और कलात्मकता से अधिक अनुप्राणित है ।

प्रश्न : ८. विद्यापति की उपमाएँ अनूठी और अछूती हैं, उनकी उत्पेक्षाएँ कल्पना के उत्कृष्ट विकास की उदाहरण हैं, रूपक का इन्होंने रूप खड़ा कर दिया है ।' इस कथन की विवेचना कीजिए ।

उत्तर :—

विद्यापति प्रेम एवं सौन्दर्य के महान् गायक कवि थे । विद्यापति के विषय में यह कहना सत्य होगा कि उनकी कविता की सृष्टि बिम्बों तथा चित्रों से हुई है । यह कहना किञ्चित मात्र भी अतिशयोक्ति पूर्ण न होगा कि यह कवि बिम्बों में ही सोचता है और अपने काव्यात्मक विचार को बिम्बों के माध्यम से ही अभिव्यक्त करता है । विद्यापति के काव्य में बिम्ब विधान का कारण है कि वे मानवीय सौन्दर्य को प्राकृतिक सौन्दर्य के श्रेष्ठ उपकरणों से सुलसित करना चाहते थे । इसी चाहना-भूमि पर उनकी कल्पना अलंकरण प्रधान हो गई । विद्यापति ने अपनी पदावली में अलंकार-विधान बड़े ही सुन्दर ढंग से सम्पन्न किया है । उन्होंने अपने काव्य के वर्ण्य-विषय का पूरा-पूरा सजीव चित्र देने के लिए बाह्य जगत और अपने कल्पना-लोक की अनेक अप्रस्तुत वस्तुओं की संयोजना की । इस संयोजना ने विद्यापति के काव्य को अभिनव सोन्दर्य का मनोहारी स्पर्श प्रदान किया है । इस कवि ने औचित्य की सीमा में अलंकारों का प्रयोग किया है । इनके अलंकार भावों को उद्दीप्त कर वर्ण्यवस्तु के प्रभाव को घनीभूत कर देते हैं । इन्होंने विशेष रूप से सादृश्य-मूलक अलंकारों का प्रयोग कर अपनी काव्य-वस्तु के सौन्दर्य का इतना तरलतापूर्ण चित्राँकन किया है कि पाठक उसकी अनुभूति की तन्मयता में स्थित हो जाता है ।

विद्यापति की उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक की अलंकार-त्रयी सुप्रसिद्ध है। ये तीनों ही अर्थालंकारों के साम्यमूलक वर्ग के हैं। इसमें उपमा-भेद-प्रधान साम्यमूलक, रूपक अभेद-प्रधान साम्य-मूलक तथा उत्प्रेक्षा प्रतीति प्रधान साम्मूलक है।

विद्यापति उपमाओं के यशस्वी कवि थे। उन्होंने सादृश्य का द्योतन करने के लिये उपमाओं से सहायता ली। इस कवि ने उपमाओं के माध्यम से अपने काव्य के मानवीय सौन्दर्य को प्रकृति की अतुलित सुषमा-राशि से सुसज्जित किया है। विद्यापति की उपमा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की स्वाभाविक सृष्टि है। यह सृष्टि सौन्दर्य की इन्द्रजालिक मंजूषा है, जिसमें से पल-पल में सौन्दर्य के नवल-नवल रूप-रंग व्यामोहक आभा लेकर अवतरित होते रहते हैं। विद्यापति की उपमा के इसी गुण से भावाभिभूत होकर बंगला के सुप्रसिद्ध समालोचक श्री दिनेशचन्द्र सेन ने अपने ग्रंथ "बंग-भाषा ओ साहित्य" में लिखा है कि "भारतवर्ष में उपमा का यह यश केवल कालिदास को प्राप्त है। यदि किसी द्वितीय व्यक्ति का नाम लेना हो तो किसी को विद्यापति के नाम पर आपत्ति नहीं होगी। विद्यापति की राधा सौन्दर्य समूह की चित्रपटी है। उनके विरह अश्रुओं से सिक्त होकर कवि की कविता, उपमा और सौन्दर्य सब कुछ नवल मेघ की आभा धारण करता है।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि विद्यापति की उपमा कविता के रसमय नूतन सौन्दर्य से मंडित है। हम विद्यापति को हिन्दी का उपमा सम्राट भी कह सकते हैं।

विद्यापति के उपमोद्यान की शोभा निराली है, वहां चित्र-विचित्र रूप-रंगों के सुन्दर सुन्दर पुष्प विकसित हैं। नारी की सम्पूर्ण देह -यष्टि विद्यापति के लिये 'कनकलता' सी लगती है। इस उपमा में नारी के यौवन की स्वर्णश्री तथा कोमलता की समन्विति हुई है।

राधिका कृष्ण के यौवन-चपल स्वप्निल सौन्दर्य को देखती है। कृष्ण श्यामल शरीर पर पीताम्बर धारण किये हुए हैं। लेकिन उपमा-यशस्वी हिन्दी के कालिदास विद्यापति ने इस साधारण से उपमेय में असाधारण प्राकृतिक उपमान की प्रतिच्छवि देखली, तभी तो उनकी राधा कह उठती है :—

कि कहब हे सखि कानुक रूप।
के पतिआएत सपन सरूप॥

अभिनव जलधर सुन्दर देह ।
पीत बसन पर दामिनि रेह ।।

इस उपमा में कृष्ण का यौवन-स्निग्ध वर्ण, भूषा एवं चापल्य इन तीनों का संगम हो गया है। विद्यापति की उपमाएँ सादृश्य-भूमि पर उपमेय का अलौकिक चित्रण करती हैं। इस प्रकार के चित्रण का उदाहरण है :—

जोरि भुज जुग मोरि बेड़ल
ततहि बदन सुछन्द ।
दाम चम्पक काम पूजल
जइसे सारद चन्द ।।

इसमें नायिका दोनों बाहों को मोड़ कर उसमें अपने सुन्दर मुख को छिपा लेती है। बस इतनी-सी बात में विद्यापति की करामात तो देखिये..... यह करामात उनकी उच्च कल्पना शक्ति के वैभव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। नायिका के उपर्युक्त भंगिमा पूर्ण छवि की विद्यापति द्वारा चित्रित प्रतिच्छवि कितनी मानसिक और मोहक है। इस कवि को ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे कामदेव चम्पा के फूलों की माला से (चम्पकवर्णी भुजायें) शरद्-चन्द्र (राधा का मुख) की पूजा कर रहा हो।

विद्यापति उपमाओं के रथ पर चढ़ कर सुदूर की भावानुभूतियों को पकड़ कर रूप-सादृश्य की भूमि पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। सहज सुन्दर पंकज रूपिणी सुन्दरी को देख कर किसके नेत्र उसकी जाने वाली दिशा की ओर प्रधावित नहीं होंगे। लेकिन उपमा के आश्रय से इस कवि ने अनुगमन करने वाले नेत्रों में 'भिरवारि' तथा पंकजरूपिणी नारी में 'कृपनक' के दर्शन कर एक नितान्त मौलिक सादृश्य दृश्य का अंकन इस प्रकार कर दिया है :—

ततहि धावल दुइ लोचन रे,
जतहि गेलि बर नारि ।
आसा लुबुध न तेजए रे,
कृपनक पाछु भिरवारि ।।

विद्यापति की उपमा में अनूठापन है। उन्होंने अपनी उपमाओं में मानव-हृदय के उपेक्षादि नाना भावों को जिस रूप में भर दिया है,

वह हिन्दी के लिये दुर्लभ है। कृष्ण राधिका से रूठे हुए हैं, उस अपूर्व सुन्दरी की ओर देखते तक नहीं। हमारे इस उपमा के जादूगर ने राधिका के प्रिय-उपेक्षा-जनित क्षोभ को जनश्रुति के सत्य से पोषित उपमा के माध्यम से अत्यन्त सकरुण अभिव्यक्ति दी है। राधा चीत्कार के स्वरों में कह उठती है :—

का हम सांझक एक सरि तारा
भादव चौठिक ससी।
इथि दुह माझ कओन मोर आनन
जे पहु हेरसि न हँसी॥

इसी प्रकार कवि ने राधिका के विरह के महाभाव—स्व-चैतन्य की आत्यन्तिक विस्मृति, को अत्यन्त अनूठे ढंग से उपमा की भूमि पर इस प्रकार व्यंजित किया है :—

अनुखन माधव माधव सुमिरत सुन्दरि भेलि मधाई।
× × ×
राधा सयँ जब पुनतहिं माधव माधव सयँ जब राधा।
दारुन पेम तवहिं नहिं टूटत बाढ़त विरहक बाधा॥
दुहु दिसि दारु दहन जैसे दघदइ आकुल कीट परान।
ऐसन वल्लभ हेरि सुधामुखि कवि विद्यापति भान॥

डा० गुणानन्द जुआल के अनुसार "दुहुदिसि दारु-दहन और कीट परान" कवि का सूक्ष्म पर्यवेक्षण प्रकट करता है। इस उपमा के द्वारा विद्यापति ने क्रिया-साम्य, रूप साम्य और सबसे बढ़ कर भाव-साम्य को एक स्थान पर उपस्थित करके राधिका की करुण-विवश प्रज्वलनता की सफल अभिव्यक्ति की है। इसमें सन्देह नहीं कि विद्यापति की उपमा का सौन्दर्य अनूठा और अछूता है। पं० शिवनन्दन ठाकुर का यह मत विद्यापति के उपमा-सौन्दर्य का पूर्ण उद्घाटन कर देता है :—"पृथ्वी के पथार्थों में परस्पर भेद होने पर भी उनमें एक अच्छेद्य संबन्ध है। चम्पा का फूल सूंघने पर विहाग रागिणी याद आ सकती है। इस सम्बन्ध का निर्णय करना विज्ञान की शक्ति के बाहर है। यह मन की एक विलक्षण शक्ति है जिसके द्वारा उस एकत्व की प्रतीति होती है। आँख, कान, आदि की तरह उस शक्ति का कोई नाम नहीं है। केवल उपमा द्वारा उस शक्ति की अभिव्यक्ति* होती है।

विद्यापति की यह इन्द्रिय बहुत तीक्ष्ण थी। जिस प्रकार साधारण तृण पल्लव से उत्कृष्ट औषधि का आविष्कार किया जाता है उसी प्रकार विद्यापति ने भी चराचर दृश्य सौन्दर्य का आविष्कार किया था। (कदाचित यह आविष्कार विद्यापति की उपमा शक्ति के कारण ही सम्भव हुआ—लेखक) भारतवर्ष में उपमा के यश के लिए कालिदास का एकाधिपत्य है। यदि कवि-संसार को आपत्ति नहीं हो कि इसमें कालिदास के अतिरिक्त किसी दूसरे कवि को भी थोड़ा हिस्सा मिले तो इस अवसर पर विद्यापति का नाम लेना अर्थात् विद्यापति को भारतवर्ष में उपमा का द्वितीय सिद्धहस्त कवि कहना असंगत नहीं होगा।"

उपमा के उपरान्त पदावली में विद्यापति की काव्य-प्रतिभा का सर्वाधिक प्रस्फुटन उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा हुआ है। विद्यापति की कल्पना उत्प्रेक्षा-गगन में निर्बाध होकर अपनी मनोरम उड़ान भरती है और इस उड़ान के द्वारा वह धरती पर दिव्य सौन्दर्य की अवतारणा भी करती है। कभी-कभी तो इनकी उत्प्रेक्षा-हंसनि उपमा-सरोवर में मन्थर गति से तैरने लगती है। एक स्थान पर इस कवि ने 'शुक्लाभिसारिका' का वर्णन करते समय चन्द्रज्योत्स्ना के प्रकाश में लक्षित होने वाली उसकी रूप रेखा एवं गति का चित्रण बड़ी सुन्दरता के साथ किया है।' विद्यापति ने केवल—

'दूध समुद जनि राजमरालि।'

मात्र ही कहकर, वहाँ पर सुन्दर एवं सहज, भावों की सृष्टि कर दी है। चारों ओर धवल तथा शुभ्र चन्द्रिका इस प्रकार छिटकी हुई है, कि मानो दुग्ध का सागर सारी ही दिशाओं में परिव्याप्त हो और उससे होकर श्वेत आवरजित नायिका इस प्रकार चली ा रही है। कि मानो क्षीर-सागर में कोई राज-हंसनि मन्थर-मन्थर गति से चली जा रही हो। शुक्लाभिसारिका के इस वर्णन में कल्पना की मनोहारिता सराहनीय है। श्री परशुराम चतुर्वेदी उत्प्रेक्षा की इसी मनोहारिता पर रीझते हुए लिखते हैं कि "जान पड़ता है, विद्यापति ने प्राचीन समय से प्रयोग में आने वाली सामग्री का व्यवहार करते समय भी सदा इस बात को ध्यान में रक्खा है कि जहाँ तक हो सके, उसमें किसी न किसी प्रकार की विलक्षणता का भी आविर्भाव अवश्य हो जाय और इस प्रकार, उसके द्वारा लक्षित होने वाला चमत्कार कई गुना बढ़ सके।"

व्यान रखने की इस प्रक्रिया में ही विद्यापति की कल्पना का उत्प्रेक्षा में उत्कृष्ट विकास हुआ है।

विद्यापति की उत्प्रेक्षा में प्रभाव-साहृश्य का विधान हुआ है। उपमा में अधिकतर, कवि की दृष्टि रूप साहृश्य पर रहती है, और उत्प्रेक्षा में प्रभाव-विधान पर। पदावली में उत्प्रेक्षाओं की बहुरंगी सृष्टि है। इनके ही बल पर कवि ने वर्ण-गन्ध और नाट्य का संगम प्रस्तुत किया। विद्यापति की उत्प्रेक्षा में वास्तविक अप्रस्तुत विधान एव कवि-कल्पित अप्रस्तुत विधान दोनों का ही आश्रय लिया गया है। सद्य:स्नाता की चिकुर-राशि से जलधारा गिर रही है, इस दृश्य में हमारा यह कवि वास्तविक अप्रस्तुत की सहायता से एक विराट दृश्य की उत्प्रेक्षा का विधायन करता हुआ कह उठता है :—

चिकुर गरए जलधारा।
जनि मुख-ससि डर रोअए अंधारा॥

उक्त पंक्ति में चन्द्रमा के डर से अन्धकार के रोने की कल्पना अत्यन्त सजीव एवं सहृदयता पूर्ण है।

विद्यापति ने इसी उत्प्रेक्षा के बल पर जो सद्य:स्नाता का निम्नलिखित चित्र खींचा है उसमें रूप-रेखाएँ, दृश्य की अर्द्र स्पर्शिलता, रंगों की उत्तेजक गहराई आदि सबही मूर्त हो उठी हैं :—

केस निगारइत बह जलधारा।
चमर गरए जनि मोतिम हारा॥
अलकहि तीतल तें अति सोभा।
अलि कुल कमल बेढल मधुलोभा॥
नीर निरंजन लोचन राता।
सिंदुर मंडित जनि पंकज पाता॥
सजल चीर रह पयोधर सीमा।
कनक बेल जनि पड़ि गेल हीमा॥

इनमें 'नीर निरंजन लोचन राता' की 'सिंदूर मंडित जनि पंकज पाता' उत्प्रेक्षा विद्यापति की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति की परिचायक है। कुछ देर जल में डुबकी लगाने के उपरान्त काजल धुल जाता है और आँखों में यह एक विलक्षण लालिमा आ जाती है, इसके विषय में यह उत्प्रेक्षा बिल्कुल यथार्थ प्रतीत होती है। उत्प्रेक्षाओं के उपर्युक्त चतुर्भुज में

सुशोभित सद्य:स्नाता का चित्र विद्यापति की कल्पना की उत्कृष्टता का प्रमाण है।

कभी-कभी विद्यापति की उत्प्रेक्षा में कल्पना की मादकता में डूब कर पाठक को नींद की खुमारी-सी आने लगती है। राधिका ने अपने दोनों हाथों से अपने पयोधरों को ढंक लिया, बस क्या था, हमारे इस कल्पना विलासी कवि ने नायिका की इस भंगिमा में प्रभात कालीन उन्मादक दृश्यमयता की परिचित्रणा करदी :—

कर जुग पिहित पयोधर अंचल
चंचल देखि चित भेला।
हेम कमल जनि अरुनित चंचल
मिहिर तले निंद गेला॥

विद्यापति की उत्प्रेक्षा-हरिणि कल्पना इतनी ऊंची उड़ान भरती है कि हम ठगे-से उसे देखते ही रह जाते हैं। इस उड़ान में वे सौन्दर्य की वासना में भक्ति की आराधना तक की सृष्टि कर बैठते हैं। उदाहरण इस प्रकार है :—

गिरबर गरुअ पयोधर-परसित
गिम गज मोतिक हारा।
काम-कम्बु भरि कनक-संभु परि
ढारत सुरसरि धारा॥

अर्थात् उसके पर्वत जैसे उन्नत, भारी उरोजों को स्पर्श करती हुआ कंठ में गज-मुक्ताओं का हार लटक रहा है, ऐसा प्रतीत होता है मानो कामदेव उस रमणी के ग्रीवा रूपी शँख में मुक्ता हार के रूप में गंगाजल भर कर यौवन-रक्तिम उरोज रूपी स्वर्ण-शिव पर उस गंगाजल की धार को ढार कर उपासना कर रहा हो। दिव्य-सौन्दर्य की दिव्य-आराधना, यह है विद्यापति की उत्प्रेक्षा का कमाल।

विद्यापति जब सौन्दर्य-दृश्य की अविर्चनीयता का वर्णन करना चाहते हैं तो कल्पनाप्रसूत अप्रस्तुत की सहायता लेते हैं। केश-राशि संभारित सुन्दर मुख पर सिंदुर की बिन्दु की शोभा कवि के लिए अतुलित है, तभी तो उनकी उत्प्रेक्षा अलौकिक दृश्य का विधायन इस प्रकार कर बैठती है :—

सुन्दर बदन सिंदुर बिन्दु
सामर चिकुर भार।

जनि रबि—ससि संगहि ऊगल
पाछ कय अँधकार ।।

अन्तिम पंक्तियों में राहु को पीछे धकेल कर सूर्य और चन्द्रमा के साथ-साथ उदित होने की कल्पना कितनी वायवी है । लेकिन कल्पना की इस वायवीयता से सम्पूर्ण मुख-मंडल की अतुलित छवि के दृश्य का मनोहारी अंकन हुआ है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति की उत्प्रेक्षा-सृष्टि में कल्पना अपने-सुन्दरतम विकास का परिचय देती है ।

विद्यापति की पदावली का तृतीय महत्त्वपूर्ण अलंकार रूपक है । इस कवि ने अपनी रूपक-नगरी को रूप के संश्लिष्ट चित्रों से सुसज्जित किया है । रूपक अभेद-प्रधान साम्यमूलक अलंकार है । इसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत के रूप गुण आदि के साम्य के आधार पर उनमें अभेद की मान्यता कर ली जाती है । इसी अभेद के कारण रूपक में रूप की आकारिल सजीवता अंकित हो जाती है । विद्यापति के रूपकों में प्रस्तुत- अप्रस्तुत का सुन्दर सामंजस्य हुआ है, ये रूपक उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति तथा कलाविषयक सौन्दर्यपरक दृष्टि के परिचायक हैं । पदावली के प्रस्तुत रूपक में कल्पना भाव एवं कला की समन्विति से रूप-सौन्दर्य की एक प्रतिमा-सी खड़ी हो गई हैं :—

माधव की कहव सुन्दरि रूपे ।
कतेक जतन बिहि आनि समारल देखल नयन सरूपे ।।
पल्लबराज चरन-जुग सोभित गति गजराज क भाने ।
कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने ।।
मेरु ऊपर दुइ कमल फुलायल नाल बिना रुचि पाई ।
मनिमय हार धार बहु सुरसरि तओ नहिं कमल सुखाई
अधर बिंबसन दसन दाड़िम-बिजु रवि ससि उगथिक पासे ।
राहु दूर बस नियर न आवथि तैं नहिं करथि गरासे ।।
सारंग नयन बयन पुनि सारंग सारंग तसु समधाने ।
सारंग उपरि उगल दस सारंग केलि करथि मधुपाने ।।

इस पद में विभिन्न प्राकृतिक उपमानों ने नायिका के अंग-प्रत्यंगों से अभेदता स्थापित कर रूपक की अत्यन्त मनोहारिणी नगरी की स्थापना की है । इस नगरी के प्रांगण में मानव- सुन्दरि प्रकृति-

सुन्दरी की तरलआभा से सुलसित दीख पड़ती है। विद्यापति के रूपक की इस शैली से सूरदास भी प्रभावित हुये हैं।

विद्यापति के रूपक की महिमा भी निराली है। उनके रूपक की नगरी में विरहिणी साक्षात यज्ञरता तपस्विनी के रूप में दीखती है, वह नयन-नीर-सरिता पर स्नान करती है—उसका सारा जीवन ही अश्रुमय है। मृणाल जैसी भुजाओं की माला बनाकर अपने प्रिय देव का नाम-कर्त्तिन करती है—अश्रुपूर्ण प्रिय-स्मरण की यह व्यंजना कितनी सार्थक है उसके हृदय की वेदिका में काम की अग्नि प्रज्वलित है और उसमें प्राणों की समिधा जल रही है, स्मरण की आरती है। साँग रूपक द्वारा चित्रित विरहिणी का तपस्या-साध्य यह रूप कितना सजीव है :—

लोचन नीर तटिनि निरमाने।
करए कलामुखि ततहि सनाने।।
सरस मृनाल करए जपमाली।
अहनिसि जप हरिनाम तोहारी।।
बृन्दाबन कानु धनि तप करई।
हृदय वेदि मदनानल बरई।।
जित्र कर समिध समर कर आगी।
करति होम बध होएबह भागी।।

विद्यापति की कल्पना-चातुरी शिशिर और वसन्त की सन्धि-बेला को न्यायालय का रूप प्रदान कर देती है। इस न्यायालय में शिशिर लौर वसन्त वादी और प्रतिवादी के रूप में खड़े हैं, सूर्य मध्यस्थ न्यायाधीश है, पवन वकील और कोयल साक्षी हैं, नवपल्लव [वसन्त के पक्ष के] निर्णय-पत्र हैं और भ्रमरों की पंक्ति उस निर्णय-पत्र के अक्षर हैं। न्यायालय का कितना साँगोपाँग वर्णन है इस सांग रूपक में :—

माइ हे सीत-बसन्त बिबाद।
कओन बिचारब जय अबसाद।।
दुइ दिसि मधथ दिबाकर भेल।
दुजबर कोकिअ साखी देल।।
नब पल्लब जय पत्रक भांति।
मधुकर माला आखर पाँति।।

यहीं नहीं सांगरूपक और आगे बढ़ा। पराजित शिशिर भाग

गया और वसन्त की विजय की घोषणा चारो ओर खिली कुन्द कलियाँ करने लगीं :—

> बादी तह प्रतिबादी भीत ।
> सिसर बिन्दु हो अन्तर सीत
> कुन्द कुसुम अनुपम बिकसंत ।
> सतत जीत बेकताओ बसन्त ।।

विद्यापति के रूपकों में नायिका के गोपन अंगों तक का मनोरम संसार वन्दी हो गया है। युवती की गंभीर नाभि से निःस्तत रोमावली कुचों के सन्धि-स्थल पर समाप्त हो जाती है। बात साधारण सी है, किन्तु विद्यापति ने उत्प्रेक्षा-पुष्ट रूपक के द्वारा रोमावली में सर्पिणी की, नाभि में विवर की, नाक में खगपति की, कुचों में गिरि की असाधारण सृष्टि कर डाली और कुच-सन्धि पर रोमावली के समाप्त होने के सहज सत्य में सर्पिणी के खगपति के भय से छिपने की कल्पना भी कर डाली। कितना मनोरम रूपक विधान है यह :—

> नाभि विबर सँय रोम लतावलि,
> भुजगि निसास-पियासा ।
> नासा खगपति-चंचु भरम-भय,
> कुचगिरि संधि निवासा ।।

ऐसा ही एक मनोरम रूप है 'कंचल गढ़ल हृदय हथिसार' का इसमें विद्यापति ने नायिका के हृदय को हस्थिशाला का वास्तविक रूप प्रदान कर दिया है। तभी तो हृदय की इस हस्थिशाला में पयोधर-स्तम्भों, लज्जा, शृंखला, यौवन-हाथी, कामदेव-मदजल, प्रियतम-अंकुश और मन-चोर का चित्र-विचित्र विधान हुआ है। नारी की देहयष्टि में इस हस्थिशाला की मूर्तवत्ता विद्यापति की रूपकीय कल्पना की ही विशेषता है :—

> कंचन गढ़ल हृदय हथिसार ।
> ते थिर थभ पयोधर भार ।।
> लाज सिकर धर दृढ़कए गोए ।
> आनक बचन हलह जनु कोए ।।
> दूर कर अगे सखि चिंता आन ।
> जौवन-हाथि करिए अवधान ।।

मनसिज मदजल जश्रो उमताए ।
धरिहसि पिअतग आँकुस लाए ।।
जावे न सुमत तावे अगोर ।
मुसइत मनिहसि मानस चोर ।।

अस्तु, उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विद्यापति का उपमोद्यान अनूठा, उत्प्रेक्षा-गगन कल्पना के उत्कृष्ट विकास से आपूरित है और साथ ही उनकी रूपक-नगरी में जीवन्त दृश्यमयता का विधान भी हुआ है। विद्यापति इस अलंकार-त्रयी के सिद्ध कलाकार थे। इन अलंकारों के माध्यम से विद्यापति ने अपने काव्य को अपूर्व माधुरी से भर दिया है।

प्रश्न : ६. विद्यापति की पदावली की भाषा के साहित्यिक सौन्दर्य का उद्‌घाटन कीजिए। साथ ही यह भी बताइए कि उसे हिन्दी मानना कहाँ तक उचित होगा।

उत्तर :—

श्रेष्ठ काव्य अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही पक्षों के सन्तुलन में निवास करता है। काव्य में भाषा का एक विशिष्ट महत्त्व है। भाषा काव्य के अंतरंग की वाहिका होती है। श्री लालधर त्रिपाठी के अनुसार "भाषा की मृदुल शैय्या पर भाव रोते, हंसते, जागते, सोते, किलकते तथा करवटें बदलते हैं।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि भाषा काव्य का प्रवेश-द्वार है और प्रवेश-द्वार की आकर्षणमयता एवं मोहकता ही पाठक या दर्शक को प्रथम निमंत्रण देती है। यही कारण है कि संस्कृत काव्याचार्यों ने माधुर्य को काव्य-भाषा का प्रथम गुण माना है। काव्य प्रकाश में उल्लखित गुण-त्रयी में माधुर्य ही आदि में स्थित है—'माधुर्योजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते'। आचार्य मम्मत ने काव्य का प्रयोजन 'कान्तासम्मितयोपदेशयुजे' के सूत्र में विवेचित किया। पत्नी का उपदेश माधुर्य का दिव्य संगीत है। मराठी के प्रसिद्ध लेखक

श्री 'चिपलूणकर' ने भी भाषा के माधुर्य को महत्त्व देते हुए लिखा है कि "इसके सिवा जो और रह गई अर्थात् पद लालित्य, मृदुता, मधुरता इत्यादि, सो सब प्रकार से गौण ही है। ये सब काव्य की शोभा निःसन्देह बढ़ाती हैं, पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि काव्य की शोभा इन्हीं पर है।.. ...उक्त गुणों को अप्रधान कहने में हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि काव्य के लिये उनकी आवश्यकता नहीं है।......सत्काव्य से यदि उनका संयोग हो जाय, तो उसकी रमणीयता को वे बढ़ा देते हैं।......सर्वसाधारण के मनोरञ्जनार्थ रत्न को जैसे कुन्दन में खचित करना पड़ता है, वैसे ही काव्य को उक्त गुणों से अवश्य अलंकृत करना चाहिये।" अंगरेजी कवि टेनीसन भी काव्य में सुन्दर शब्दों के आकर्षणपूर्ण महत्त्व को बतलाता हुआ कहता है—All the charms of all the muses often flowing in a lovely word. स्वयं हेजलिट् भाषा की प्रभावमयता की विवेचना करते हुये कहता है—The ear indeed predominates over the eye, because it is more immediately affected and because the language of music blends more immediately with, and forms a more natural accompaniment to, the variable and indefinite associations of ideas conveyed by words. अर्थात् यह कर्णों की प्रधानता स्वर-माधुरी के कारण ही है। इस सब का निष्कर्ष यह है कि माधुर्य काव्य भाषा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण है। और यह विद्यापति की भाषा में प्रचुरता से पाया जाता है। श्री हरवंशलाल शर्मा के अनुसार "विद्यापति के मैथिलकोकिलत्व' में उनकी भाषा की मधुरिमा का बड़ा भारी योग है।"

विद्यापति के काव्य की मूलात्मा प्रेममयी सौन्दर्य-भावना है। प्रेम और सौन्दर्य माधुर्य के प्रतिष्ठान हैं। यही कारण है कि विद्यापति की भाषा भी मधुरता-लसित हो गई है। महाकवि पोप के अनुसार 'The sound must seem an echo to the sense. (अर्थात् [शब्दों की] ध्वनि भाव की प्रतिध्वनि होनी चाहिये।) विद्यापति की भाषा के विषय में यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है। उनकी भाषा में शृंगार रस के उपयुक्त लकारान्त शब्दों का प्रयोग मिलता है। 'गेल' 'लेल' 'किएल', 'समारल' 'अरुझाइल', 'फुलायल' ' ऊगल'

'आदि शब्दों के प्रयोग से पदावली की भाषा में यत्र-तत्र-सर्वत्र ही माधुर्य का निर्झरण होता रहता है।

सैसब जौबन दरसन भेल।
दुह दल बले दंद परिगेल ॥
× × ×
किछु किछु उतपति अंकर भेल।
चरन चपल-गति लोचन लेल ॥

विद्यापति की भाषा लोक भाषा है। लोक भाषा में आत्मा के अकृत्रिम माधुर्य की प्रवाहित अभिव्यक्ति होती है। हमारे इस मैथिल कोकिल की काकली में मधुरता की मोहकता पाई जाती है। 'रे' की टेक पर आधारित इस गीत की मधुरता दृष्टव्य है :—

मोरा अंगनवा चनन केरि गछिया
ताहि चढ़ि कुररय काग रे।
सोने चोंच बाँधि देब तोयें बायस
जओं पिया आबत आज रे ॥
गावह सखि सब झूमर लोरी,
मयन अराधन जाऊं रे।
चओदिस चम्पा मओली फूललि,
चान उजोरिया राति रे ॥

इस गीत में 'अंगनवा', 'गछिया', 'झूमर लोरी', 'मयन अराधन', 'फूललि', तथा 'उजोरिया' शब्दों से नारी के प्रिय-आगमन-उल्लसित हृदय की मधुरिमा की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

विद्यापति की भाषा में संगीतात्मकता प्राण-तत्त्व के रूप में परिव्याप्त है। इनके काव्य में स्वर-संगीत एवं शब्द-संगीत दोनों ही पाये जाते हैं। श्री देशराज भाटी के अनुसार "संगीतात्मकता तो विद्यापति की भाषा के प्राण हैं। कोमलकान्त पदावली शृंगार रस के नितान्त अनुकूल है जिन्हें लय के रेशमी धागों से अत्यन्त कौशल के साथ जोड़ा गया है। भाषा में कहीं भी न तो कर्कशता है और न अवरुद्धता। यह संगीत शास्त्रीय विधानों का नहीं, धड़कनों की स्वाभाविक थिरकनों का है। पदावली में यह थिरकनें आद्यान्त हैं।" विद्यापति के पदों में संगीत के कलछलमय निर्झरों का गायन फूट-फूट

पड़ता है। इस गायन में भावनाओं की चित्रात्मक अभिव्यक्ति होती है। उदाहरण के लिये :—

> नन्दक कानन कदुम्बक तरु-तर
> धिरे धिरे मुरलि बजाय।
> समय संकेत-निकेतन बसइल
> बेरि बेरि बोल पठाय॥

श्री देशराज भाटी ने इन पक्तियों के स्वर-संगीत, शब्द संगीत और भाव-सौन्दर्य की मनोरम व्याख्या प्रस्तुत की है। हम उसको उद्धृत करने का लोभ-संवरण नहीं कर सकते। "यमुना-तट पर संकेत-स्थल पर बैठे कृष्ण अभिसारिका राधा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। 'नन्दक नन्दन' शब्द कृष्ण के व्यक्तित्व का परिचायक है। इससे कृष्ण के मदोन्मत्त यौवन, यौवन में मचलती हुई अपरिमित सुनहली कामनाएँ और देह-गठन की कोमलता ध्वनित है। 'धिरे धिरे' में कृष्ण की आकुलता और समाज-भीरुता मुखरित है। ऐसा लगता है जैसे कृष्ण की आतुरता उन्हें वंशी बजाने को विवश कर रही हो, पर समाज के बन्धन उस आतुरता का गला दबोच रहे हों। मानस की अदम्य आतुरता और समाज-बन्धनों की कठोरता का भीषण द्वन्द धीरे-धीरे मुरली बजाने से व्यंजित है। 'बेरि बेरि बाल पठाब' में तो आतुरता अपनी चरम कोटि पर ही पहुंच जाती है। बन्धनों की छातियों पर धड़कनों का इतिहास लिखना प्रेमी के लिए कोई नई बात नहीं है। कहीं भी कोई शब्द न तो अनावश्यक है और न कठोर ही। प्रेम के मंजुल सपनों की भांति वाक्य-विन्यास भी मंजुल है और संगीत भी मधुर।" भाषा की इस सांगीतिक मधुरता ने विद्यापति की पदावली को अमरता प्रदान की है। भाषा के इसी माधुर्य की प्रशंसा करते हुए पं० परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं कि उनकी शब्द-चयन विषयक सफलता, शब्द-विन्यास की निपुणता, शब्द-चित्रण-चातुरी तथा, इनके साथ ही, तज्जनित एक विलक्षण पद्य-प्रवाह इनकी कविता को पूर्ण रूप से सजाकर उसे ललित एवं गीतिमय बना देते हैं। इनके पदों में संगीत है, सौन्दर्य है, और एक ऐसा माधुर्य है जिससे सहसा आकृष्ट होकर हम उनके द्वारा व्यक्त किए गए भावों को हृदयंगम करते समय उन्हें बार-बार दुहराने वा गुनगुनाने से लगते हैं और प्रत्येक शब्द की विशेष अनुरूपता हमें उन्हें अपनाने के लिए वाध्य करने लगती है।"

विद्यापति की भाषा में चित्रांकन की अद्भुत क्षमता है। भाषा की इसी क्षमता के कारण इनकी कविता शृंगारिक जीवन की शब्दों की फिल्म सी बन गई है। पदावली की भाषा का शाब्दिक-शिल्प सुन्दर है। इसी के कारण विद्यापति के वर्णन पाठकों और श्रोताओं के नयनों के सामने तैरने से लगते हैं। उदाहरण के लिये :—

चिकुर गरए जलधारा।
जनि मुख-ससि डर रोअए अंधारा।

कुच जुग चारु चकेवा।
निज कुलआनि मिलअ कौन देवा॥
ते संका भुज पासे।
बांधि धएल उड़ि जाएत आकासे॥

में नहाती हुई रमणी का पूरा चित्र अंकित हो जाता है, जिसके बालों से पानी झर रहा है और जो लज्जा के कारण अपने दोनों हाथों से वक्ष-प्रदेश को छिपा लेती है। कितनी मुखर प्रतिमा है यह सद्य:स्नाता की।

विद्यापति की पदावली की भाषा में अनुप्रासों की बहुलता है। अनुप्रासों के प्रयोग से इनके काव्य में एक अपूर्व प्रवाहशीलता, संगीतमयता एवं गतिमयता का सौन्दर्य-संगम समुपस्थित हुआ है। विद्यापति के इस विषय में आदर्श पीयूषवर्षी जयदेव थे। हमारे इस आलोच्य कवि की काव्य-सरिता में भी अनुप्रास की मनोहर तरगों की किलोलें हैं। निम्न पंक्तियों में अनुप्रास की संगीत-माधुरी दृष्टव्य है :-

कमल मिलल दल मधुप चतल
घर विहग गहल निज ठामे
अरे रे पथिक जन थिर रे करिअ
मन वड पांतर दुर गामे॥

इस कवि की भाषा की आनुप्रासिकता की शक्ति असीमित है। पदावली के अनुप्रासों में वाद्य-यत्रों की विशिष्ट-विशिष्ट ध्वनियां भी ध्वनित होने लगती हैं। प्रस्तुत उदाहरण में अनुप्रास-भूमि पर विभिन्न वाद्य-यंत्रों की ध्वनियों के द्वारा वसन्त की मोहक राग-रंगिलता का कितना तरलतापूर्ण अंकन हुआ है :—

बाजत द्रिग द्रिग धौद्रिम द्रिमिया
नटति कलाबति माति श्यान संग

कर करताल प्रबंधक ध्वनिया ।।
डम डम डफ डिमिक डिम मादल
रुनझुन मजीर बोल
किंकिनी रन रनि बलआ कनकनि
निधुवन राम तुमुल उतरोल ।।
बीन, रबाब, मुरज स्वर मंडल
सा रि ग म प ध नि स बहु विधिभाव
घटिता घटिता धुनि मृदंग गरजनि
चंचल स्वर मंडल करु राब ।।

अनुप्रास एवं अनुरणनात्मकता का यह संगम अपूर्व है ।

विद्यापति ने मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से भी अपनी भाषा की शक्तिमत्ता की वृद्धि की है। जब जन-समाज में युगों के अनुभव घनीभूत होकर लाक्षणिक शब्दों में सूत्र-शैली के रूप में व्यक्त होते हैं तो मुहावरों का जन्म होता है। यही कारण है कि काव्य-भाषा में मुहावरों का प्रयोग उसकी जन-प्रेषणीय शक्ति का पोषक हो जाता है। इस कोटि के लोक-प्रचलित मुहावरों के प्रयोग से विद्यापति की भाषा में अपने कथ्य को जीवन्त रूप में कहने की शक्ति आगई है साथ ही वह लोक जीवन, सम्पृक्तता से भी स्पर्शित हुई है। प्रस्तुत उदाहरण में 'दोना नीम क डार' के प्रयोग ने मान के अन्दर व्युत्पन्न कटुता व तिक्तता की कितनी सजीव अभिव्यक्ति की है :—

अभिनव एक कमल फुल सजनी
दोना नीम क डार ।
सेओ फूल ओतहिं सुखायल सजनी
रसमय फुलल नेवार ।।

इसी प्रकार निम्न उदाहरण में गंवार कृष्ण का लोकोक्तियों के माध्यम से व्यंग्यात्मक चित्रण हुआ है :—

कि कहव हे सखि रात क बात ।
मानिक पड़ल कुबानिक हात ।
कांच कंचन नहिं जानए मूल ।।
गुंजा रतन करए समतूल ।।
तन्हि सौं कहां पिरीत रसाल ।
वानर कंठ की मोतिम माल ।।

भनइ विद्यापति इह रस जान।
वानर मुंह की सोभए पान ।।

विद्यापति की भाषा शब्द की व्यंग–शक्ति से अनेकानेक चमत्कार उत्पन्न करती है। इनकी काव्य-भाषा में शब्द और अर्थ का मणि कांचन योग हुआ है। इस योग की महिमा में पाठक रस की गहराई में डुबकी लगाने लगता है। व्यंगार्थ पूर्ण उत्तम काव्य की दृष्टि से यह पद दृष्टव्य हैं :—

कर धरु, करु मोहे पारे
देव हम अपुख हारे कन्हैया।
सखि सब तेजि चल गेली
ना जानु कोन पथ भेली
हम न जाएब औघट घाटे।

इस पद का वाच्यार्थ सीधा-सादा है :—राधा कृष्ण से नदी पार कराने की प्रार्थना करती है—'मेरा हाथ पकड़ लो, नदी पार करा दो, मैं उसके बदले तुम्हें हार दूंगी, सखियां मुझे छोड़ कर चली गईं, मुझे मालूम नहीं कि वे किस रास्ते से गई हैं। मैं तुम्हारे पास नहीं जाऊंगी। मैं अवघट घाट जाऊँगी।"

इस वाच्यार्थ में हमें विद्यापति के काव्यत्व के दर्शन तक नहीं होते। इस पद के व्यंगार्थ में यौवन की सलज्ज सांकेतिक समर्पणशीलता का सौन्दर्य निहित है। इसी पद का व्यंगार्थ इस प्रकार हो जाता है :-

राधा नदी पार कराने के बहाने कृष्ण को हाथ पकड़ने का अधिकार प्रदान कर आत्मसमर्पण करती है। वह कृष्ण को अपूर्व हार—गलवाहों का पिन्हाना चाहती है। वह व्यंजना'वृत्ति की सहायता से सखियों के अज्ञात-पथ पर जाने की सूचना देती है अर्थात् वह एकाकी है और अब सखियों के आने की कोई सम्भावना भी नहीं है, यह भी जतला देती है। वह कृष्ण को निर्जन घाट पर आने का निमंत्रण देती है, ताकि वहां निर्बाध रूप से प्रणय-केलि हो सके।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति की काव्य-भाषा में माधुर्य, मनोरम चित्रमयता, संगीत का लय-सौन्दर्य आनुप्रासिक शब्द-सौन्दर्य, लोक-भाषीय जन-प्रेषणीयता, व्यंग का अर्थ-सौन्दर्य आदि सब कुछ ही पाया जाता है। विद्यापति की काव्य भाषा महाकाव्यीय उदात्तता से मंडित है। विद्यापति को स्वयं अपनी काव्य-भाषा की

श्रेष्ठता पर गर्व था। उनकी अपनी भाषा-विषयक यह गर्वोक्ति सत्य का ही उद्‌घाटन करती है :—

बाल चन्द विज्जावइ भाषा
दुइ नहि लग्गइ दुँज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहई
ई निच्चइ नाअर मन मोहई।।

वास्तव में विद्यापति की काव्य-भाषा शिव मस्तक पर शोभित बालचन्द्र की ही भांति निष्कलंक है।

विद्यापति की काव्य-भाषा की हिन्दी समीचीनता :—

विद्यापति की पदावली की भाषा विवादास्पद रही है। उसके विषय में विभिन्न विद्वानों ने मतों के चक्रव्यूह की सृष्टि की है। यह चक्रव्यूह साधारण पाठक की बुद्धि के लिये भेदना मुश्किल सा हो जाता है। यह चक्रव्यूह चतुर्भुजात्मक है। इसकी चार भुजाएँ हैं—बंगला, ब्रजबुलि, मैथिली तथा हिन्दी भाषाएँ। विद्यापति के पद बंगाली वैष्णवों के कीर्तन के रूप में प्रयुक्त होते थे, जिसके कारण उनके शब्दों का उच्चारण भी बंगला जैसा ही हो गया। बंगाली कवियों ने विद्यापति के काव्यादर्श पर काव्य रचना की। यह रचना-शैली बंगला से कुछ भिन्न थी, अतः इसे 'ब्रजबुलि' की संज्ञा प्रदान की गई। विद्यापति का बंगला-साहित्य पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि उन्हें बंगला का आदि कवि तक मान लिया गया था। लेकिन जब योरोपीय भाषाविदों ने भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण प्रारम्भ किया और विद्यापति की काव्य-भाषा और 'ब्रजबुलि' की हिन्दी की प्रवृति के आधार पर बंगला को हिन्दी, की उपभाषा मानना प्रारम्भ कर दिया, तब बंगला विद्वानों ने ही अनुसन्धान करके विद्यापति की भाषा को ब्रज भाषा और बंगला भाषा से भिन्न पांच सौ वर्ष पूर्व की मैथिली भाषा घोषित किया।

प्रश्न यह है के प्राचीन मैथिली को एक स्वतंत्र भाषा माना जाय अथवा हिन्दी की उपभाषा। भाषा वैज्ञानिकों में इस विषय में मतभेद है। भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से हिन्दी को केन्द्रीय या मध्य देशीय वर्ग में माना जाता है। और बिहारी को जिसमें कि मैथिली भी सम्मिलित है बहिरंग वर्ग में। इसी कारण डा० ग्रियर्सन ने मैथिली को

हिन्दी से भिन्न वर्ग की भाषा माना है। मैथिल-विद्वान पं० शिवनन्दन ठाकुर हिन्दी की उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत से तथा बिहारी की उत्पत्ति मागधी प्राकृत से मानते हुए लिखते हैं कि "मागधी प्रान्तीय भाषा थी और शौरसेनी देश भाषा तथा राजभाषा। इसीलिए मागधी से अवहट्ट की उत्पत्ति हुई और उसके ऊपर शौरसेनी प्राकृत का गहरा प्रभाव पड़ा। यही अवहट्ट प्राचीन तथा अर्वाचीन मैथिली की जननी है। सत्रहवीं शताब्दी तक प्राचीन मैथिली 'मिथिलापभ्रंश भाषा' के नाम से प्रसिद्ध थी। इस तरह यह भी मालूम पड़ता है कि जिस समय भारतवर्ष की अन्यान्य भाषायें आरम्भावस्था में थीं उस समय मैथिली की सर्वतोमुखी उन्नति हो चुकी थी। इसमें उच्च श्रेणी के गद्यकाव्य लिखे जा चुके थे जिन्हें देख कर निष्पक्ष भाव से यदि विचार किया जाय तो कहना पड़ेगा कि उस समय तक मैथिली का पूर्ण विकास हो चुका था। शृंगार रस के पद्य तथा नाटक की रचना देख कर भी यही ज्ञात होता है। इस प्रकार यह भी ज्ञात होता है कि अवहट्ट-युग से ही मैथिली एक स्वतंत्र भाषा थी। यह किसी भाषा के अन्तर्गत नहीं थी। इसलिए विद्यापति के पद मैथिली की सम्पत्ति हैं न कि किसी अन्य-भाषा की।" इस उद्धरण में श्री शिवनन्दन ठाकुर मैथिली की स्वायत्तता का विवरण तो दे सके हैं, परन्तु भाषा-शास्त्र की तात्त्विक भूमि पर मैथिली की स्वायत्तता सिद्ध न कर सके हैं। उन्होंने इसी उद्धरण के प्रारम्भ में हिन्दी की जननी शौरसेनी प्राकृत का मैथिली की जननी अवहट्ट पर पड़े गहरे प्रभाव को स्वीकार किया है। उनकी यह स्वीकारोक्ति ही मैथिली की स्वायत्तता पर कुठाराघात करती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने पैने तर्क से मैथिली को हिन्दी की बोली मानते हुए लिखा है कि "सरजार्ज ग्रियर्सन ने बिहारी और मैथिली को मागधी से निकली होने के कारण हिन्दी से अलग माना है; पर केवल भाषा-शास्त्र की दृष्टि से कुछ प्रत्ययों के आधार पर ही साहित्य-सामग्री का विभाग नहीं किया जा सकता। कोई भाषा कितनी दूर तक समझी जाती है, इसका विचार भी तो आवश्यक होता है। किसी भाषा का समझा जाना अधिकतर उसकी शब्दावली पर अवलम्बित होता है। यदि ऐसा न हो तो उर्दू और हिन्दी का एक ही साहित्य नहीं माना जाता।......खड़ी बोली बांगड़ू, ब्रज, राजस्थानी, कन्नौजी, बैसवारी, अवधी, इत्यादि में रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिन्दी के ही अन्तर्गत मानी जाती हैं।

इनके बोलने वाले एक दूसरे की बोली को समझते हैं।......कारण है शब्दावली की एकता। अतः जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य 'वीसलदेव रासो' पर अपना अधिकार रखता है उसी प्रकार विद्यापति की पदावली पर भी।" शुक्ल जी के इस विवेचन का श्री शिव नन्दन ठाकुर कोई उत्तर न दे सके और अपने ही विरोधाभास के शिकार हो गये।

निम्नलिखित कारणों से भी हम विद्यापति की काव्य-भाषा को हिन्दी भाषा के अन्तर्गत मान सकते हैं :—

१. मैथिली में बंगला, असमिया और उड़िया की भांति दन्त्य 'स' का उच्चारण तालव्य 'श' नहीं होता, वरन् हिन्दी की भांति शुद्ध दन्त्य 'स' ही होता है -

२. पदावली की भाषा में ब्रज तथा अवधी के समान ही स्वर-भक्ति का आधिक्य एवं संयुक्ताक्षरों के प्रयोग की प्रवृति की न्यूनता दिखाई पड़ती है।

३. विद्यापति की मैथिली के सामान्यभूत में लकारान्त प्रयोग-हरल, मिझाएल, जागल, राखल आदि पूर्वी हिन्दी के अधिक समान हैं।

४. संस्कृत के 'क्ष', 'ष', 'य' और 'ण' अवधी तथा ब्रज भाषा की भांति ही पदावली में 'ख' 'ख', 'ज' तथा 'न' हो गये हैं।

५. पूर्वी हिन्दी के 'अइ' और 'अय' मैथिली में भी प्रयुक्त होते हैं। यथा :—

हिन्दी—"अंगद चरण टरइ नहिं टारे।"
"साजय लाखन साज"

मैथिली :—"निरजन उरज हेरइ कत बेर"
"घन घन घनए घुघुर का बाजय।"

६. मैथिली में हिन्दी के समान कतियम विभक्तियाँ भी पाई जाती हैं।

७. मात्रिक छन्द हिन्दी का जातीय छन्द है। विद्यापति के छन्द भी मात्रिक हैं।

८. ब्रज तथा अवधी की भांति .ही पदावली की भाषा में

तद्भव शब्दों का बाहुल्य है। बंगाली बिद्वानों ने तो विद्यापति के इस प्रकार के शब्दों को तत्सम रूप देकर पदावली के माधुर्य को पर्याप्त क्षति पहुंचाई है।

इन कतिपय समानताओं से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि विद्यापति हिन्दी भाषा से बहुत कुछ अंशों में प्रभावित हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी कहा है कि विद्यापति का शब्द-भंडार भी अधिकांशतया हिन्दी से ही गृहीत है। विद्यापति की भाषा की हिन्दी समीचीनता पर आचार्य विनय मोहन शर्मा के निम्न-लिखित मत से पूर्ण प्रकाश पड़ जाता है :—

"विद्यापति की भाषा बंगला के इतने सन्निकट है कि बहुत समय तक बंगला के साहित्थिक विद्यापति को अपना ही कवि मानते रहे। परन्तु जब भाषा-शास्त्र का गहन अध्ययन प्रारंभ हुआ तब विद्यापति की मैथिल भाषा हिन्दी की ही एक विभाषा समझी गई और विद्यापति की गणना हिन्दी के आदि कृष्ण-कवियों में की जाने लगी।..... यद्यपि सूर को हिन्दी का प्रथम गीति कवि कुछ लोग कहते हैं और उन्हें पद्य-शैली का प्रथम आचार्य भी, परन्तु यह दृष्टिकोण उस समय तक मान्य था जब तक मैथिल को हिन्दी की विभाषा नहीं माना गया था। मैथिल भाषा हिन्दी की सीमा के अन्तर्गत है। अतः हिन्दी के प्रथम गीति-कवित्व का सेहरा विद्यापति के सिर पर बांधा जाना चाहिये और उन्हें ही कृष्ण-परम्परा का प्रथम हिन्दी कवि उद्घोषित करना चाहिये।"

प्रश्न : १. हिन्दी गीति-परम्परा में विद्यापति का स्थान निर्धारित कीजिए।

उत्तर :—

तीव्रतम भावावेग की संगीतमयी अभिव्यक्ति गीत है। आत्मपरकता गीति का सहजात गुण है। शुद्ध एवं सर्वोत्तम काव्य, जिसमें कि आत्मा की स्वच्छतम अभिव्यक्ति होती है, गीति काव्य ही है। डा० चार्ल्स मिल्स ने गीति-काव्य की इसी व्याप्ति को लक्ष्य करते हुए लिखा है "In other words, pure poetry is that which has the essentially poetic quality is lyric poetry. Every composition becomes increasingly lyrical as it becomes more and more poetic, the

more poetical a drama is more lyrical it is. The most poetic an epic, the more lyrical it must be. "(अर्थात् वस्तुतः गीति काव्य को ही शुद्ध कविता कहा जा सकता है। किसी कृति विशेष में काव्यात्मकता जितने अधिक अंशों में होगी, वह उसी अनुपात में गीतात्मक होती है। नाटक जितना ही काव्यात्मक होगा वह उतना ही गीति-तत्त्व पूर्ण होगा। महाकाव्य जितने अधिक अंशों में काव्यात्मक होगा वह उतने ही अंशों में गीति-तत्त्व पूर्ण होगा।" गीति-काव्य शुद्ध कविता क्यों है? क्योंकि प्रो० एच० लाज के अनुसार "The lyric, a movement of fancy by which the spirit strives to life itself from limited to the universal." (अर्थात् गीति कल्पना की गति है जिसके द्वारा भ्रान्त मानवात्मा अनन्त के साथ सम्बद्ध होने का प्रयत्न करती है।) ऐसा प्रयास आत्मा के शुद्धतम क्षणों में ही सम्भव है। ऐसे क्षणों में ही कवि का हृदय लोक हृदय की एक प्रवहमान तरंग हो जाती है। गीति में आत्म की ऐसी तरंगिमा का कम्पन भर जाता है और तब हीगेल के अनुसार "गीतिकाव्य का कवि जगत के सारे तत्त्वों को अपने में समाहित करता है, अपने वैयक्तिक भावों के प्रभाव से इसे पूर्णतः आत्मसात करता है और इस आत्मपरकता को सुरक्षित रखने वाली शैली में अभिव्यक्त करता हैं।" इस दृष्टिकोण से गीति काव्य में आत्मपरकता, संवेगपूर्णता और कल्पनाशीलता प्रचुरता से पाई जाती है। इसके अतिरिक्त गीति काव्य में प्रेषणीयता और रसोद्रेकन का प्राचुर्य भी पाया जाता है। श्री जे० एस० केनेडी ने हीगेल के आधार पर गीतिकाव्य में दो आवश्यक तत्त्व माने हैं: सम्बद्धता और कथन घटना-प्रवाह में शीघ्र परिवर्तन की स्थिति। यह शीघ्र परिवर्तन की स्थिति संगीत से आती है। श्री शिवप्रसाद सिंह के अनुसार "संगीत हमारी प्रज्ञा एक क्षण के लिये सांसारिक यथार्थ के धरातल से उठा कर कल्पना के भावालोक में अग्रसर करता है।" विद्यापति की समस्त पदावली संगीत की अपरूप मधुरता शब्दों के लालित्य तथा चारु कल्पना की प्रवणता आदि के द्वारा पाठकों को यथार्थ के धरातल से उठाकर भावना के रसमय लोक में निमग्न कर देती है। विद्यापति से पूर्व कालिदास ने ऋतु संहार और मेघदूत में गीतिकाव्य का सम्यक उदाहरण प्रस्तुत किया। साथ ही जयदेव ने गीतगोविन्द की कोमल कान्त पदावली के द्वारा आदर्श गीतकाव्य की

सृष्टि की। विद्यापति का गीतिकाव्य इन दोनों ही महाकवियों के गीतिकाव्य की सुविकसित शृंखला है। उन्होंने प्रत्येक दृष्टि से सफल एवं उदात्त गीतिकाव्य की सृष्ट की है।

विद्यापति से पूर्व संस्कृत में गीत-काव्य की परम्परा बहुत प्राचीन है। संस्कृत-गीत-काव्य का उत्स सामवेद में है। संस्कृत की साहित्यिक भूमि पर कालिदास ही प्रथम गीतकार थे। कालिदास के उपरान्त गाथा सप्तशती, आर्यासप्तशती, अमरुकशतक, बिल्हण की चौर पचासिया, धोयीकृत पवनदूत जयदेव पूर्व संस्कृत और प्राकृत साहित्य की उत्कृष्ट गीतिकाव्य की रचनाएँ हैं। बारहवीं शताब्दी में जयदेव ने गीत गोविन्द की रचना कर राधाकृष्ण की जीवन-माधुरी से परिपूर्ण सर्वथा नवीन मधुर एवं मादक गीति-काव्य का सृजन किया। विद्यापति के परमप्रेरक कवि जयदेव ही हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से विद्यापति हिन्दी के प्रथम गीतिकार हैं।

विद्यापति के गीतों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी संगीतात्मकता है। गीतों में संगीत दो प्रकार से प्रयुक्त हो सकता है। एक तो यह कि गीत वाद्यों के साथ किसी विशेष प्रणाली में गाये जाते हों। इस दृष्टि से विद्यापति के गीत सफल हैं। डा० सुभद्रा झा ने अपने विद्यापति-गीत संग्रह में पदों की रागबद्धता को इस प्रकार वर्गीकृत किया है :—

पहले ५६ पद : मालव राग
५७ से १३० तक : धनछरी राग
१३१ से १३५ तक : असाबरी राग
१३६ से १४६ तक : मलारी राग
१४७ वीं........ : सामरी राग
१४८ से १५४ तक : अहिरानी राग
१५५ से १५७ तक : केदार राग
१५८ से १६२ तक : कानडा राग
१६३ से १६४ तक ; कोलर राग
१६६ से २०२ तक : सारंगी राग
२०३ से २०७ तक : गूजरी राग

इनके अतिरिक्त डा० सुभद्रा झा ने नाटराज, बरली, ललित वसन्त विभास आदि रागों का भी उल्लेख किया है। संगीत की

दूसरी विशेषता लय में अवस्थित है। विद्यापति के गीत लय पूर्ण हैं। शास्त्रीय ज्ञान से विहीन व्यक्ति भी अपने मन में इन गीतों को दुहरा कर आनन्द में रस मग्न हो सकता है।

विद्यापति के गीत जीवन के मधुर प्रसंगों का संगीत की भूमि पर मनोरम चित्रण करते हैं। सखियों की चुहुल को, प्रेमी-प्रमिकाओं की प्रणयानुभूतियों तथा यौवन के रूप—माधुर्य को विद्यापति ने अपने गीतों में मुखरित किया है। विद्यापति के गीत लोक में युवा जीवन के स्वप्नों के मादक संचरण हैं। उनके पद युवा जीवन के दिवा स्वप्नों में उल्लसित हैं।' उन्होंने अपने गीतों में नारी हृदय की परिहास-वृत्ति को विशिष्ट नारियोचित भंगिमा के साथ प्रस्तुत किया है। एक स्थल पर नायिका के मुख के सौन्दर्य का वर्णन करती हुई एक सखी इस प्रकार परिहास करती है :—

अंबर बदन झपावह गोरी।
राज सुनइछिअ चांद क चोरी॥
घर घर पहरि गेल अछ जोहि।
अबही दूखन लागत तोहि॥

विद्यापति के काव्य में लोकगीतीय तत्त्व पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। लोक गीत का संगीत सरिता एवं झरने की भाँति उन्मुक्त और कलछलमय होता है। उसमें भाव-धारा अप्रहत गीत से प्रवाहित होती है। इस कोटि के गीतों में आत्मानुभूतियों के आधार पर लय की सृष्टि होती है। इस प्रकार लोक गीत आत्मा के अकृत्रिम उच्छ्वास होते हैं। ऐसे गीत फ्राँसिस बी० गूमर के शब्दों में 'They speak not in the language of tradition, but also with the voice of multitude. There is nothing subtle in their working and they appeal to things as they are ... ... They are fresh with the open air. Wind and sunshine play through them." (अर्थात् वे परम्परा की भाषा में अपनी अभिव्यक्ति नहीं करते वरन् जन-समूह की वाणी द्वारा प्रकाशन करते हैं। उनमें किसी प्रकार की गहनता नहीं पाई जाती। जो वस्तु जैसी है उसका वे यथातथ्य वर्णन कर देते हैं।.........वे स्वतन्त्र हैं और खुली हवा की भांति ताजे हैं। वायु और सूर्य का प्रकाश उनमें खेल करता है।) विद्यापति के कितने ही

गीत खुली हवा की भांति ताजे हैं।' हां, इनमें सूर्य के प्रकाश के स्थान पर मधुर भावनाओं की चन्द्रिका की क्रीड़ा होती रहती है। ऐसी ही क्रीड़ा के खुमार से भरा यह गीत दृष्टव्य है :—

कुंज-भवन संय निकसलि रे,
रोकल गिरिधारी।
एकहि नगर बस माधव हे,
जनि कर बटमारी॥
छाड़ु कन्हैया मोर आंचर रे
फाटत नव-सारी।
अपजस होत जगत भरि हे,
जनि करिअ उघारी॥
संग क सखि अगुआइलि रे,
हम एकसरि नारी।
दामिनि आए तुलाएल हे,
एक राति अंधारी॥

इस गीत में अलंकरण विहीन भावनाओं के तरल सौन्दर्य का अंकन हुआ है—कहीं कोई बन्धन नहीं, कहीं कोई हिचकिचाहट नहीं, सीधी बात......सीधे लोक-प्रचलित शब्द। वह है इस कवि की लोक-कला। इस गीत में संकेत का माधुर्य और प्रणय के उल्लास की लय है। यह गीत क्या है? गोपी के प्रेमोच्छ्वास का संकेत है। विद्यापति के गीतों में सहजता है और यह सहजता लोकगीतीय भूमि पर जाकर पाठक का मर्मस्पर्श करने लगती है। इनके कुछ गीत तो साहित्यिक गीत मालूम ही नहीं होते। वे तो पूर्ण रूपेण लोकतत्त्व को अपने अन्दर आत्मसात् किए हैं। विद्यापति का यह गीत :—

मोरे अँगनवा चनन केरि गछिया,
ताहि चढ़ि कुररय काग रे,
सोने चोंच बाँधि देव तोयें बायस,
जओं पिया आवत आज रे॥
गावह सखि सब झूमर लोरी,
मयन अराधन जाऊं रे।
चओदिसि चम्पा मओली फूललि,
चान उजोरिया राति रे॥

कइसे कए मोयं मयन अराधब,
होइति बड़ि रति साति रे।

लोकगीतीय भूमि पर प्रेमिका की प्रिय के प्रति प्रतीक्षा की सहज अभिव्यक्ति से आपूरित है। लोकगीतों में अलंकरण की प्रवृति नहीं होती, उनका सौन्दर्य अपनी नैसर्गिक मधुरता में अत्यन्त मोहक होता है। निम्नलिखित गीत में विद्यापति की विरहिणी अपने प्रिय के स्वप्निल स्पर्श का ईमानदारी से वर्णन करती हुई कहती है :—

सुतलि छलहुँ हम घरबा है
गरबा मोतिहार।
राति जखनि भिनसरुवा रे
पिया आएल हमार।।
कर कौसल कर कपइत रे
हरवा उर टार।
कर-पंकज कर थपइत रे
मुख चंद निहार।।
केहिन अभागिल बैरिन रे
भागलि मोर निन्द।
भल कए नहि देख पाओल रे
गुनमय गोविन्द।।

विरहिणी के अन्तर्जगत की कितनी करुण एवं मार्मिक झांकी है इस गीत में। संगीत है कि प्राणों में आप से उतरता चला जाता है।

रागात्मक अनुभूति विद्यापति के गीतों की विशेषता है। उनके गीतों में राधा के माध्यम से रागावेग अदम्य होकर फूट पड़ता है। प्रियतम के बिना सूनी सेज प्राणों को सालती है और जलकर मर जाना ही इस पीड़ा का एक मात्र उपचार शेष रह जाता है। रागात्मक अनुभूति का यह उत्कर्ष इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है ;—

सून सेज हिय सालए रे
पिया बिनु घर मोयं आजि।
बिनती करओं सहलोलिनि रे
मोहि देह अगिहर साजि।।

विद्यापति के पदों में स्वप्नों का खुमार, मादक अभिलाषाएँ, आनन्द के घनीभूत क्षण, प्राणों को खसोंटने वाली पीड़ा, भग्न स्वप्न

तथा दग्ध विदग्ध हृदय की अत्यन्त सजीव रूप में अभिव्यक्त हुई हैं। जिसके कारण उनके पदों में सघन भाव-प्रवणता पाई जाती है। "विद्यापति के गीतों में श्री देशराज भाटी के अनुसार "न तो संयम का अंकुश है, न कल्पना का आधिक्य और न रहस्यात्मकता का आवरण। यही कारण है कि इनके गीतों का प्रवाह अबाध है, भावों का उच्छलन अजस्र है और अभिव्यक्ति का आघात मर्मस्पर्शी है।" विद्यापति की मर्मस्पर्शिता के दर्शन इन पंक्तियों में होते हैं जिनमें कि नायक रोमाँच के अन्तर तक को गिरि अंतर मान बैठता है। प्रणय की एकात्मक अनुभूति की कितनी यथार्थ अभिव्यक्ति है यह :—

तिल एक सयन ओत जिउ न सइए,
न रहए दुहु तनर भीन।
मांझे पुलक गिरि अंतर मानिए,
अइसन रह निसि-दीन॥

आत्माभिव्यक्ति गीति काव्य की मूल भीत्ति है। विद्यापति के काव्य में परोक्ष रूप की आत्मभिव्यक्ति है, किन्तु वे अपने कृष्ण और राधा से तादात्मय स्थापित कर चुके थे। यही कारण है कि कृष्ण एवं राधा की आत्माभिव्यक्ति में विद्यापति की आत्मपरकता के दर्शन होते हैं। उनके काव्य का पात्रात्मक जगत औपाधिक है, उसके पीछे एक ही सत्ता सत्य है और वह है विद्यापति का भावुक हृदय। विद्यापति की राधिका के निम्न कथन में उनकी स्वयं की आत्मा का हाहारव मुखरित हुआ है :—

"अंकुर तपन ताप यदि जारब,
कि करब बारिद मेहे।
ई नव जोबन विरह गमाओब,
कि करब से पिया गेहे॥

क्या पता लखिमा रानी के प्रसंग में स्वयं विद्यापति को ही ऐसे निरर्थक यौवन की अनुभूति हुई हो ?

विद्यापति के गीति-काव्य के उपरोक्त वैभव को देख कर एक प्रश्न मन में उठता है कि इस कवि का हिन्दी गीति परम्परा में क्या स्थान है। इस विषय में डा० गुणानन्द जुआल का मत उल्लेख्य है। डा० साहब के अनुसार "विद्यापतिने संस्कृत के सभी गीति काव्यकारों के भावों को अपनाया है किन्तु उन पर सबसे अधिक प्रभाव जयदेव का

ही पड़ा है। विद्यापति ने जयदेव की शैली ही नहीं भावों तथा अलंकारों तक को ज्यों का त्यों ले लिया है। उनकी लोक भाषा में जयदेव की सी आनुप्रासिकता नहीं किन्तु समासान्त पदावली और संयुक्ताक्षरों का अभाव है जिससे बहुत अधिक मधुरता आ गई है। उनकी महेशवाणी मिथिला में शिवरात्रि आदि शिवपर्वों पर गाई जाती है। उनके राधा-कृष्ण सम्बन्धी पद बंगाली वैष्णवों की भक्ति-साधना के स्वर्ण-सोपान हैं। बलरामदास आदि अनेक बंगाली वैष्णवों ने विद्यापति के भाव, भाषा और शैली को अपनाया। उनका प्रभाव पश्चिमी प्रांतों पर भी पड़ा और उन्हीं की शैली पर हिन्दी गीत काव्य के सर्वप्रथम [विद्यापति को अब निर्विवाद रूप से हिन्दी का प्रथम गीतिकार माना जाता है—ले०] साथ ही सर्वोत्कृष्ट कवि सूर ने सूरसागर की रचना की, सूर के पश्चात् तो गीत-काव्य रचयिताओं की परम्परा बंध गई। मीरा, नन्ददास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने गीत-काव्य से हिन्दी साहित्य-भंडार भरना आरम्भ कर दिया। यह सब विद्यापति की ही देन है। सूरदास के पदों में काव्य चमत्कार और भावगाम्भीर्य चाहे अधिक हो किन्तु जो उल्लास, मस्ती, माधुर्य विद्यापति की पदावली में है वह सूर में अप्राप्य है। विद्यापती की पदावली में यौवन की वेगवती तरंगिणी असंख्य धाराओं में अठखेलियां करती हुई बह रही है।" वास्तव में विद्यापति के गीत भावुकों के लिए कंठहार के सदृश्य हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि विद्यापति हिन्दी गीति-काव्य के श्रेष्ठतम एवं प्रेरक कवि हैं। उनके गीतों का प्रभाव हमको आधुनिक कवियों के गीति-काव्य तक पर पड़ा हुआ परिलक्षित होता है। उनके गीत केवल हिन्दी साहित्य के ही अक्षय सम्पत्ति नहीं हैं वरन् मानव-मात्र की मधुर भावनाओं को धारण करने वाली सतत प्रवाहिनी रस-निर्झरणियाँ हैं।

प्रश्न : ११. विद्यापति की राधा तथा जायसी की नागमती के विरह-वर्णन की तुलना कीजिये।

उत्तर :—

डा० नगेन्द्र के अनुसार विरह प्रेम का तप्त स्वर्ण है वेदना की अग्नि में तप कर प्रेम की मलिनता गल जाती है। वास्तव में विरह में

प्रेम मानसिक तथा आध्यात्मिक रूप ग्रहण कर लेता है। कवि स्वभावतः आध्यात्मिक होता है। यही कारण है कि उसे अश्रुओं में चमकता हुआ प्रेम सर्वाधिक प्रिय लगता है। इस प्रियता में ही कवि अपनी आत्मा में अधिवसित अनादिकलीन विरहिणी नारी के करुणा-सिक्त गान गाता है। हिन्दी के आदि कवि विद्यापति ने राधा के रूप में एवं सूफी कवि जायसी ने नागमती के रूप में इसी नारी के सकरुण गीतों को अपने अपने काव्य में मुखरित किया है। दोनों के विरह-वर्णन पर्याप्त रूप से मार्मिक हैं, किन्तु विद्यापति हिन्दी में वियोग वर्णन परम्परा के प्रवर्तक हैं। इन्होंने विरह का मनोवैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया जिससे परवर्ती कवि प्रभावित हुए हैं। जायसी ने विरह-वर्णन में विद्यापति से प्रेरणा ग्रहण की, उन्होंने विद्यापति के विरह-वर्णन की परम्परा का विकास किया। जायसी का विरह आध्यात्मिक है और विद्यापति का भौतिक। यही कारण है कि जायसी वर्णित विरह के प्रभाव की व्यापकता अखिल सृष्टि में समाहित है। जायसी की नागमती के विरह-ताप से सारी प्रकृति ही झुलसी हुई है :—

अस परजरा बिरह कर गठा।
मेघ साम भए धूम जो उठा॥
दाड़ा राहु, केतु गा दाधा।
सूरज जरा चांद जरि आँधा॥
औ सब नखत तराईं जरहीं।
टूटहि लूक, धरति महं परहीं॥
जरे सो धरती ठावहिं ठाऊं।
दहकि पलास जरै तेहि दाऊं॥

इसके विपरीत विद्यापति की राधिका के विरह का दाह प्रकृति में प्रज्वलन उत्पन्न करने वाला नहीं है, वरन् उनकी राधा बादलों से भरे हुए सावन में अपने प्रिय-रिक्त घर को देखकर अपने अनन्त दुख का ज्ञापन भर करती है :—

सखि हे हमर दुखक नहिं ओर
ई भर बादर माह भादर, सुनू मंदिर मोर

विद्यापति की अपेक्षा जायसी ने विरह को अधिक प्रभावोत्पादक ढंग से चित्रित किया है। जायसी की नागमती का प्रेमोन्माद विद्यापति की राधिका की अपेक्षा अधिक सकरुण है। नागमती अपने प्रिय की

प्रतीक्षा में जड़-चेतन का भेद भूल जाती है और प्रिय के पास काग तथा भौरे के द्वारा प्रभावशाली ढग से अपना सन्देश भेजना चाहती है :-

पिउ सों कहउ संदेसड़ा हे भौंरा हे काग।
उहि धनि बिरहै जरि मुई तेहिक धुआं हम लाग ॥

राधा भी काग के द्वारा अपने प्रिय का समाचार जानना चाहती है। किन्तु राधा की चाहना में नारी हृदय के सारल्य के ही दर्शन होते हैं जबकि नागमती के सदेशड़े में विरह के तीव्र सांघातिक प्रज्वलन के। राधा की सरलता दर्शनीय है ;—

काक भाख निज भाषह रे
पिय आओत मोरा।
क्षीर खीर भोजन देब रे
भरि कनक कटोरा ॥

विरह में सपत्नी के प्रति ईर्षा होना स्वाभाविक है। इस ईर्षा में नारी हृदय की पीड़ा एवं विवशता की मार्मिकता मुखरण होती है। विद्यापति की राधा कुब्जा के प्रति ईर्षालु है, वह ग्लानि से भरी हुई है उसके (यौवन) धन से धनवंती होकर कुब्जा रानी हो गई है :—

कत कहबो कत सुमिरब रे
हम भरए गरानि।
आनक धन सों धनवंती रे
कुबजा भेलि रानि ॥

नागमती भी पद्मावती के प्रति सपत्नित्व भाव से ईर्षालु है, उसकी ईर्षा में पत्नी हृदय की करुण झाँकी दिखलाई देती है। ईर्षा में भी वह अपने पति रतनसेन के प्रति एकनिष्ठ है, वह राधा की भाँति विचलित नहीं होती। राधा तो कृष्ण को यौवन-भोगी और विश्वासघाती तक कह उठती है :—

जौबन रूप अछल दिन चारि।
सो देखि आदर कएल मुरारि ॥

किन्तु नागमती के ईर्षा भाव में भी पत्नित्व की शीतलता है परकीया की उष्णता नहीं। वह भोग की कामना से उद्वेलित नहीं होती, तभी पक्षी द्वारा पद्मावती को प्रेषित सन्देश में कहती है :—

पद्मावती सों कहेउ बिहंगम ।
कन्त लुभाइ रही करि संगम ।।
तोहिं चैनु सुख मिलै सरीरा ।
मोह कँह हिये दुंद दुख पूरा ।।
हमहुं बियाही संग ओहि पीऊ ।
आपुहि पाइ, जानु पर जीऊ ।।
मोंहि भोग सौं काज, न बारी ।
सौंह दिष्टि कै चाहन हारी ।।

विरह की वेदना कृशता की जननी है । विद्यापति एवं जायसी ने अपनी अपनी विरहिणियों की कृशता का वर्णन किया । विद्यापति इस कोटि के वर्णन में अधिक स्वाभाविक हैं जबकि जायसी ने अत्युक्ति-पूर्ण । विद्यापति की राधिका की दशा को उसकी सखी कृष्ण से कहती है :—

कातर दिठि करि चौदिसि हेरि-हेरि,
नैन गरए जलधारा ।
तोहर बिरह दिन छन-छन तनुछिनु,
चौदसि चाँद समान ।।

विद्यापति की राधिका के विरह का यह चित्र सकरूण एवं स्वाभाविक हैं, किन्तु जायसी की विरहिणी नागमती की प्रस्तुत कृशता हृदय दावक होते हुये भी अत्युक्ति पूर्ण है :—

दहि कोइला भइ कंत-सनेहा ।
तोला माँसु रही नहिं देहा ।।
रकत न रहा, विरह तन जरा ।
रती रती होइ नैनन्ह ढरा ।।

X X X X

हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भईं सब ताँति ।
रोवँ रोवँ ते धुनि उठे, कहौं बिथा केहि भाँति ।।

विद्यापति की राधा के विरह में मान को पर्याप्त स्थान मिला है । इन्होंने मान की अनेक परिस्थितियों का वर्णन किया है क्योंकि इनकी राधा प्रणयाभिमानिनी एवं रूपाभिमानिनी है तभी तो वह अपने प्रति कृष्ण के उपेक्षा-भाव से व्यथित होकर कह उठती है :—

का हम साँझक एक सरि तारा
भादव चौठिक ससी।
इथि दुहु माँझ कओन मोर आनन
जेपहु हेरसि न हंसी।।

लेकिन जायसी की नागमती में मान का नामोनिशान तक नहीं, उसके विरह में किसी प्रकार का अभिमान नहीं, वह तो अपने पति के प्रति इतनी समपर्ण पूर्ण है कि उसके प्रति किंचितमात्र भी मान कर ही नहीं सकती। उसकी तो समर्पणपूर्ण अभिलाषा यही है :—

राति दिवस बस यह जिउ मोरे।
लगौं निहोर कंत अब तोरे।।

यह तनु जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरे जहँ पाव।।

इन दोनों ही कवियों ने अपनी नायिकाओं के निराश एवं मग्न हृदय का मार्मिक चित्रण किया है। विद्यापति की राधा कृष्ण की प्रतीक्षा करते-करते थक गई है उसको अपनी जीवन नौका के विरह-पयोधि से पार हो जाने की कोई आशा नहीं रह गई है उसके क्षण, दिवस एवं मास, दिवस, मास एवं वर्ष की भाँति व्यतीत हो रहे हैं, वह जीवन से पूर्ण निराश हो उठी है :—

सजनी के कह आओब मधाई।
विरह-पयोधि पार किये पाओब मझु नहि पति आई।।
एखन तखन कर दिवस गमाओल दिवस दिवस करि मासा।
मास-मास करि वरस गमाओल छोड़ लूँ जीवन आसा।।

विद्यापति की इस राधा की भाँति ही नागमती भी प्रियतम पति की प्रतीक्षा करते करते निराश हो उठी है और वह बारह मास के प्रत्येक क्षण को अश्रुओं से आर्द्र किये है, एक एक श्वाँस में प्रिय-वियोग की सहस्त्र-सहस्त्र पीड़ाओं को भोगती है, उसके क्षण वर्षों की भाँति तथा प्रहर युगों की भाँति होते हैं :—

रोइ गँवाइ बारह मासा।
सहस सहस दुख एक-एक साँसा।।
तिल-तिल बरख-बरख परि जाई।
पहर-पहर जुग-जुग न सिराई।।

विद्यापति और जायसी दोनों ने ही अपने अपने विरह-वर्णनों को अधिक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से बारहमासे का वर्णन किया है। दोनों के बारह मासों में प्रकृति को उद्दीपन रूप में देखा गया है। हिन्दी काव्य में विद्यापति ने प्रथम बारहमासा लिखा, इस बारह मासे में राधा की अपनी विगत रति-क्रीड़ाओं की स्मृति का ही अंकन हुआ है, बारहमासे में चित्रित राधिका कामातुरा के रूप में ही पाठकों के सम्मुख आती है। वह आषाढ़ मास में उमड़ते मेघ को देख कर केवल 'जोगिनी-भेस' की बात ही सोचती है :—

मास अषाढ़ उनत नव मेघ।
बिना बिसलेख रहतों निरथेद्य ।।
कोन पुरुष सखि कोन से देस।
करब मोयँ तहाँ जोगिनी भेष ।।

राधिका के इस चित्र में उस लोक पक्ष की नितान्त उपेक्षा हुई है जिसका चित्रण जायसी ने नागमती के विरह-वर्णन में किया है। रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "रानी नागमती विरह-दशा में अपना रानीपन बिलकुल भूल जाती है और अपने को केवल साधारण स्त्री रूप में देखती है। इस सामान्य स्वाभाविक वृत्ति के बल पर उसके विरह-वाक्य छोटे बड़े सब हृदय को समान रूप से स्पर्श करते हैं। यदि कनक-पर्यंक, मखमली सेज, रत्नजटित अलंकार, संगमर्मर के महल, खसखाने इत्यादि की बातें होतीं तो वे जनता के एक बड़े भाग के अनुभव से कुछ दूर की होतीं। पर जायसी ने स्त्री जाति की या कम से कम हिन्दू गृहिणी मात्र की सामान्य स्थिति के भीतर विप्रलंभ श्रृंगार के अत्यन्त समुज्ज्वल रूप का विकास दिखाया है।" वर्षा के आरम्भ होने पर स्वामी के घर पर न रहने पर छाजन छाने में प्रिय को मधुर सहयोग देने के अवसर से बंचित रहजाने पर गृहिणी के विरह की उद्दीपना का चित्रण नागमती के माध्यम से जायसी इस प्रकार करते हैं :—

पुष्य नखत सिर ऊपर आवा।
हौं बिनु नाह, मंदिर को छावा ।।
तपै लागि जब जेठ असाढ़ी।
मोहि पिउ बिनु छाजनि भई गाढ़ी ।।

तन तिनउर भा, झूरौं खरी।
भइ बरखा, दुख आगरि जरी॥
बंध नाहिं औ कंध न कोई।
बात न आन, कहौं का रोई॥
बरसै मेह, चुवहिं नैना हा।
छपर छपर होइ रहि बिनु नाहा॥
कोरौ कहाँ, ठाट नव साजा।
तुम बिनु कंत न छाजनि छाजा॥

विद्यापति की राधिका में हिन्दू गृहिणी की विरहवाणी तथा 'सात्विक मर्यादापूर्ण माधुर्य' का नितान्त अभाव है। उनकी राधिका तो बार बार कामार्त के रूप में ही हमारे सम्मुख आती है। भादों के महीने में उसे दुख है तो केवल यह कि ऐसे रीगे-भीगे समय में अन्य कामनियाँ 'चेहुँक-चेहुँक' कर प्रियतमों की अंक में सो रही होंगी ;—

भादव मास बरसि घन घोर।
समदिसि कुहुकए दादुर मोर॥
चेहुँक चेहुँक पिया कोद समाय।
गुनमति सूतल अंक लगाय॥

इसके विपरीत जायसी की नागमती की वेदना अधिक प्रखर है। वह ही नहीं रोती वरन् उसकी वेदना से संवेदित होकर प्रकृति भी अश्रु निर्झर कर रही है :—

बरसे मघा झकोरि झकोरी।
ओर दुइ नैन चुवै जस ओरी॥

विद्यापति की राधा के विरह-वर्णन में उद्दीपन रूप में प्रकृति का अनुकूलत्व की कोटि का वर्णन नहीं हुआ है जबकि नागमती की वेदना से प्रपीड़ित होकर उससे 'आधि रात' में विहंगम 'कहि दुख रैनि न लावति आँखी' पूछ पैठता है। जायसी ने विरह के भाव में हृदय-तत्त्व की सृष्टिव्यापिनी भावना द्वारा मनुष्य और पशु-पक्षी सबको एक जीवन-सूत्र में बद्ध देखा है।" विद्यापति के पास सृष्टि-व्यापिनी भावना का अभाव था। यही कारण है कि उनकी राधिका को प्रकृति आतंकित ही करती है, उसके साथ तादात्म्य स्थापित नहीं करती। वह तो अपने विरह में एकाकी है। किन्तु जायसी की नागमती का विरह मानसिक है, प्रकृति के परिपेक्ष्य में वह अधिक प्रभावोत्पादक

है। उदाहरण के लिये आश्विन मास का वर्णन विद्यापति और जायसी दोनों ने ही किया है। इस मास तक विद्यापति की विरहिणी धैर्य-धारण किये रही किन्तु निष्ठुर प्रियतम नहीं आया। सरोवरों के तट पर चकई चकवा रतिक्रीड़ा में आमग्न होकर प्रसन्न हैं और राधा इस सब से वंचित, इसीलिये आश्विन मास उसे शत्रु के समान प्रतीत हो रहा है :—

आसिन मास आस धर चीत।
नाह निकारन न भेलाह हीत॥
सर-वर खेलए चकवा हास।
बिरहिन बैरि भेल आसिन मास॥

विरह की यह कितनी उथली 'कैमेन्टरी' पद्धति की अनुभूति है। लेकिन जायसी की नागमती का विरह आश्विन मास में प्रकृति की अनेक विरहिणियों की संयोगावस्था को देख कर आत्मगत भूमि पर चीत्कार कर उठता है :—

लाग कुआर, नीर जग घटा।
अबहूं आउ, कंत! तन लटा॥
× × ×
स्वाँति बूँद चातक मुख परे।
समुद सीप मोती सब भरे॥
सरवरि सँवरि हंस चलि आये।
सारस कूरलहिं खंजन देखाए॥
विरह हस्ति तन सालैं, घाय करै चित चूर।
बेगि आइ, पिउ! बाजहु, गाजहु होइ सुदूर॥

जायसी की नागमती की यह वेदना विद्यापति की राधिका की वेदना की अपेक्षा अधिक गहरी एवं दंशनपूर्ण है।

इसी प्रकार फाल्गुन के मास में विरह की भूमि पर प्रकृति के साथ मानवीय भावनाओं का तादात्म्य जायसी ने विद्यापति की अपेक्षा अधिक सफलता से किया है। इस मास में नागमती असहाय हो जाती है उसका शरीर सूखे पीले पत्ते की भाँति हो जाता हैं तिसपर उसे विरह की पवन झकझोर रही है। विरह का कितना दयनीयता पूर्ण चित्र है यह :—

फागुन पवन झकोरा बहा।
चौगुन सीउ जाइ नहिं सहा॥

तन जस पियर पात भा मोरा।
तेहि पर बिरह देहि झकझोरा ।।

इसके समक्ष विद्यापति का वर्णन बिलकुल फीका है। राधा कहती है कि फाल्गुन का महीना रमणियों के लिये प्राणों में उचाट भरने वाला होता है। मैं विरह से क्षीण होकर प्रियतम की बाट देख रही हूँ। मत्त कोकिल पंचम स्वर में गा रही है जिसे सुन कर कामिनियों के प्राण संकट में पड़ गये हैं :—

फागुन मास धनि जीब उचाट।
बिरह-बिखिन भेल हेरओं बाट ।।
आयल मत्त पिक पंचम गाब।
से सुनि कामिनी जीबहु सताब ।।

राधा के इस कथन में प्रभावोत्पादकता किंचित मात्र भी नहीं। इस सीधे सादे कथन में जायसी की नागमती की दंशिका पीड़ा के दर्शन नहीं होते। लेकिन इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि विद्यापति राधिका के विरह के वर्णन में नितान्त असफल रहे हैं। वास्तव में विद्यापति के वियोग-वर्णन में ऐसे अनेक हृदय द्रावक स्थल हैं जो कि अप्रतिम हैं। प्रेम की तन्मयता का यह चित्र अभूत पूर्व है, इसकी प्रेम समाधि—प्रेमी और प्रिय की एकतानता, इसकी भक्ति की कोटि की विरहानुभूति अलौकिक है :—

अनुखन माधव माधव सुमरत
सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि विसरल,
अपने गुन लुबुधाई ।।

राधिका की यह उन्मादपूर्ण प्रेम समाधि विद्यापति की अनुभूतिपरक कल्पना से अत्यन्त प्रज्वलनकारी हो गई है। माधव भाव में स्थित होकर वह राधा को पीड़ा बोझिल आधी बाणी से पुकारने लगती है ;—

अनुखन राधा राधा रटइत
आधा आधा बानि।

विद्यापति की यह विरहोन्मादिनी राधा कभी माधव में स्थित होकर राधा के लिये, कभी राधा के रूप में माधव के लिये चीत्कारित

स्वरों में पुकारने लगती हैं। उसका विरह दारुण पीड़ा का अनवरुद्ध प्रवाह है, उसके प्राण दोनों भाव स्थितियों में छटपटा रहे हैं :—

राधा सयँ जब पुनतहिं माधव
माधव सयँ जब राधा।
दारुन पेम तबहिं नहिं टूटत
बाढ़त बिरहक बाधा॥
दुहु दिसि दारु-दहन जैंसे दगधइ
आकुल कीट परान।

जायसी की नागमती में विरह की यह दिव्य परिणिति हमें उपलब्ध नहीं होती। फिर भी श्री राम वाशिष्ठ के अनुसार "जायसी ने नागमती की वेदना को एक विस्तृत और व्यापक क्षेत्र में देखा," इस व्यापकता का कारण जायसी की जीवनव्यापिनी दृष्टि है—उनका सूफी व्यक्तित्व है। सूफी के लिये विरह एक सृष्टि-व्यापी तत्त्व है, वह उसके प्राणों का एक मात्र प्रखर सत्य है। कदाचित् इसी कारण जायसी की नागमती का विरह विद्यापति की अपेक्षा व्यापक, गहरा तथा उदात्त है।

प्रश्न : १२. विद्यापति और जायसी के नख-शिख-वर्णन के सौन्दर्य की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

उत्तर :—

संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के कवियों ने शृंगार रस को उद्दीप्त करने की दृष्टि से नख-शिख वर्णन की परम्परा का विकास किया। भवभूति, माघ, श्री-हर्ष आदि के काव्य-ग्रंथों में नख-शिख वर्णन अलंकरण प्रधान और विलक्षणता-बोधक होने लगा था। इस भूमि पर आकर नख-शिख-वर्णन रूढ़ि ग्रसित हो गया, उसमें सौन्दर्य के गतिशील चित्रों के स्थान पर रूढ़ि-उपमानों की भरमार सी होने लगी। इन उपमानों के द्वारा विशिष्ट रूप-प्रतिमा की सृष्टि न हो सकी। इस प्रकार के नख-शिख-वर्णनों में सौन्दर्य की सृष्टि न होकर निर्जीव उपमानों की प्रदर्शनी होने लगी। विद्यापति और जायसी भी नख-

शिख-वर्णन की इस परम्परा के ही अंग हैं। विद्यापति को हम ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी में नख-शिख-वर्णन-परम्परा का प्रवर्तक कह सकते हैं। जायसी की अपेक्षा विद्यापति की नायिका के विविध अंगों के चित्र मोहक, सजीव तथा बहुरंगी हैं। विद्यापति की कल्पना की ऊंची उड़ान तथा उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति ने उनके नख-शिख-वर्णन को अभिनव सौन्दर्य से मंडित किया है। इनकी रूप-चित्रण की सफलता का एक कारण यह भी है कि यह जायसी की भाँति रूप-चित्रण के मध्य परम-तत्व के सौन्दर्य की आध्यात्मिक व्यंजना से उद्वेलित नहीं हुए। प्रस्तुत उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा :—

बरुनी का बरनौं इमि बनी।
साधे बान जानु दुइ अनी॥
× × ×
उन बानन्ह अस को जो न मारा।
बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहि न गने।
वे सब बान ओही के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी।
साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥

जायसी पद्मावती की बरौनियों के सौन्दर्य का वर्णन करते-करते पद्मावती के ईश्वरत्व के अखिल प्रभाव की व्यांजना करने लगे, परिणाम यह हुआ कि पाठकों की दृष्टि के समक्ष बरौनियों की शोभा का कोई भी चित्र खड़ा न हो सका। इसके विपरीत विद्यापति जब अपनी नायिका का चित्रण करते हैं तो वे अपूर्व तन्मयता के साथ अपनी सौन्दर्य-सृष्टिनी कल्पना के द्वारा स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण एक जीवन्त मुखर प्रतिमा ही खड़ी कर देते हैं :—

पीन पयोधर दूबरि गता।
मेरु उपजल कनक लता॥
× × ×
मुख मनोहर अधर रंगे।
फूललि मधुरी कमल संगे॥
लोचन जुगल भृंग अकारे
मधुक मातल उड़ए न पारे॥

आध्यात्मिक ऊहापोह से अस्पर्शित रहने के कारण विद्यापति की यह रूप-प्रतिमा मधु-सिक्त सौन्दर्य से आपूरित है।

विद्यापति एक मुक्तककार कवि हैं जबकि जायसी प्रबन्धकार। जायसी ने पद्मिनी के अंगों का वर्णन क्रमानुसार अलकों से चरणों तक किया है। अंगों के प्रथक-प्रथक् वर्णन के कारण रूप का कोई संश्लिष्ट चित्र पाठक के सामने चित्रित नहीं हो पाता। इसके विपरीत विद्यापति के नख-शिख वर्णन में कोई क्रम नहीं, उन्होंने अपनी बिम्ब-विधायिनी कल्पना के द्वारा रूप की अनेक संश्लिष्ट प्रतिछवियाँ अंकित की हैं। विद्यापति के नख-शिख-वर्णन में निम्नलिखित पद अद्वितीय है :—

माधव कि कहब सुन्दरि रूपे
कतेक जतन विहि आनि समारल
देख नयन सरूपे ॥
पल्लवराज चरन-जुग सोभित
गति गजराज क भाने।
कनक कदलि पर सिंह समारल
तापर मेरु समाने ॥
मेरु उपरि दुइ कमल फुलायल
नाल बिना रुचि पाई।
मनिमय हार धार बहु सुसरि
तओ नहि कमल सुखाई ॥
अधर बिंवसन दसन दाड़िम-बिजु
रबि ससि उगथिक पासे।
राहु दूर वस नियर न आवथि
तेँ नहि करथि गरासे ॥
सारंग नयन बयन पुनि सारंग
सारंग तसु समधाने।
सारंग ऊपर उगल दस सारंग
केलि करथि मधु पाने ॥

इस पद में रूपकातिशयोक्ति, व्यतिरेक, प्रतीप, विभावना, काव्यलिंग, उपमा, यमक तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों के द्वारा प्राकृतिक उपमानों के सहयोग से अनुपम नारी-सौन्दर्य की सृष्टि हुई है। इस

प्रकार की सृष्टि जायसी के नख-शिख-वर्णन में नहीं हुई। वहां तो केश, मांग, भाल, भौंह, नयन, बरुनी, नासिका, अधर, दसन, रसना, कपोल, श्रवण, ग्रीवा, भुजा, वक्षस्थल, रोमावली, पीठ, कटि, नाभि, जंघाओं तथा चरणों के अलग-अलग वर्णन हैं। विद्यापति ने भी जायसी की भांति पृथक-पृथक अंगों के भी वर्णन किये हैं, लेकिन उनके ये वर्णन भी सम्पूर्ण देह-यष्टि के अभिन्न अंग हैं, इसी कारण इनके इस प्रकार के वर्णनों में भी जीवन्तता आ गई है। इन दोनों कवियों के केशों के वर्णनों से यह अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है :-

जायसी-कृत केश-वर्णन :—

भौंर केश वह मालति रानी।
बिसहर लुरे लेहिं अरघानी॥
बेनी छोरि झार जौं बारा।
सरग पतार होइ अंधियारा॥
कोंपर कुटिल केश नग कारे।
लहरन्हि भरे भुअंग बैसारे॥
बेधे जनौं मलयगिरि बासा।
सीस चढ़े लोटहिं चहुं पासा॥
घुंघरवार अलकें विष भरी।
सँकरै पेम चहैं गिउपरी॥

बिद्यापति-कृत केश-वर्णन :—

चिकुर गरए जल धारा।
जनि मुख ससि डर रोअए अंधारा॥

उपरोक्त केश बर्णनों में जहां जायसी के केश-वर्णन में प्रबन्ध काव्यीय इतिवृत्तात्मकता तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक तथा अतिशयोक्ति के केश-वर्णन में गीति-काव्यीय सरस बिम्ब-सृष्टि है। जायसी की नायिका के केशों को खोलने से अंधकार छा जाता है किन्तु विद्यापति की सद्य:स्नाता नायिका की केशराशी से निर्झरित केशराशि में अन्धकार के रोने की कल्पना जहां एक ओर पाठक को रिगो-भिगो देती है वहीं दूसरी ओर उसे नायिका के ज्योत्स्ना-चारु मुख-मण्डल की ओर भी आकृष्ट करती हैं।

विद्यापति के नख-शिख वर्णनों में गीति-काव्यीय अन्तर्द्वन्द का

भी चित्रण हुआ है। विद्यापति का वयः संधि का वर्णन अन्तर्द्वन्द्वात्मक अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न है, उसमें किशोर एवं यौवन की संगमावस्था में होने वाले नारी के चपल तरल मानसिक एवं शारीरिक परिवर्तनों का सफल अंकन हुआ है। वयः सन्धिस्था नायिका का यह चित्र कितना यथार्थ तथा मोहक है :—

सैसब जौबन दरसन भेल।
दुहु दल-बले दंद परिगेल॥
कबहुँ बांधय कच कबहुँ बिथारि।
कबहुँ झांपय अंग कबहुँ उघारि॥
अति थिर नयन अथिर किछु भेल।
उरज-उदय-थल लालिम देल॥
चंचल चरन चंचल चित भान।
जागल मनसिज मुदित नयान॥

इसके विपरीत जायसी की वयः सन्धि की नायिका के वर्णन में इतिवृत्तात्मक रूप में उसके नख-शिख का सौन्दर्य ही वर्णित हुआ है, उसमें विद्यापति -सी रस-सिक्तता का नितान्त अभाव है :—

भै उनंत पदमावति बारी।
रचि रचि विधि सब कला संवारी
जग बेधा तेहि अङ्ग सुबासा।
भंवर आइ लुबुधे चहुँ पासा॥
बेनी नाग मलयगिरि बैठी।
ससि माथे होइ दूइज बैठी॥

विद्यापति और जायसी दोनों की नायिकाएं—राधिका तथा पद्मावती, पारसरूपिणी हैं, उनके स्पर्श से सम्पूर्ण सृष्टि सौन्दर्य से आभासित हो उठती है। विद्यापति की पारसमणि राधा का वर्णन नख-शिख-वर्णन के उदात्त रूप का उदाहरण है :—

जहाँ जहाँ पग-जुग धरई
तँहि तँहि सरोरुह भरई
जहाँ जहाँ झलकत अंग,
तँहि तँहिं बिजुरि तरंग
कि हेरल अपरूप गोरि
पइठल हिय मांहि मोरि

जहाँ जहाँ नयन विकास
तँहि तँहि नयन परगास
जहां लहु हास संचार
तँहि तँहि अभिय विथार
जहाँ जहाँ कुटिल कटाख
ततँहि मदन सर लाख
हेरइति से धनि थोर
अव तिन भुवन अगोर
पुनु किए दरसन पाव
दय मोहे इह दुख जाव
विद्यापति कह जानि
तब गुने दँवब आनि

जायसी ने भी पद्मावती का इसी रूप में वर्णन किया है। पद्मावती मानसरोवर में स्नान करती हुई जरा हँस भर देती है कि :-

नयन जो देखा कंवल भा,
निरमल नीर समीर।
हँसत जो देख हंस भा,
दसन जोति नग हीर॥

इन दोनों पारसरूप वर्णनों में विद्यापति का वर्णन अधिक सशक्त, प्रभावशाली तथा रूप विधायक है।

विद्यापति सौन्दर्य चेता कवि हैं, यही कारण है कि उनके नख-शिख वर्णन में जायसी की भांति वीभत्स रस का संचार नहीं हुआ है। विद्यापति की राधिका की मांग बन्धूक पुष्प-सी है, वह सिंदूर रंगिल तथा गज मुक्ताओं से सुशोभित है। लेकिन जायसी की पद्मावती कुमारी है, उसकी माँग में सिन्दुर नहीं भरा है, फिर भी वह रक्तिम है मानों तलवार की धार पर खून भरा हो। नायिका के माँग-सौन्दर्य चित्रण में यह वीभत्स रस का संचार अक्षम्य है। विद्यापति के नख-शिख वर्णनों में एक भी स्थल इस प्रकार का नहीं है।

विद्यापति ने रूढ़ उपमानों का प्रयोग प्रचुरता से अपने नख-शिख वर्णन में किया है किन्तु साथ ही मौलिक कल्पना की संयोजना से उन्होंने रूढ़ उपमानों का रसमय नवीकरण कर दिया है, जायसी में यह विशेषता अपेक्षाकृत कम है। विद्यापति और जायसी दोनों ने ही

नेत्रों का वर्णन किया है। दोनों के नेत्र बंकिम हैं। पद्मावती के नेत्र अपनी चपलता के कारण आकाश में उड़ जाना चाहते हैं :—

उठहि तुरंग लेहि नहिं बागा।
चहहि उलथि गगन कहँ लागा॥

लेकिन विद्यापति का नेत्र वर्णन तो कल्पना की मनोरम उच्चता का स्पर्श कर लेता है। उनकी नायिका के अंजन-रंजित कमल-नयन ब्रह्मा द्वारा काजल-पाश से बन्धित-युगल चकोर हैं। कितनी भव्य संयमित चपलता है इन नेत्रों की :—

नयन नलिनि दओ अंजन रंजइ
भौंह बिभंग बिलासा।
चकित चकोर जोर बिधि बाँधल
केवल काजर पासा॥

विद्यापति नायिका के एक ही अंग का अनेक प्रकार से वर्णन नहीं करते, वे कम शब्दों में अर्थ-गाम्भीर्य भर देते हैं, जब कि जायसी एक ही बात को अनेक ढंग से चित्रित करते हैं। परिणाम यह होता है कि एक बात का स्पष्ट चित्र-पाठक के सामने नहीं आ पाता। वह अनेक ढंगों में ही उलझ कर रह जाता है। विद्यापति तो 'अधर बिंब्रसन उगथिक दाड़िम-बिजु रवि ससि उगथिक पासे' मात्र कह कर ही सम्पूर्ण मुख-मंडल की शोभा माधुरी का चित्रण कर देते हैं जब कि जायसी अधर और दाँतों का विशद् वर्णन करते हैं। इस वर्णन में कल्कनाओं की चित्र-विचित्रताओं में पाठक अधर-दन्तों की विशिष्ट रूप-भंगिमा को हृदयंगम नहीं कर पाता :—

अधर सुरंग अमिय रस भरे।
बिम्ब सुरंग लाजि बन फरे॥
फूल दुपहरी जानों राता।
फूल झरहि ज्यों ज्यों कह बाता॥
हीरा लेइ सो विद्रुम-धारा।
बिहँसत जगत होइ अजियारा॥

× × ×

दसन चौक बैठे जनु हीरा।
और बिच बिच रंग श्याम गंभीरा॥
जस भादों निसि दामिनि दीसी।
चमकि उठै तस बनी बतीसी॥

वह सुजोति हीरा उपराहीं।
हीरा जाति सो तेहि परछाहीं॥

विद्यापति मुख वर्णन के पश्चात् अधर, चिबुक और कंठ के वर्णनों को छोड़ कर कुचों की रूपच्छवि का अंकन करते हैं। प्रबन्धकार जायसी इन सब का ही परम्परित वर्णन करते हैं। जहाँ तक कुचों के वर्णन का प्रश्न है विद्यापति अद्वितीय हैं। विद्यापति ने कितनी ही उपमाओं के द्वारा कुच सौष्ठव को उपमित किया है। विद्यापति के कुछेक कुच-वर्णन इस प्रकार हैं:—

(१) कुच जुग परसि चिकुर फुनि परसल
ता अरुझायल हारा।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल
चाँद बिहुन सब तारा॥

(२) मेरु ऊपर दुइ कमल फुलायल
नाल बिना रुचि पाई।

(३) गिरबर गरुअ पयोधर-परसित
गिम गज मोतिक हारा॥
काम कम्बु भरि कनक संभु परि
डारत सुरसरि धारा॥

(४) सजल चीर रह पयोधर सीमा
कनक बेल जनि पड़ि गेल हीमा॥

(५) अम्बर विघटु अकामिक कामिनि
कर कुच झाँपु सुछन्दा।
कनक संभु सम अनुपम सुन्दर
दुई पंकज दस चन्दा॥

(६) उरहि अंचल झाँपि चंचल
आध पयोधर हेरु।
पौन पराभव सरद घन जनि
वेकल कएल सुमेरु॥

इन कुचों के वर्णनों में कुचों का सौन्दर्य विभिन्न परिपार्श्वमयी कामोद्दीपक प्रतिच्छवियों के रूप में अंकित हुआ है। विद्यापति की इन्द्र-धनुषी-कल्पना ने नारी के वक्ष-प्रदेश के कितने ही हृदयग्राही

चित्र चित्रित किये हैं। इसके विपरीत जायसी ने कुच-वर्णन में केवल परम्परायुक्त उपमानों की प्रदर्शनी सी लगा दी है, वे विद्यापति के सदृश्य कुचों की रस स्निग्ध प्रतिमा अंकित नहीं कर सके :—

हिया थार कुच कंचन लारू।
कनक कचोर उठे जनु चारू॥
कुन्दन बेल साजि जनु कूदे।
अमृत रतन मोन दुइ मूँदे॥
बेधे भौंर कंट केतकी।
चाहहि बेध कीन्ह कंचुकी॥
जोबन बात लेहि नहिं बागा।
चाहि हुलसि हिये हट लागा॥
अगिन बान दुइ जानों साँधे।
जग बेधहिं जो होहि न बाँधे॥

विद्यापति और जायसी दोनों ने रोमावली का चमत्कार पूर्ण वर्णन किया है। तुलना के लिये हम इन दोनों कवियों के निम्न वर्णनों को लेते है।

विद्यापति-कृत रोमावली वर्णन :—

नाभि बिबर सयँ लोम लता वलि
भुजंगि निसास पियासा।
नासा खगपति चंचु भरम-भय
कुच-गिरि संधि निवासा॥

जायसी-कृत रोमावली वर्णन :—

साम भुअंगिनि रोमावली।
नामी निकसि कवंल कँह चली॥
आइ दुऔ नारंग बिच भई।
देखि मयूर ठमकि रहि गई॥
मनहुँ चढ़ी भौरेन्ह के पाँती।
चंदन खाँभ बास कै माती॥
की कालिन्दी बिरह सताई।
चलि प्रयाग अरइल बिच्च आई॥

उपरोक्त वर्णनों में विद्यापति के वर्णन में जहाँ एक ओर रोमावली की मृदुता, श्यामता, सूक्ष्मता तथा नाभिगामिता की चित्रण

हुई है वहाँ दूसरी ओर रूपक की सुष्ठु समायोजना के कारण रोमावली सर्पिणी के उच्छ्वास-आस्वादना के लिये ऊपर की ओर जाने के कारण की व्यंजना भी हुई है। इस कारण विद्यापति का वर्णन जायसी की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण बन पड़ा है। विद्यापति के इस वर्णन में प्रत्येक उपमान सार्थक है जबकि जायसी के उपमान केवल परम्परा निर्वाह के परिणाम हैं।

विद्यापति एवं जायसी दोनों के चरण-वर्णन मनोरम हैं। जायसी की नायिका के अनवट बिछियों से सुशोभित चरण सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की प्रकाशिमा से सुशोभित हैं। इन चरणों की सौन्दर्य परक धवलिमा अद्वितीय है :

चूरा चाँद सुरज उजियारा।
पायल बीच करहिं झनकारा।
अनवट बिछिया नखत तराई।
पहूंच सकै को पाँयन ताई॥

लेकिन विद्यापति की नायिका के चरणों की शोभा निराली है, वे चरण सुवासित सौन्दर्य, ताजी स्निग्धता तथा गतिशील संगीत के त्रिवेणि संगम हैं। विद्यापति ने रूपकातिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा अलंकार के कल्पना-वैभव से चरणों को कामदेव राजा के मनोहर बाजे ही बना दिया ;—

विपरित कनक कदलि तर सोभित
थल पंकज के रूप रे।
तथहुँ मनोहर बाजन बाजे
जनि जागे मनसिज भूप रे॥

निःसन्देह विद्यापति की नायिका के चरण जायसी की नायिका के चरणों की अपेक्षा अधिक कामोद्दीपक तथा मनोरम हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि विद्यापति और जायसी दोनों ही कवियों ने अपनी प्रतिभा के सर्वोत्तम अंश से अपनी-अपनी नायिकाओं का नख-शिख-निरूपण किया है। जहाँ तक जायसी का प्रश्न है वे अधिकाँशतया परम्परा का अनुसरण करते रहे, साथ ही उनके वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण होने के कारण प्रभावशाली रूप का अंकन करने में असमर्थ रहे हैं। इसके विपरीत विद्यापति ने भी नख-शिख-निरूपण में प्रायः परम्परागत

ढँग अपनाया, किन्तु साथ ही वे परम्परा के मोह को छोड़ कर भी चले हैं। ऐसे स्थलों में रमणीयता, रसमयता, अभिनवता, सहजता और मार्मिकता का पूर्ण समावेश हो गया है इन सुलक्षणों से सुलसित विद्यापति के नख-शिख-वर्णन नारी सौन्दर्य के आकर्षक चित्रपट हो गये हैं।

पदावली

शिव स्तुति

(१)

जय जय संकर जय त्रिपुरारि। जय अध पुरुष जयति अध नारि।।
आध धवल तन आधा गोरा। आध सहज कुच आध कटोरा।।
आध हड़माल आध गजमोती। आध चानन सोहे आध बिभूती।।
आध चेतन मति आधा भोरा। आध पटोर आध मुँज डोरा।।
आध जोग आध भोग बिलासा। आध पिधान आध नग बासा।।
आध चान आध सिंदुर सोभा। आध बिरूप आध जग लोभा।।
भने कबिरतन बिधाता जाने। दुइ कए बांटल एक पराने।।

शब्दार्थ :—हड़माल-हड्डियों की माला। भोरा-भला पटोर-रेशमी वस्त्र। चानन-चन्दन। पिधान-परिधान। नग बासा-अनावरणित, वस्त्रहीन। चान-चन्द्रमा।

प्रसंग :—विद्यापति शृंगारिक कवि होते हुये भी शिव-भक्त थे। शिव उनके लिये देवादिदेव थे। कवि ने अपने इस विश्वास की अभिव्यक्ति शिव की अर्ध नारी नटेश्वर के रूप में स्तुति करके की है। अर्ध नारी नटेश्वर उपनिषदों की दार्शनिक कल्पना है। प्रस्तुत पद में इसी कल्पना की भक्तिल अभिव्यक्ति हुई है।

व्याख्या :—हे त्रिपुर राक्षस [अर्थात् अशिव] के शत्रु शंकर आपकी जय हो। आपमें पूर्ण ब्रह्मत्व की व्याप्ति है तभी तो आपमें सृष्टि के पुरुष और नारी तत्त्व की सन्निहिति है अर्थात् आप आधे [दाएँ] भाग में पुरुष और आधे [बायें] भाग में नारीत्व को धारण किये हुये हैं। हे अर्ध नारी नटेश्वर तुम्हारी जय हो। हे प्रभु ! आपकी देह का आधा भाग पौरुषपूर्ण धवलिमा-युक्त है और आधा भाग नारियोचित श्वेत वर्ण का है। आपके आधे भाग में पुरुषोचित स्वाभाविक कुच सुशोभित है और आधे नारी भाग में कटोरे की भांति उभरा हुआ कुच विद्यमान है।

आपके आधे अंग में हड्डियों की माला पड़ी हुई है और आधे अंग में गज मुक्ताओं की माला शोभायमान है। तात्पर्य यह है कि

आप कुरूपता और सौन्दर्य दोनों को ही धारण करने वाले पूर्ण पुरुष हैं। आपके आधे भाग में चन्दन के प्रलेपन की सज्जा है और आपका आधा भाग भस्मी से सुशोभित है। हे प्रभु ! आप अपने आधे भाग में शक्ति की चेतन बुद्धिशीलता से मंडित हैं और आधे भाग में शिवत्व के भोलेपन में स्थित। आपके आधे नारी भाग में रेशमी वस्त्रों का शृंगार है और आधे पुरुष भाग में मूंज की डोर की कोपीन स्थित है।

हे विभो ! आप योग और भोग के संगम हैं तभी तो आप पार्वती रूप आधे भाग में शृंगार के अधिष्ठान हैं, उस भाग में आप वस्त्रों से आवरणित हैं और शिव रूप आधे भाग में आप विरक्ति के प्रतिष्ठान हैं, उस भाग में आप योगियों की भाँति अनावरणित—वस्त्रहीन हैं। आपके आधे शिव भाग पर चन्द्रमा सुशोभित है और आधे पार्वती भाग में सिन्दूर की बिन्दु सुलसित है। आपका आधा भाग कौरूप्य—कुरूपता को धारण किये हुये है और शेष आधा भाग अग-जग को आकृष्ट करने वाले शृंगार से मंडित है। तात्पर्य यह है कि शिव में सुरूपता और कुरूपता तथा योग और भोग एक रूप हैं। शिव-पार्वती अभिन्न हैं तभी तो कविरतन विद्यापति कहते हैं—शिव के इस विरोधाभासों के संगमित रूप को बुद्धि के परमदेवता ब्रह्मा ही समझ सकते हैं। जिन्होंने एक प्राण को दो रूपों में–शिव और पार्वती में—विभक्त कर दिया। भाव यह है कि शिव और पार्वती मूल रूप में अभिन्न हैं, औपाधिक रूप में दो रूपों में प्रतिभासित भर होते हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'जय···अध नारि' में पुनरोक्ति प्रकाश।

२. 'आध···कटोरा' उपमालंकार।

३. पूरे पद में कवि की चित्रोपमता दृष्टव्य है।

४. इस पद में प्रथम पंक्ति से लेकर तृतीय पंक्ति के पूर्वार्द्ध तक पहले पुरुष रूप तथा उसके पश्चात् नारी रूप का वर्णन है परन्तु तृतीय के उत्तरार्ध, चतुर्थ और पंचमी के उत्तरार्ध, में इस क्रम ने शीर्षासन लगा दिया अर्थात् पहले नारी रूप और फिर पुरुष रूप का वर्णन है, इस कारण दुष्क्रमत्व दोष आ गया है।

५. अर्द्धनारीश्वर के इस वर्णन में अद्वैत दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। अन्तिम अर्धाली इस मत का पोषण करती है।

(२)

हर जनि बिसरब मो ममिता, हम नर अधम परम पतिता।
तुअ सन अधम उधार न दोसर, हम सन जग नहिं पतिता ॥
जम के द्वार जबाब कओन देब, जखन बुझत निज गुनकर बतिया
जब जम किंकर कोपि पठाएत, तखन के होत धरहरिया ॥
भन विद्यापति सुकवि पुनित, मति संकर बिपरित बानी ॥
असरन सरन चरन सिर नाओल दया करु दिय सुलपानी ॥

शब्दार्थ :—जनि-मत । बिरसब-भूलना । ममिता-ममता । अधम-उधार-अधमों के उद्धारक । दोसर-अन्य । सन-समान । कओन देब-क्या दूँगा । जखन-जिस क्षण । किंकर-सेवक । धरहरिया-सहायक । बिपरित बानी-टूटी फूटी, उल्टी वाणी, पापयुक्त वाणी । नाओल-नमन करता हूँ । सुलपानी-शूलपाणि ।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में विद्यापति की दैन्यानुभूति की अभिव्यक्ति है साथ ही उनके आराध्य प्रभु शिव के पतित-पावनत्व के औदार्य का भी उल्लेख हुआ है ।

व्याख्या :—हे शिव ! आप मेरे प्रति अपने ममत्व को न भूलें, क्योंकि आपकी यह ममता ही तो पतितात्माओं के उद्धार की एक मात्र आशा है और मैं नीच और अत्यन्त पापी व्यक्ति हूं । आपके सदृश्य इस अखिल सृष्टि में पतितात्माओं का उद्धारक कोई अन्य नहीं है, इस क्षेत्र में आप अनन्य हैं और मेरे समान पापी भी इस सारे संसार में नहीं होगा । तात्पर्य तह है कि हमारा-तुम्हारा संयोग खूब हुआ । आप तो सर्वोच्च पतिता हैं । देखता हूँ कि मेरे पापी स्वरूप का विलोपन होता है या नहीं ।

जब अन्तिम समय में नरक के निर्णायिक यम के द्वार पर उपस्थित किया जाऊँगा और जब वहाँ यम के सेवक अर्थात् यमदूत मेरे गुणों के विषय में पूछेगा तो मैं क्या उत्तर दूँगा (क्योंकि मैंने अपना सारा जीवन ही विषय-वासनाओं के उपभोग एवं अन्य पतित कर्मों की क्रियमाणिता में बिता दिया है ।) जब यमदूत क्रोधाभिभूत मेरे पाप कृत्यों के दण्ड स्वरूप मुझे नरक को पठायेंगे तो उस क्षण आप ही मेरे सहायक हो सकते हैं तात्पर्य यह है कि उस क्षण आपकी

ममता ही मेरा उद्धार कर सकती है। [कतिपय टीकाकारों ने 'जब जम किंकर कोपि पठाएत' का अर्थ इस प्रकार किया है कि :— जब यम क्रोधित होकर अपने दूत भेजेगा।' लेकिन यह अर्थ तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि इससे पहले की पंक्ति में यम के द्वार पर पहुंचा जा चुका है, उस द्वार तक यमदूत ही ले जाते हैं कोई स्वेच्छा से नहीं जाता]

मैं सुकवि विद्यापति [इस क्षण] 'पुनित मति' अर्थात् पावन बुद्धि से आर्त्त वाणी में (स्वयं की घोर पापिता और प्रभु की परम पवित्रता की विपरीत वाणी में) अपने विगत कृत्यों को कह रहा हूँ। इस पंक्ति का अर्थ टीकाकार श्री मुरारी लाल उप्रैति : ने इस प्रकार किया है : मैं 'सुकवि' विद्यापति अपनी विपरीत वाणी से, अर्थात् पापयुक्त वाणी से पवित्र बुद्धि वाले शंकर का स्मरण करता हूँ) हे शूलपाणि। आप अशरण-शरण हैं—आश्रयहीन के आश्रयदाता हैं। मैं आपके चरणों में सिर नवाता हूँ अर्थात् मैं आपके समक्ष अत्यन्त दीन भाव से अपने आप को समर्पित करता हूँ। (आप तो अशिव का नाश करने के लिये त्रिशूल अपने हाथ में धारण किए हुए हैं) हे देव मुझे अपनी करुणा का दान दो—मेरा उद्धार करो।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. प्रथम पंक्ति में अनन्वय अलंकार का प्रयोग हुआ है।

२. प्रस्तुत पद में सूर एवं तुलसी की कोटि की उच्छ्वसित दैन्याभिव्यक्ति हुई है।

३. 'तुअ सन·····नहि पतिता' में विद्यापति ने मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा नहिं' का शब्दशः अनुवाद कर दिया है।

(३)

कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ।
दुखहि जनम भेल दुखहि गमाएब सुख सपनहु नहि भेल, हे भोला०
आछत चानन अवर गंगाजल बेलपात तोहि देब, हे भोला०
यहि भवसागर थाह कतहु नहि, भैरव धरु कर आए, हे भोला०
भव विद्यापति मोर भोलानाथ गति, देहु अभय बर मोहिं, हे भोला०

शब्दार्थ ;—कखन-किस क्षण। भेल-हुआ। गमाएव-व्यतीत किया। आछत-अक्षत, चावल। अवर-और। धर करु-हाथ पकड़ो।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में भक्त हृदय की आर्त्तता का प्रभु के समक्ष निवेदन हुआ है।

व्याख्या :—(विद्यापति कहते हैं) कि हे भोलानाथ आप किस क्षण मेरी (भव-सागर की प्राण-दशिका) पीड़ा का हरण करेंगे। दुख मेरे सम्पूर्ण जीवन का सत्य है—मेरा जन्म वेदना में ही हुआ है, सारा जीवन मैंने दुख में ही व्यतीत किया है, यहां तक कि स्वप्न तक में सुख का दर्शन मुझे नहीं हुआ है। हे प्रभो। (मैं अपने उद्धार के हेतु) अक्षत, चन्दन गंगाजल और वेलपत्र को अर्पित कर आपकी आराधना करता हूँ। यह भवसागर अथाह है (ज्यों-ज्यों मैं इसकी थाह पाने का प्रयास करता हूँ त्यों-त्यों इसकी भीम भयंकर लहरों की चपेटों से पीड़ित होने लगता हूँ) अतः इस स्थिति में हे भैरव (भय से मुक्त करने वाले देव) आप ही आकर मेरा हाथ ग्रहण कर भवसागर में डूबने से बचाइये। विद्यापति अन्त में भय-भंजक भोलानाथ से प्रार्थना-विह्वल स्वरों में कहते हैं कि प्रभु। आप ही मेरी गति हो अर्थात् मेरें मुक्तिदाता देव केवल मात्र आप ही हैं। कृपा कर आप मुझे निर्भयता का वरदान दीजिए। तात्पर्य यह है कि कवि पापों से विमुक्त होकर पुण्य की अभयता का वरदान अपने आराध्य शिव से प्राप्त करना चाहता है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'भैरव……आए' में भैरव सार्थक संबोधन है। अतः यहां परिकरांकुर अलंकार है।

२. भवसागर में रूपक है।

३. प्रस्तुत पद में विद्यापति की सकाम भक्ति की अभिव्यक्ति हुई है।

(४)

सिव हो उतरब पार कओन बिधि।
लोढब कुसुम तोरब बेल पात। पुजब सदासिब गौरिक सात॥
बसहा चढ़ल सिव फिरहू मसान। भँगिया जरठ दरदो नहिं जान॥

जप तप नहि कैलहुँ नित दान। बित गेला तिन पन करईत आन।।
भन विद्यापति सुन हे महेस। निरधन जानि के हरहु कलेस।।

शब्दार्थ :—लोढ़व-चुनूँगा। गौरिक सात-पार्वती के साथ। बसहा-बैल, वृषभ। जरठ-वृद्ध। कैलहुँ-किया। आन-अन्य।

संदर्भ :—प्रस्तुत पद में विद्यापति ने शिव-पार्वती की साथ-साथ पूजा की स्पष्ट घोषणा की है।

व्याख्या :—हे शिव। मैं पाप तरंगों से आलोड़ित इस भवसागर से किस प्रकार पार उतर सकूँगा अर्थात् वह कौन से विधि विधान हैं जिनके कि द्वारा मैं साँसारिक तापों से विमुक्त होकर अक्षय आनन्द में अवस्थित हो सकूँगा। मैं पुष्पों का संचयन करूंगा—चुनूंगा, बेल-पत्र तोड़ूंगा और इन नैवेद्यों के द्वारा सनातन शिव की, उनकी अभिन्न शक्तिरूपा पार्वती के साथ, पूजा करूंगा।

हे शिव ! आप बैल पर आरूढ़ होकर श्मशान-भूमि में घूमते फिरते हो; 'आप भंग के नशे में उन्मत्त होकर मुझ वृद्ध आराधक की पीड़ा तक से अनवगत हैं। हे प्रभो ! मैं पुण्यकर्त्ता नहीं हूँ मैंने अपने जीवन में न तो तुम्हारे नाम का ही स्मरण किया है और न ही जीवन को श्रेष्ठ एवं भक्तिमय बनाने के लिये कठिन आत्म-साधना पूर्ण तप ही किया है। इसके अतिरिक्त न ही मैंने दूसरों की हित-साधना के लिये अपनी किञ्चित मात्र भी सुख-सुविधा की अर्पणा की है अर्थात् मुझसे प्रतिदिन का दान भी देते नहीं बन पड़ा है। मेरे जीवन की तीनों अवस्थाएँ—बालापन, यौवन तथा वृद्धापन, अर्थात् समग्र-जीवन ही इस जप-तप-दान की पुण्य-त्रयी के अतिरिक्त भक्ति-रहित सांसारिक बातों को करते हुए ही व्यतीत हुआ है। विद्यापति कहते हैं कि हे महि के ईश्वर अर्थात् पृथ्वी के ऐश्वर्य के परम अधिदेव मेरी प्रार्थना सुनिए। आप मुझे नितान्त अकिञ्चन जान कर ही मेरे क्लेशों का हरण कीजिये।

साहित्यक विश्लेषण :—

१. द्वितीय पंक्ति के उत्तरार्ध में सहोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

२. प्रस्तुत पद में विद्यापति ने विशिष्टद्वैत के प्रभाव स्वरूप ही युगलमूर्ति गौरी-शंकर को अपना इष्ट देव बनाया है।

३. 'बित······आन' की तुलना में शंकराचार्य का निम्न स्त्रोत दृष्टव्य है :—

बालस्तावत् क्रीड़ासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्त :
बृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥

(५)

भल हर भल हरि भल तुअ कला । खन पित बसन खनहिं बघछला ॥
खन पचानन खन भुज चारि । खन संकर खन देव मुरारि ॥
खन गोकुल भए चराइअ गाय । खन भिख मांगिए डमरू बजाय ॥
खन गोंबिन्द भए लिअ महिदान । खनहि भसम भरु कांख बोकान ॥
एक सरीर लेल दुइ बास । खन बैकुण्ठ खनहि कैलास ॥
भन विद्यापति बिपरित बानि । ओ नारायण ओ सुलपानि ॥

शब्दार्थ :—भल-श्रेष्ठ । हर-शिव । हरि-विष्णु । खनहि-क्षण में ही । लिअ-लिया । महिदान-मट्ठे का दान : भरु- लेते हो । बोकान-धूल-चूर्ण, भस्मी ।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में विद्यापति की उदार शैव-भावना के दर्शन होते हैं । इसमें शिवत्व और विष्णुत्व की एकरूपता का प्रतिपादन किया गया है ।

व्याख्या :—हे शिव तुम श्रेष्ठ हो; हे हरि तुम्हारी कला भी श्रेष्ठ है । तुम दोनों ही एक तत्त्व हो तभी तो तुम क्षण मात्र में ही पीताम्बर धारण कर विष्णु रूप हो जाते हो और क्षण मात्र में ही बाघाम्बर धारण कर शिव रूप में प्रतिभासित होने लगते हो । हे प्रभो ! कभी तुम क्षण मात्र में पंचानन शिव रूप धारण कर लेते हो और कभी क्षण मात्र में ही चतुर्भुजा वाले विष्णु के रूप में दीखने लगते हो । क्षण में ही तुम शिव बन जाते हो और क्षण में मुर राक्षस को मारने वाले कृष्ण बन जाते हो । कहने का अभिप्राय यह है कि कवि एक ही ब्रह्म को दो रूपों में लीलारत देखता है ।

क्षण में ही तुम गोकुल में स्थित हो गायों को चराते हुए गोपाल रूप में दीख पड़ते हो और फिर.क्षण में ही शिव-रूप धारण

कर डमरू बजा कर भीख मांगते हुए दिखाई देने लगते हो। कभी क्षण में ही तुम गोविन्द बनकर गोपियों से दधिदान लेने लगते हो अथवा इन्द्रियों के अधिपति बनकर गोपिकाओं से रसदान ग्रहण करते हो और फिर क्षण भर में ही, ठीक इसके विपरीत, भस्मी कांख में भर कर वैरागी का रूप धारण कर लेते हो।

हे प्रभो ! हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि तुम एक तत्त्व हो और दो शरीरों के रूप में दो स्थानों में अधिवास कर रहे हो अर्थात् क्षण भर में ही तुम कैलाश पर्वत पर वास करते दीखते हो फिर दूसरे क्षण में ही विष्णु का रूप–सौन्दर्य धारण कर बैकुण्ठ में विराजमान दीखते हो। कवि विद्यापति विरोधाभासीय वाणी-हे नारायण और यह शूलपाणि कहते हैं। तात्पर्य है कि वस्तुत: विष्णु और शिव तत्त्वत: अभिन्न हैं, केवल वाणी की अभिव्यक्ति में दो भिन्न रूपों में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। यह वाणी ही 'विपरित बानि' है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. सम्पूर्ण पद में उल्लेख अलंकार का प्रयोग हुआ है।

२. पुनरोक्ति प्रकाश का प्रयोग स्थल-स्थल पर हुआ है।

३. कतिपय विद्वानों की सम्मति में इस पद में शिव और विष्णु की एकरूपता के द्वारा विद्यापति ने एकेश्वरवाद की ही प्रतिष्ठा की है। लेकिन हमारे मत में 'इस पद की 'भल हर' से प्रारम्भना तथा 'ओ सुलपानि' से समापना इस बात की द्योतक है कि विद्यापति के चेतन एवं उपचेतन में देवत्व की एकरूपता की प्रक्रिया में शिव की ही सर्वोपरिता रही है।

नचारी और महेशबानी

(६)

आगे माई एहन उमत बर लाइल हिमगिरि देखि देखि लगइछ रंग ॥
एहन बर घोड़बो न चढ़इक जो घोड़ रंग रंग जंग ॥
बाघक छाल जे बसहा पलानल साँपक भीरल तंग ॥
डिमक डिमक जे डमरू बजाइन खटर खटर करु अंग ॥
भकर भकर जे भाँग भकोसथि छटर पटर करु गाल ॥
चानन सों अनुराग न थिकइन भसम चढ़ावथि भाल ॥

भूत पिशाच अनेक दल साजल, सिर सों बहि गेल गंग ॥
भनइ विद्यापति सुन ए मनाइन थिकाह दिगंबर अंग ॥

शब्दार्थ :—एहन-ऐसा। उमत वर-उन्मत्त दूल्हा। लाइल-लाए। लगइछ रंग-हँसी आती है। पलानल-जीन कसी है। साँपक भीरल तंग-सापों का तंग (घोड़ा कसने का चर्म) कसा हुआ है। भकोसथि-खाते हैं। चानन-चन्दन। थिकइन-है। मनाइन-पार्वती की माता मैना। थिकाह—हैं।

प्रसंग :—हिमगिरि की कन्या पार्वती से परिणय करने के हेतु शिव अपनी बारात लेकर आये हैं। चित्र-विचित्र तथा भयंकर दूल्हे शिव को देख कर मैना की एक सखी दूल्हे एवं उसकी बारात का परिहासात्मक वर्णन मैना से करती है।

व्याख्या :—हे प्रिय सखी! हिमालय (पार्वती के लिये) ऐसा अस्तव्यस्त उन्मत्त वर को खोज कर लाये हैं कि जिसे देख देख कर हसी आती है। (कहां रूप-सुन्दरी कोमल कन्या पार्वती और कहाँ कुरुपावतार शिव) प्रायः कर दूल्हे सुसज्जित अश्व पर आरूढ़ होकर आते हैं लेकिन यह तो ऐसा बावला वर है कि घोड़े पर भी नहीं चढ़ सकता। (यह वर तो विचित्र वाहनारूढ़ है) यह दूल्हा तो एक ऐसे बैल पर चढ़ा है, जिस पर जीन न होकर बाघम्बर बिछा हुआ है और जो चमड़े की रस्सी से न कसा होकर सर्पों से कसा हुआ है। वे शिव डिमक-डिमक ध्वनि के साथ अपने डमरू को बजा रहे हैं। यहां सखी के कहने का तात्पर्य यह है कि शिव दूल्हा हैं या मदारी, दूल्हा तो चुपचाप रहता है मदारियों की तरह डमरू नहीं बजाता। इसके अतिरिक्त दूल्हा सुन्दर मालायें धारण किये होता है और यह दूल्हा रुन्डमुन्डों की माला को धारण किये है, जो बैल चलने से उत्पन्न झकझोले के कारण हिलती है तब उनके अंगों से लग कर खटर-खटर की कर्ण कटु एवं वीभत्स ध्वनि उत्पन्न करती है।

यह दूल्हा भी अजीबोगरीब है। यह बार बार मुंह भर भर कर भाँग भकोस रहा है जिसके कारण उसके गाल छटर-पटर की ध्वनि करते हैं। तात्पर्य यह है कि भाँग अधिक मात्रा में मुंह में भरी होने के कारण खाने के दौरान में विचित्र प्रकार की छटर-पटर की ध्वनि निकलती है। यह दूल्हा है कि अवधूत! दूल्हे को तो चन्दन प्रलपित

होना चाहिए । लेकिन इन शिव को चन्दन के प्रति कुछ प्रेम ही नहीं है, यह तो अपने मस्तक को भस्मावृत किये हुए हैं । इनकी बारात में भूत और पिशाचों के दल के दल (अपनी वीभत्स सज्जा से) सुसज्जित हैं, इनके शीश से गंगा प्रवहमान है । विद्यापति कहते हैं कि सखी कहती है कि हे मैना ! सुनो, यह असामान्य वर है, क्योंकि सामान्य वर तो परिधानित होते हैं लेकिन यह वर परिधान-विरहित है । इसका व्यंजना के द्वारा यह अर्थ भी हो सकता है कि शिव अलौकिक वर हैं जिनकी व्याप्ति अखिल ब्रह्माण्ड है और जिनके वस्त्र केवल दिशाएँ ही हैं ।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. तृतीय पंक्ति में रूपक अलंकार का प्रयोग हुआ है ।

२. 'डिमक डिमक', 'खटर-खटर', 'छटर पटर' की ध्वन्यात्मकता सजीव वातावरण को उत्पन्न करती है ।

३. इस पद में रूप-वर्णन और हास्य-वृत्ति का संयोग हुआ है ।

४. कवि ने शिव को अलौकिक योगी बर के रूप में चित्रित किया है ।

(७)

हम नहि आज रहब यहि आँगन जो बुढ़ होएत जमाई, गे माई ।
एक त बइरि भेला बीध बिधाता दोसरे धिया कर बाप ।।
तीसरे बइरि भेला नारद बाभन जैं बूढ़ आनल जमाई, गे माई ।।
पहिलुक बाजन डामरु तोरब दोसरे तोरब 'रुँडमाला ।
बरद हाँकि बरिआत वेलाइब धिआ लेजाइब पराइ, गे माई ।।
धोती लोटा पतरा पोथी एहो सभ लेबन्हि छिनाई ।
जो किछु बजता नारद बाभन दाढ़ी दे घिसिआएब, गे माई ।।
भन विद्यापति सुनु हे मनाइन दृढ़ करु अपन गेआन ।
सुभ सुभ कए सिरी गौरी बिआहू गौरी हर एक समान, गे माई ।।

शब्दार्थ :—बुढ़-बूढ़ा । बइरि-शत्रु । बीध-विधाता । आनल-लाया । पहिलुक-सबसे पहले । बरद-बैल । बरिआत-बरात ।

बेलाएव भगा दूंगी। धिया लेजाइब पराइ-पुत्री को लेकर पलायन कर जाऊँगी। जो किछु बजता नारद बाभन-यदि नारद ब्राह्मण ने कुछ रोका। सुभ सुभ कए-शुभ कामना के साथ। सिरी-गौरी।

प्रसंग :—वर शिव एवं उसकी बरात की भयंकरता को देख कर माँ का मातृत्व अपनी सुकुमारी पुत्री पार्वती के प्रसंग में दुखी हो जाता है। वह क्रोधाभिभूत होकर सखी से कहती है।

व्याख्या :—हे सखी ! यदि इस बृद्ध शिव को मेरा जामाता बनाया गया तो फिर मैं इस (घर के) प्रांगण में नहीं रहूँगी। मेरी इस कन्या के तीन शत्रु हो गये। एक तो ब्राह्मण ही शत्रु हुआ जिसने मेरी (नवनीता) कन्या का इस बृद्ध से विवाह का संयोग-विधान किया। दूसरे इसके पिता हिमालय ने ऐसे बृद्ध एवं सुरुचि हीन वर का नयन कर शत्रुता का व्यवहार किया है। तीसरा बैरी ब्राह्मण नारद है जो मेरी कन्या की विधि मिलाकर इस बृद्ध जमाता को मेरे द्वार पर ले आया। मैना के इस कथन का तात्पर्य यह है। कि ब्राह्मण, हिमालय एवं नारद तीनों की बृद्ध होने के कारण मति भ्रष्ट हो गई है तभी तो ये बूढ़े खुसट को जमाता के रुप में चुन लाये हैं। (मैना सबसे पहले शिव पर ही क्रोधित होती है।) वह कहती है कि अगर इस डमरु बाजे को ही तोड़ूंगी और तदुपरान्त रुण्डमाला माला को तोड़ डालूंगी। मैं शिव के बैल को खदेड़ कर बारात को भी (तित्तर बितर कर) भगा दूंगी और फिर अपनी पुत्री को भगाकर [कहीं दूर] ले जाऊंगी।

हे सखी ! [मैं ब्राह्मण नारद को भी क्षमा नहीं करूंगी] मैं इस ब्राह्मण नारद का धोती, लोटा विवाह कराने की पोथी पत्रा सब ही छिनवा लूंगी और यदि इसने कुछ अनाकानी की—कुछ ब्राह्मणत्व की गरिमा का प्रदर्शन किया, तो मैं स्वयं उसकी दाढ़ी पकड़ कर घसीटूंगी।

मैना के इन बचनों को सुनकर विद्यापति के शब्दों में ही उसकी सखी कहती है कि मैना ! सुनो, तू जो शिव के वरत्व के सम्बन्ध में अनर्गल प्रलाप कर रही है वह अज्ञान के कारण ही है। यह शिव देवाधिदेव हैं तू इस ज्ञान को दृढ़ता से मन में धारण कर—तू अज्ञान के कारण शिव में अशिवत्व का दर्शन मत कर और शिव एवं पार्वती के विवाह का मंगल विधि के साथ विवाह कर, क्योंकि यह दोनों एक समान अर्थात् एक दूसरे के सर्वथा उपयुक्त हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. प्रस्तुत पद में विद्यापति कालीन उन सामाजिक परिस्थितियों का उद्घाटन हुआ है जिसमें कि बूढ़े वर के साथ अल्पवयस्का कन्याओं का विवाह रचाया जाता था। इन सामाजिक विवशताओं में मां का हृदय कितना दंशित होता होगा, मैना उसकी प्रतिनिधि मात्र है।

२. मैना की क्रोधाभिभूतता में कवि भारतीय नारी के आदर्शों को नहीं भूलता। मैना अपने पति हिमालय के प्रति क्रोध का प्रदर्शन नहीं करती जबकि वह भी उसकी कन्या के अनमेल विवाह के लिए उत्तरदायी थे।

३. नारद के चित्रण में हास्य रस का उद्रेकन हुआ है।

४. पूरे पद में लोकगीत का वातावरण है।

(८)

नाहि करब बर हर निरमोहिया।
बित्ता भरि तन बसन न तिन्हका बघछल काँख तर रहिया॥
बन बन फिरथि मसान जगावथि घर आंगन उ बनौलन्हि कहिया॥
सास ससुर नहिं ननद जेठौनी जाए बैठति धिआ केकरा ठहिया॥
बढ़ बरद, ढकढोल गोल एक, संपति भांगक झोरिया॥
भनइ विद्यापति सुन हे मनाइन सिब सन दानि जगत के कहिया॥

शब्दार्थ :—बित्ता भरि-बालिश्त भर भी। तिन्हका-उनका। तर-नीचे। मसान जगावथि-श्मशान जगाता है। ऊ-उसने। बनौलन्हि कहिया-कहीं बनाया। केकरा ठहिया-किसके स्थान पर। ढकढोल-डमरु। सन-समान। के कहिया-कौन कहलाता है।

प्रसंग :—पर्वती की माता मैना जब शिव के विरुप रुप को अवलोकती है तथा उनकी सम्पत्ति-विहीनता और उनके परिवार की सदस्य शून्यता की कल्पना करती है तब वह किसी भी प्रकार शिव के साथ अपनी कन्या का बिवाह करने को तैयार नहीं होती।

व्याख्या :—मैना अपनी सखी से कहती है कि मैं निर्मोही शिव को अपनी पुत्री का वर नहीं बनाऊंगी। उसके शरीर पर एक वालिश्त भर भी वस्त्र नहीं है उसके पास तो केवल एक बाघम्बर है जो कांख के नीचे दबा रहता है। [जिस व्यक्ति को अपने शरीर के सौन्दर्य के प्रति तक आसक्ति नहीं हो, एक माता कैसे उस अरसिक के साथ अपनी सुन्दरी पुत्री का वरण किया जाना पसन्द करेगी] वह शिव जंगल जंगल में फिरता हुआ श्मशान जगाता फिरता है, इसने कोई घर आंगन भी नहीं बनाया। तात्पर्य यह है कि यह जो जीवन के प्रति पूर्ण विरक्त और घरबार से हीन व्यक्ति है उसके साथ मेरी कन्या कैसे और कहां रहेगी ? इसके अतिरिक्त इस शिव के परिवार में कोई भी तो सदस्य नहीं—सास, श्वसुर, ननद, जैठौनी से विहीन शिव के घर में मेरी कन्या किसके पास बैठे-उठेगी, क्योंकि शिव महाराज तो श्मशान जगाते ही फिरेंगे।

सम्पत्ति के रूप में शिव के पास एक बूढ़ा-सा बैल और गोल-मटोल डमरू तथा भांग रखने की एक थैली है। अभिप्राय यह है कि इतनी अकिञ्चन सी सम्पत्ति को लेकर यह शिव कैसे मेरी पुत्री की सुख-सुविधाओं का आयोजन कर पायेगा। अन्त में विद्यापति कहते हैं (कि सखी कहती है)। कि हे मैना ! सुनो, शिव के समान दानी इस अखिल सृष्टि में कहीं कोई नहीं है।

साहित्यिक सौंदर्य :—

१. हर मां चाहती है कि उसकी कन्या का पति समृद्ध, रसिक एवं भरे पूरे परिवार वाला हो। प्रस्तुत पद में माँ की यह विश्वजनी चाहना मैना द्वारा शिव की आलोचना के माध्यम से मुखरित हुई है।

२. 'सास ससुर नहि ननद जिठानी' में माता, पिता, बहिन और भाई के सम्बन्धों से रहित शिव के ब्रह्मत्व की व्यंजना हुई है।

३. 'सास ससुर', नहि ननद', 'बूढ़ बरद' तथा 'सिव सन' में छेकानुप्रास का प्रयोग हुआ है।

(६)

जोगिया एक हम देखलौं गे माई। अनहद रूप कहलों नहि जाई।
पंच बदन तिन नयन विसाला। बसन बिहुन ओढ़न बघछाला॥

सिर बहे गंग तिलक सोहे चंदा। देखि सरूप मिटल दुख दंदा।
जाहि जोगिया लै रहलि भवानी। मन ग्रानलि बर कौन गुन जानी॥
कुछ नहिं सिल नहिं तात महतारी। बएस दिनक थिक लछ्छ जुग चारी।
भन विद्यापति सुन ए मनाइनि। एहो जोगिया थिक त्रिभुवन दानि॥

शब्दार्थ :—ग्रनहद रुप-ग्रनिर्वचनीय। कहलों नहिं जाई-ग्रकथ्य है। विहुन-रहित। ग्रोढन-ग्रोढ़े हुये हैं। दुख दंदा-दुख द्वन्द। ग्रानलि-लाई बसाये रही। सिल-शील। बएस-ग्रायु। लछ्छ-लाख। थिक-है।

प्रसंग :—एक सखी शिव के विचित्र एव ग्रलौकिक रूप को देख कर व्याज स्तुति के माध्यम से मैना कहती है।

व्याख्या :—हे सखी मैना! हमने एक योगी को देखा है, उसके रूप की सुन्दरता ग्रनिर्वचनीय है। ग्रर्थात् वह शिव ग्रनन्त सौन्दर्य का प्रतिष्ठान है जिसका वर्णन करना शब्दों की शक्ति के बाहर है उसके पाँच मुख हैं ग्रौर तीन ग्रकर्ण नेत्र हैं कान तक छूने वाले विशाल नेत्र हैं वह वस्त्र रहित हैं ग्रौर व्याघ्र चर्म ग्रोढ़े हुए हैं।

शिव ग्रसाधारण सौन्दर्य सम्पन्न हैं उनके शीश से (भवताप-विनाशिनी) सुरसरि प्रवाहित हो रही हैं ग्रौर तिलक के रूप में चन्द्रमा सुशोभित है। शिव के (ऐसे पावन तथा शीतल) स्वरूप को देखकर सांसारिक क्लेश समाप्त हो जाते हैं। जिस योगी के लिए भवानी योग लेकर रहीं ग्रर्थात् पार्वती तपस्या रत रहीं न जाने उसके कौन से गुण पर रीझ कर उसने उसे पति रूप में मन में वरण कर लिया।

इस योगी का न तो कोई कुल ही है ग्रौर न ही उसमें कोई शील ग्रर्थात् गुणमयता ही है, उसके माता तथा पिता भी नहीं हैं। उसकी ग्रायु भी चार लाख युग ग्रर्थात् लाखों ग्रसंख्य वर्षों की है। तात्पर्य यह है कि यह योगी सम्बन्धातीत, गुणातीत एवं कालातीत ब्रह्म है। विद्यापति कहते हैं (कि सखी कहती है) कि मैना! सुनो, यह योगी (सामान्य पुरुष न होकर) त्रिलोक का दानी (ग्रक्षर पुरुष) है।

साहित्यिक सौन्दर्य :—

१. 'बसन बिहुन', 'दुख दंदा' तया 'जाहि जोगिया' में छेकानुप्रास का प्रयोग हुग्रा है।

२. कवि की कल्पना में शिव दान के परमदाता हैं।

(१०)

आज नाथ एक बर्त्त माँहि सुख लागत हे ।
तोहें सिव धरि नट वेष कि डमरू बजाएब हे ।।
भल न कहल गउरा रउरा आजु सु नाचब हे ।
सदा सोच मोहि होत कबन विधि बाँचब हे ।।
जे जे सोच मोहि होत कहा सुभाएब हे ।
रउरा जगत के नाथ कबन सोच लागए हे ।।
नाग ससरि भुमि खसत पुहुमि लोटाएत हे ।
गनपति पोसल मजूर से हो धसि खाएत हे ।।
अमिअ चूइ भुमि खसत बघम्बर जागत हे ।
होत बघम्बर बाघ बसह धरि खाएत हे ।।
टूटि खसत रुदराछ मसान जगावत हे ।
गौरि कहँ दुख होत विद्यापति गावत हे ।।

शब्दार्थ :— वर्त्त-बात । गउरा-गौरी । रउरा-आपकी । बाचब-बचेंगे । कवन-किस प्रकार । ससरि-सरक कर । पुहुमि-पृथ्वी । पोसल-पोषित । मजूर-मोर । अमिय-अमृत । खसत-गिरना । रुदराछ-रुद्राक्ष की माला के दाने कहँ-को ।

प्रसंग :—गौरी तथा शंकर का विवाह हो गया । पार्वती एक दिन शिव से नृत्य करने की प्रार्थना करती हें तथा शिव नृत्य से उत्पन्न होने वाले संकटों का वर्णन करते हैं ।

व्याख्या :—गौरी शिव से अपने मन की साध बताती हुई कहती हैं कि हे नाथ ! आज मुझे केवल एक बात से सुखानुभव होगा; वह बात है कि आप आज नट-वेश की धारणा कर (नृत्य करने की लासमयी मुद्रा में) डमरू बजायें (अपनी प्रिया के इस आग्रह से शिव बड़े असमंजस में पड़ गये तुमने ऐसा आग्रह कर अच्छा नहीं किया । मुझे सदैव ही यह चिन्ता सताती रहती है (कि मेरे नृत्य से उत्पन्न विनाश के कारण) हमारा यह छोटा सा संसार कैसे बचेगा ।

शंकर गौरी से कहते हैं कि तुम्हारे इस आग्रह से मुझे जो जो चिन्ताएँ घेर रही हैं उन्हें तुम्हें कैसे समझाऊं । (इस पंक्ति को शंकर के प्रति गौरी का कथन मान कर अर्थ इस प्रकार हो जाता है कि हे शंकर !

आप को जो जो सोच होता हो उसे मुझे समझा कर कहिये।) (इस पर गौरी शंकर से कहती हैं) हे प्रभु! आप तो अखिल जगत के स्वामी हैं आपको किस प्रकार की चिन्ता व्याप सकती है। अर्थात् आप तो शिव हैं—कल्याण तत्त्व, चिन्ता तो आपका स्पर्श तक नहीं कर सकती।

(पार्वती की इस शंका का समाधान करते हुये शिव कहते हैं कि मेरे नृत्य करने से) सर्प जटाओं से खिसक कर नीचे पृथ्वी पर लोटने लगेंगे। इन सर्पों को पृथ्वी पर गिरा देख कर कार्त्तिकेय पोषित मयूर द्वारा वे खा लिये जायेंगे।

(इसके अतिरिक्त नृत्य करने के शरीरान्दोलन के कारण) मस्तक पर आसीन चन्द्रमा का अमृत छलक कर पृथ्वी पर गिर जाएगा और फिर व्याघ्र चर्म जीवित सिंह में परिवर्तित होकर मेरे बैल को खा जायेगा। तात्पर्य यह है मेरे नृत्य से मेरे ही परिजनों का विनाश हो जायेगा। इसके अतिरिक्त रुद्राक्ष की माला टूट कर बिखर जायेगी—यहां अभिप्राय यह है शिव रुन्डमुन्डों की माला ही रुद्राक्ष-माला के स्थान पर पहने हैं और जब नृत्य के झटकों से वह टूट कर पृथ्वी पर गिरेंगे तो फिर श्मशान जग जायेंगे और ऐसा होने पर भूत-प्रेत गण स्वच्छन्द होकर दानवी संहार का आयोजन करेंगे। शिव की इस प्रकार की भयावनी बातों को सुन कर गौरी को दुख हुआ। कवि विद्यापति इस प्रसग को गाकर वर्णन करते हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'नाग·········जागत हे'। तक की तीन पंक्तियों में हेतु अलंकार का प्रयोग हुआ है।

२. 'सदा सोच', 'बिधि बाचव' में छेकानुप्रास तथा 'बघम्बर बाघ बसह में वृत्यानुप्रास का प्रयोग हुआ है।

३. सम्पूर्ण पद में दम्पति-वार्ता का माधुर्य है।

देवी-स्तुति

(११)

जय जय भैरवि असुर भयाउनि पशुपति-भामिनि माया ।
सहज सुमति बर दिअओ गोसाउनि अनुगति गति तुअ पाया ।।
बासर रैनि सवासन सोभित चरन, चन्द्रमनि चूड़ा ।
कतओक दैत्य मारि मुंह मेलल, कतओ उगिल कैल कूड़ा ।।
सामर बरन नैन अनुरंजित, जलद-जोग फुल कोका ।
कट कट विकट ओठ-पुट पांडरि लिधुर फेन उठ फोका ।।
घन घन घनए घुघुर कत बाजए हन हन कर तुअ काता ।
बिद्यापति कबि तुअ पद सेवक पुत्र बिसरु जनि माता ।।

शब्दार्थ :— भैरवि-आदि शक्ति माया । भयाउनि-भयभीत करने वाली । दिअओ-प्रदान करो । गोसाउनि-स्वामिनी । तुअ पाया-तुम्हारे चरणों में । सवासन-शव के ऊपर स्थित रहने वाली चूड़ा-शीश । कतओक-कितने ही । मेलल-रक्खा । उगलि कैल कूड़ा-चूर चूर करके उगल दिया । सामर-श्यामल । जलद-जोग फुल कोका-बादलों में लाल कमल विकसित हो । पाँडरि- एक रक्तिम वर्णी पुष्प । लिधुर-पुष्प । फोका-बुलबुले । घुघर-घुंघरू । हन हन-मारो मारो । काता-तलबार । बिसरु जन-मत भूलना ।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में कविवर विद्यापति ने आद्याशक्ति माया की स्तुति की है । पदावली में शक्ति के प्रति यह पहला पद है ।

व्याख्या :—राक्षसों को भय प्रदान करने वाली, पशुपति की भामिनि—पत्नी माया स्वरूप हे भैरवी । तुम्हारी जय हो, जय हो । हे स्वामिनी । तुम मुझे स्वाभाविक एवं सुन्दर सुबुद्धि का वरदान दो, तुम्हारा इस अनुचर की गति तुम्हारे चरणों में ही है । अर्थात हे भय विदारिणी देवि, अपने चरणों में आश्रय प्रदान कर मेरी बुद्धि को अपनी ओर उन्मुख करो ।

हे देवि, तुम्हारे चरण सदैव शवों के आसन पर सुशोभित रहते हैं, तुम्हारी जूड़े में चन्द्रमणि-गुम्फित है । तुमने कितने ही-असंख्य, असुरों का सँहार कर उन्हें अपने मुंह में ग्रास के रूप में रख लिया

है और कितनों को ही कूड़ा करकट समझ कर अथवा चब चब कर उगल दिया है। अभिप्राय यह है कि तुम असुर-विनाशिनी शक्ति हो।

ऐसी प्रचंडिनी देवी के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि हे देवि। तुम श्यामल वर्णी हो, तुम्हारे नेत्र रक्तिम हैं श्यामल शरीर पर तुम्हारे लाल नेत्र ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानों बादलों के मध्य में रक्तोत्पल—लाल कमल, विकसित हो गया हो। (चिरकालिक क्रोधाभिभूतता के कारण) तुम्हारे मुख से 'कट्ट कट्ट' की भीमभयंकर ध्वनि निकलती है. तुम्हारे दोनों नेत्र पांडुरि के पुष्प की भांति लाल हैं और तुम्हारे मुख से (खून के) झाग के बुलबुले उठते हैं। यह बुलबुले ऐसे मालूम होते हैं मानो ओष्ठों पर लाल वर्ण के पुष्प विकसित हो रहे हों।

तुम्हारे चरणों के घुँघरू घन-घन के भयंकर शब्दों में घनघनाते हैं और जब तुम्हारे हाथ की कटार घूमती है तो 'हन हन' की मरणात्मक ध्वनि गूंज उठती है। तात्पर्य है कि 'असुर-भयाउनि पशुपति भामिनि माया, की कटार का घूमना दैत्यों का हनना है। कवि विद्यापति ऐसी अशिव विदारिणी माता से पुत्र भाव से कहते हैं कि हे माता ! मैं तुम्हारे चरणों का सेवक हूँ, मुझे भूल मत जाना। अर्थात् हे माँ ! तुम वात्सल्य-भाव से मेरे भयों का भंजन करो।

साहित्यिक सौन्दर्य :—

१. 'जय जय' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

२. 'सामर······फोका' में क्रमालंकार तथा उपमा अलंकार का संयोग हुआ है।

३. 'सहज सुमति', 'सबासन सोभित', 'जलद-जोग' में छेकानुप्रास तथा 'चरन चन्द्रमनि' चूड़ा, 'मारि मुंह मेलल' तथा 'घन घन घनए घुघरु' में वृत्यानुप्रास का प्रयोग हुआ है।

४. समस्त पद में श्रुत्यानुप्रास की योजना है।

५. सम्पूर्ण पद में चित्रोपमता, ध्वन्यात्मकता, भावानुगामिनी सजीव भाषा, अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग, शब्द-मैत्री तथा वीभत्स वातावरण की जीवन्तता की व्याप्ति है।

(१२)

कनक-भूधर-सिखर-बासिनि चन्द्रिका चय चारु हासिनि,
दसन-कोटि-विकास-बंकिम तुलित चन्द्र-कले ।
क्रुद्ध सुररिपु-बल निपातिनि, महिष-शुम्भ-निशुम्भ घातिनि,
भीत–भक्त–भयापनोदन—पाटला प्रबले ॥
जय देवि दुर्गे दुरित-तारिणि, दुर्गमारि विमर्द हारिणि,
भक्ति-नम्र-सुरा-सुराधिप मंगलायतरे ।
गगन-मंडल-गर्भ-गाहिनि, समर-भूमिषु, सिंहवाहिनि,
परसु-पाश-कृपाण-शायक-शङ्ख-चक्र-धरे ॥
अष्ट-भैरवि-संग-शालिनि सुकर-कृत्ति कपाल-कदम्ब-मालिनि,
दनुज शोणित पिशित बर्द्धित पारणा रभसे ।
संसार-बंध-निदान-मोचिनि, चन्द-भानु-कृशानु-लोचनि,
योगिनी-गण गीत शोभित-नृत्यभूमि रसे ॥
जगति पालन-जनन-मारण, रूप कार्य सहस्त्र कारण,
हरि-विरंचि-महेश-शेखर-चुम्ब्यमान-पदे ।
सकल पाप कला परिच्युति सुकवि विद्यापति कृत स्तुति,
तोषिते शिवसिंह भूपति कामना फल दे ॥

शब्दार्थ:—कनक भूधर–सुमेरु पर्वत। तुलित–समान। भयापनोदन-भय को दूर करने वाली। पाटला प्रबले-शक्तिशालिनी दुर्गा दुरित-विपत्ति। दुर्ग मारि-राक्षसों का विनाश करने वाली। मंगलायतरे-मंगल का विधान करने वाली। समर-भूमिषु-युद्ध भूमि में। शायक-धनुष। सुकर कृत्ति-सुअर का चमड़ा, अपने हाथ से बनाकर। पिशित-मांस। पारणा रभसे-आनन्द पूर्वक भूख मिटाती हो। परिच्युति-रहित।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में ब्रह्मरूपिणी आदि शक्ति के विराट-रूप सौन्दर्य का काव्योदात्त भाषा में वर्णन हुआ है।

व्याख्या :—हे दुर्गे ! तुम सुमेरु के स्वर्ण-विनिर्मित पर्वत की अधिवासिनी हो, ज्योत्स्ना की भांति धवल शुभ्र हास्य विकीर्ण करने वाली हो, तुम्हारी दंत-पक्ति के विकास की तुलना सौष्ठव युक्त तथा बक्र—तिरछे चन्द्रमा की कला (द्वितीय के चन्द्र) से की जा सकती है। तुम इतने सौन्दर्य से सुशोभित हो लेकिन जब तुम क्रोधित होती हो

तब असुरों की (पाप-प्रसारिणी एवं पुण्य-विघातिनी) शक्ति को विनष्ट करने वाली, महिषासुर तथा-शम्भु-निशम्भु जैसे राक्षसों का बध करने वाली तथा (दैत्यों के अत्याचारों से) भयभीत भक्तों के भय का अपहरण करने वाली अर्थात् उन्हें अभय-प्रदान करने वाली (श्यामल शरीर को असुरों के रक्त से रक्तिम) शक्तिशाली दुर्गा हो।

हे देवि दुर्गे ! तुम्हारी विजय हो, तुम विपत्तियों से उद्धार करने वाली अथवा पापों को दूर करने वाली हो, भयंकर शत्रु अर्थात् राक्षसों द्वारा प्रदत्त पीड़ा का हरण करने वाली हो, भक्ति-भाव से विनम्र बने देवताओं तथा असुरों के स्वामियों का कल्याण करने वाली हो तात्पर्य यह है कि दुर्गा सबका ही मगल करने में समर्थ हैं। तुम आकाश मण्डल के अतरग में परिव्याप्त हो अर्थात् तुम सृष्टि के मूल एवं सर्वव्यापक तत्त्व आकाश की आधारभूता शक्ति हो। रण क्षेत्र में सिंहारूढ़ हो फरशा, फंदा, तलवार, वाण, शंख तथा चक्र को धारण करने वाली (रुद्राणी) हो। हे देवि ! तुम अष्ट भैरवियों (शक्तियों) को साथ लिये रहती हो, तुम सूकर के चर्म को धारण किये हुये (अथवा अपने हाथों से निर्मित कदम्ब के पुष्प रूपिणी) नरमुण्डों की माला धारण किये हुये हो। तुम दैत्यों के रक्त-पान तथा मांस-भक्षण में अतीव आनन्द प्राप्त करती हो। तुम संसार के (त्रिगुणात्मक प्रकृति जनित) बन्धनों को निश्चित रूप से नाश करने वाली हो, तुम त्रिनेत्रिणी हो— सूर्य चन्द्रमा तथा अग्नि ये तुम्हारे तीन नेत्र हैं। तात्पर्य यह है कि तुम तेजोमयी महाशक्ति हो। तुम योगिनियों का समूह के साथ नृत्य-स्थल में गीत एवं नृत्य में सम्मिलित कर आनन्द मनाती हुई सुशोभित होती हो।

हे परम देवि ! तुम जगत का पालन सृजन एवं विनाशन करने वाली हो। तात्पर्य यह है कि महाशक्ति दुर्गा सृष्टि की सृजनिका, पोषिका एवं बिनाशनिका शक्ति अर्थात् महाकारण भूता शक्ति है। तभी तो तुम (संसार में होने वाले) सहस्त्रों कार्यों की कारणरूपा हो अर्थात् संसार का प्रत्येक कार्य की तुम सूत्रधारिणी हो। (इसी परमशक्तिमत्ता के कारण) विष्णु, ब्रह्म, शिव के मस्तक तुम्हारे चरणों पर विनत हैं—वे अपने शीश से तुम्हारे चरणों का चुम्बन करते हैं। सम्पूर्ण अघों की शक्ति को परिच्युत अर्थात् प्रभावहीन करने वाली शक्तिमती देवि ! विद्यापति तुम्हारी स्तुति अर्थात् भक्ति-भाव-आपूरित

प्रशंसा गायन करता हुआ कहता है कि तुम राजा शिवसिंह की इच्छाओं को पूर्ण कर उन्हें सन्तुष्टि प्रदान करो।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'कनक.........चन्द्र कले।' में उपमालंकार का प्रयोग हुआ है।

२. जगति...... पदे में परिसंख्या अलंकार है।

३. विकास-वंकिम', पाटला प्रबले, गर्भ-गाहिनि, 'दुर्गे दुरित', 'परसु-पाश', 'शायक-शङ्ख' तथा 'गण गीत' में छेकानुप्रास एवं 'चन्द्रिका चय चारु', 'भीत-भक्त भयापनोदन' 'तथा कृत्ति कपाल-कदम्ब' में वृत्यानुप्रास की छटा है।

४. भाषा के सौष्ठव तथा प्रवाह, चित्रोपमता एवं ओजस्विता ने प्रस्तुत पद में नैसर्गिक काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि की है।

५, इस पद में आदि शक्ति के मातृ रूप में त्रिगुणात्मक रूप की परिकल्पना है।

गंगा स्तुति

(१३)

ब्रह्म कमण्डलु बास सुबासिनि सागर नागर गृह बाले।
पातक-महिष विदारण कारण धृतकरवाल बीचिमाले।
जय गंगे जय गंगे शरणागत भय भंगे ॥
सुर मुनि मनुज रचित पूजोचित कुसुम विचित्रित तीरे।
त्रिनयन मौलि जटाचय चुंबित भूति भूषित सित नीरे ॥
हरि पद कमल गलित मधुसोदर पुण्य पुनित सुरलोके।
प्रविलसदमरपुरी-पद दान-विधान विनाशन शोके ॥
सहज दयालुतया पातकि जन नरक विनाशन निपुणे।
रुद्रसिंह नरपति बरदायक विद्यापति कवि भणित गुणे ॥

शब्दार्थ :—नागर-प्रेमी, रसिक। पातक-महिप-पाप रूपी महिषासुर। विदारण-विदीर्ण करने वाली। धृतकरवाल-हाथ में तलवार धारण करने वाली। पूजोचित-पूजा के योग्य। विचित्रित-सुशोभित। मौलि-मस्तक। जटाचय- टा-समूह। भूति-विभूति। सित-श्वेत। मधुसोदर-पुष्प रस के समान। पुनित-पुनीत, पवित्र। प्रविलसिदमरपुरी (प्रविलसत् अमरपुरी) देवलोक में सुशोभित। भणित-कहते हैं।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में पाप विनाशिनि गंगा की स्तुति विद्यापति तन्मयता के साथ करते हैं।

व्याख्या :—हे गंगे! तुम ब्रह्म के कमण्डल की (मुल) अधिवासिनी हो, साथ ही तुम रसिक प्रेमी समुद्र की गृहिणी हो। तुम पाप रूपी महिषासुर का नाश करने के लिये लहरों की तलवार धारण किये हुए हो अर्थात् तुम्हारी लहरों का स्पर्श मात्र पापों का प्रक्षालन कर देता है। हे गंगे तुम्हारी जय हो! जय हो।

(तुम सुर-मुनि-नर की परम आराध्या देवी हो तभी तो) तुम देवताओं, मुनियों तथा मनुष्यों द्वारा सम्पूजित हो, इनके विभिन्न रंगो के नैवेद्य-पुष्पों से तुम्हारा तट सुशोभित है। त्रिनेत्र शंकर के मस्तक की जटाओं की विभूति से स्पर्शित होने के कारण श्वेत (निर्मल) जल-युक्त हो गई हो।

तुम विष्णु के चरण कमलों से निस्तृत मकरन्द (पुष्प रस) के समान जलधारण के पुण्य प्रभाव से देवलोक को पावन करने वाली हो। तुम करुणा यी देवि हो तभी तो तुम अपने (वर) दान के प्रभाव से भक्तों को शोक--विरहित करके उन्हें देवलोक में सुशोभित करती हो। तात्पर्य यह है कि गंगा में भक्ति-भाव से स्नान करने से स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। (गंगा स्वर्ग प्रदान करने में कृपण नहीं है)

हे देवि गंगा! तुम स्वाभाविक रूप से ही उदार एवं कृपालु हो अर्थात् तुम्हारे भक्तों को तुम्हारी कृपा बिना किसी कष्टतर साधना एवं आराधना के ही सहज रूप में प्राप्त हो जाती है। इसी सहज दयालुता के कारण तुम पापी जनों को नरक से मुक्त करती हो (उनके नरक अर्थात् पापों की प्रतिफलित यांत्रणा को दूर करती हो।) तुम राजा रुद्रसिंह को वर देने वाली हो, विद्यापति तुम्हारे गुणों का गायन करते हैं।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. अह्म······बीचिमाले में रूपक का सौन्दर्य है।

२. 'पद-कमल' में रूपक।

३. 'मुनि मनुज', 'भूति भूपित' तथा 'पुण्य पुनित' में छेकानुप्रास का प्रयोग हुआ है।

४. शब्द-मैत्री-जन्य माधुर्य का प्रवाह है।

५. संस्कृत की तत्सम कोमलकान्त समासान्त पदावली का प्रयोग द्रष्टव्य है।

(१४)

बड़ मुख सार पाओल तुअ तीरे। छोड़इत निकट नयन बह नीरे॥
करजोरि बिनमओो बिमल तरंगे। पुन दरसन होए पुनमति गंगे॥
एक अपराध छेमब मोर जानी। परसल माय पाए तुअ पानी॥
कि करब जप तप जोग धेआने। जनम कृतारथ एकहि सनाने॥
भनइ विद्यापति समदओं तोही। अन्तकाल जनु बिसरह मोहीं॥

शब्दार्थ :—तुअ-तुम्हारे। विनमओ-विनती करता हूं। पुनमति-पवित्र। छेमब-क्षमा करना। परसल-स्पर्श। जानी-जननी मां। पाए-पाँव। समदओं-प्रेम पूर्वक भेंटता हूँ।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में विद्यापति ने मातृ रूप में अत्यन्त सहज शुद्ध भक्ति-भाव से गंगा की स्तुति की है।

व्याख्या :—(हे गंगा माता! मैंने तेरे तट पर बड़ा सुख अर्थात् दिव्यानन्द प्राप्त किया है इसीलिए तुम्हारी निकटता त्यागते हुए (वेदनाविभूतता के कारण) मेरे नेत्रों से अश्रु धारा प्रवाहित हो रही है। हे स्वच्छ निर्मल उर्मियों वाली गंगा मैं तुम्हारी करबद्ध होकर विनती करता हूँ कि माँ! तुम्हारा पवित्र दर्शन फिर हो।

हे माता! मेरे एक अपराध को क्षमा कर दो, वह यह कि मैंने तुम्हारे (पवित्र) जल को अपने पैरों से छू लिया है। तात्पर्य यह है कि माता पूज्य होती है, पुत्र उसके चरणों का अपने शीश से स्पर्श करता

है, जब कि गंगा को चरणों से कवि स्पर्शित करता है, इसी ग्लानि की क्षमा याचना विद्यापति करते हैं। मैं जप, तप, योग तथा ध्यान की (कष्ट-साध्य) साधना करके क्या करूं, जबकि हे मातस्वरुपा गंगा ! तुम्हारे जल में (जो कि माँ की अंक तुल्य है) एक बार स्नान करने से जन्म कृतार्थ हो जाता है जीवन सार्थक हो जाता है अर्थात् जीवन के समस्त पाप-ताप विनष्ट हो जाते हैं। विद्यापति कहते हैं कि हे माँ ! मैं तुम्हें प्रेम पूर्वक भेंटता हूँ अर्थात् तुम्हारी बार बार यही विनती करता हूँ कि जीवन के अन्तिम समय में मुझे विस्मृत मत कर देना। तात्पर्य यह है कि जीवन के सान्ध्य काल में पुत्रवत् भाव रख कर मेरा उद्धार करना मत भूलना।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. स्वभावोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

२, 'सुख सार', 'तुअ तीरे', 'निकट नयन' तथा 'बिनमओ विमल' में छेकानुप्रास है।

३. 'कि अपराध·········पानी' में विद्यापति ने गंगा में जीवन्त मातृ-भावना के दर्शन किये हैं।

४. पूरे पद में प्रसाद गुण की समायोजना हुई है।

५. शिव के संदर्भ में गंगा के प्रति परिष्कृत भक्ति अभिव्यक्ति हुई है।

हरि-कीर्तन

(१५)

माधव कत तोर करब बड़ाई।
उपमा तोहर कहब ककरा हम, कहितहूँ अधिक लजाई॥
जौं श्री खंड सौरभ अति दुरलभ तौं पुनि काठ कठोर।
जौं जगदीश निसाकर तो पुन एकहि पच्छ उजोर॥
मनि समान औरो नहि दोसर तनिकर पाथर नामे।
कनक कदलि छोट लज्जित भए रह की कहु ठामहि ठामे॥
तोहर सरिस एक तोहँ माधब मन होइछ अनुमान।
सज्जन जन सों नेह कठिन थिक कवि विद्यापति भान॥

शब्दार्थ :—कत-कैसे । तोहर-तुम्हारी । ककरा-किसके साथ । जौं-यदि । श्री खंड-चन्दन । उजोर-प्रकाशित करता है । तनिकर-उनका छोट-छोटा । ठामहि ठामे-स्थान-स्थान पर । होइछ-होता है । थिक-है ।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में विद्यापति ने माधव (कृष्ण) के रूप सौन्दर्य की सर्वश्रेष्ठता का भक्त कवियों के समान शृंगारिक वर्णन किया है ।

व्याख्या :—हे माधव ! मैं तुम्हारी (रूप श्री) की प्रशस्ति किस प्रकार करूं ? तुम्हारे रूप-सौन्दर्य की उपमा हम किस उपमान से दें ? मुझे तो कहते हुए भी लज्जा का अनुभव हो रहा है । अर्थात् तुम्हारी सम्पूर्ण देह-यष्टि की सुन्दरता अनुपमेय है ।

यदि मैं दुष्प्राप्य सुगन्ध के कारण तुम्हारे शरीर की उपमा चन्दन से दूँ तो यह उपमा भी अनुपयुक्त लगती है क्योंकि चन्दन फिर भी काष्ठ (असंवेदित तत्त्व) है जब कि तुम संवेदना-पुंज हो—तुम्हारा शरीर कोमल स्निग्ध है । हे जगतेश्वर ! यदि मैं तुम्हारी उपमा चन्द्रमा से दूँ तो यह यथार्थ-भूमि पर अनुपयुक्त प्रतीत होती है; क्योंकि चन्द्रमा तो केवल एक शुक्ल पक्ष में ही प्रकाशमान रहता है, जबकि तुम्हारे मुख-चन्द्र की प्रकाशिमा तो सर्वकालिक है (हे प्रभु ! तुम तो अखिल प्रकाश के देवता हो)

यदि अनमोलता के आधार पर मणि से तुम्हारी उपमा दी जाये तो यह भी उचित नहीं जँचता; क्योंकि मणि अमूल्य होते हुए भी पाषाण है—पाषाण अर्थात् असंवेद्य एवं करुणा-विरहित है, जबकि तुम परम मूल्यवान होते हुए भी करुणा के आगार हो । तुम्हारा हृदय भक्तों के हित पाषाण-सा कठोर न होकर नवनीत-सा कोमल है । यदि जंघाओं की स्वर्णिम स्निग्धता के आधार पर स्वर्ण की कदली (केले) से तुम्हें उपमित किया जाये तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि कदली तो (तुम्हारी विराटता की परितुलना में) लघु होने के कारण लज्जित है और साथ ही साथ स्थान-स्थान पर (प्रचुरता से) उपलब्ध हो जाती है; जबकि इसके विपरीत तुम (सुर-नर-मुनि तक के लिये) परम दुर्लभ तत्त्व हो ।

हे माधव ! (उपर्युक्त उपमाओं की निरर्थकता के कारण) मेरे मन में ऐसा अनुमान होता है कि अपने समतुल्य केवल तुम ही हो (तुम सर्वथा अनुपमेय हो) कवि विद्यापति कहते हैं कि सज्जनों से प्रेम करना

अत्यन्त कठिन है; क्योंकि उस प्रेम को निबाहना (सकामी) साधारण जनों के लिए असम्भव सा हो जाता है—भगवान की (चातक भाव से) भक्ति करना कष्ट-साध्य धर्म है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'जौं·········उजोर' में प्रतीप अलंकार प्रयुक्त है।

२. 'माधव·········ठामे' में व्यतिरेक अलंकार प्रयुक्त है।

३. 'तोहर·············अनुमान' में अनन्वय अलंकार का सौन्दर्य है।

४. 'सज्जन·········भान' में काव्यलिंग अलंकार है।

५. 'हरि-कीर्तन' में अलंकारों का चक्रव्यूह-विधान विद्यापति के पांडित्य का प्रदर्शन है—भक्ति की अभिव्यक्ति नहीं है।

६. 'सज्जन जन' में व्याकरण संबंधी दोष है—सत् जन = सज्जन। इस प्रकार दूसरे जन का प्रयोग निरर्थक है।

(१६)

माधव बहुत मिनति कर तोय।
दए तुलसी तिल देह समर्पिनु दया जनि छाड़बि मोय ।।
गनइत दोसर गुन लेस न पाओबि जब तुहुँ करबि विचार।
तुहु जगत जगनाथ कहाओसि जग बाहिर नइ छार ।।
किए मानुस पसु पखि भए जनमिए अथवा कीट पतंग।
करम विपाक गनागत पुनुपुनु मति रह तुअ परसंग ।।
भनई विद्यापति अतिसय कातर तरइत इह भवसिंधु।
तुअ पद-पल्लव करि अवलंबन तिल एक देह दिन-बंधु ।।

शब्दार्थ :—मिनति-विनती। तोय-तुमसे। दए-दया करके। गनइत-गिनता हूँ। पाओबि-पाओगे। करबि विचार-विचार करोगे। कहाओसि-कहलाते हो। विपाक-कर्म का फल। तरइत- तैरना चाहता हूँ। देह-प्रदान करो। दिनबन्धु-दीनबन्धु।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में माधव के प्रति प्रपत्तिभाव की भक्ति

की अभिव्यक्ति हुई है, साथ ही विद्यापति का प्रभु की शरणागत-वत्सलता के प्रति अगाध विश्वास भी मुखरित हुआ है ।

व्याख्या :—हे माधव ! मैं तुमसे (अत्यन्त उच्छ्वसित भाव से) **विनती करता हूँ** । (यद्यपि मेरे पुण्य-कृत्य अत्यन्त नगण्य हैं फिर भी) **जब** अन्त समय तुलसी और तिल मेरे मुँह में दी जाये और मैं देह (मृत्यु के लिये) समर्पित कर रहा होऊँ तब हे करुणामय स्वामी ! तुम मेरे प्रति करुणा का परित्याग मत करना (अथवा "मैं तुलसी और तिल के साथ अपने शरीर को तुम्हारे ही चरणों में अर्पित करता हूँ । दया करके मुझे छोड़ मत देना ।"

जब मैं तुम्हारे गुणों के विषय में विचार करता हूँ तब तुम्हारी तुलना में किसी अन्य देवता में लेशमात्र भी गुण दृष्टिगोचर नहीं होते (अथवा जब तुम मेरे गुणों की अवगणना करोगे तो मेरे अ दर भी एक दूसरा गुण नहीं पाओगे अतिरिक्त इसके कि मैं तुम्हारी शरण आ गया हूँ अर्थात् तुम्हारी शरणागत वत्सलता ही मेरे उद्धार की एकमात्र आशा है । तुम ही जगत हो, तुम ही जगत के स्वामी कहलाते हो और इस जगत के परे कुछ नहीं है । तात्पर्य यह है कि जब तुम जगत के नाथ हो तो जगत की सीमा में हुए मेरे पाप कृत्यों को तुम क्षमा कर सकते हो । जगत के नाथ के होते हुए मैं पापी होते हुए भी अनाथ कैसे रह सकता हूँ । अतः प्रभु तुम मेरा उद्धार करो ।

कर्मों के फलानुसार यदि आवागमन के चक्र में फंस कर मैं बार-बार मनुष्य, पशु, पक्षी अथवा कीड़े मकोड़े की चाहे कोई भी योनि धारण करूँ, मेरी कामना है कि मेरी बुद्धि तुम्हारे प्रसंग में ही निहित अथवा लीन रहे ।

विद्यापति (सांसारिक कष्टों के दंशन से) आर्त्त होकर कहते हैं हे दीन बन्धु ! मुझे अपने-चरण कमलों का थोडा-सा अवलम्बन प्रदान करो; क्योंकि इस अवलम्बन से मैं भवसागर को पार करना चाहता हूँ । तात्पर्य है—संसार की विषय वासनाओं के अथाह समुद्र में मुझ डूबते हुए को तुम्हारे चरण तिनके के सदृश्य हैं, ये मुझ डूबते हुए को उबार सकते हैं ।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'मनइत ········ विचार' में अनन्वय अलंकार का प्रयोग हुआ है ।

२. 'तुइ······ छार' में काव्यलिंग अलंकार की व्यंजना है।

३. 'तुलसी तिल'; 'जगत जगनाथ' तथा 'पसु पखि' में छेकानुप्रास है।

४. 'भवसिन्धु' तथा 'पद-पल्लव' में रूपक अलंकार है।

(१७)

तातल सैकत वारि-बिन्दु सम सुत-मित रमति समाज ।
तोहे बिसारि मन ताहे समरपिनु अब मझु हब कोन काज ॥
माधव हम परिनाम निरासा ।
तुहुँ जगतारन दीन-दयामय अतए तोहर बिसवासा ॥
आध जनम हम नींद गमायनु जरा सिसुकत दिन गेला ।
निधुबन-रमनि-रभस-रङ्ग मातुनु तोहे भजब कोन बेला ॥
कत चतुरानन मरि मरि जाओब न तुअ आदि अबसाना ।
तोहे जनमि पुनि तोहे समाओत सागर लहरि समाना ॥
भनइ विद्यापति सेष समन भय तुअ बिनु गति नहिं आरा ।
आदि अनादिक नाथ कहाओसि अब तारन भार तोहारा ॥

शब्दार्थ :— तातल सैकत-तप्त सिकता कण (बालू)। वारि-जल। समरपिनु-समर्पित किया। मझु-मेरा। हब-होगा। अतए-अतएव। गमायनु-गवा दिया। जरा-वृद्धावस्था। निधुबन-भोग विलास, युवतियाँ। रभस रंग-काम क्रीड़ा। मातुन-उन्मत्त। कोन बेला-किस समय। अवसाना-अन्त। समाओत-समाते हो। सेष-मृत्यु। समन-शान्त करना। आरा-अन्य।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में विद्यापति की आत्मा में उदित वैराग्य-का मुखरण हुआ है। कवि ने विषय-वासनाओं की निरर्थकता तथा प्रभु की एकमात्र सार्थकता की अनुभूति की। इस अनुभूति की पावन भूमि पर कवि की अन्तर्ग्लानि की भावना इस पद की मूल चेतना है।

व्याख्या :—पुत्र, मित्र तथा रमणियों का समुदाय उतप्त सिकता-कणों पर पतित जल बिन्दु के समान नाश प्राप्त होने वाले हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार गर्म रेत के कणों पर गिरा जल

तुरन्त ही अपने जलत्व को खो बैठता है उसी प्रकार उपर्युक्त स्नेह सम्बन्ध भी स्वार्थ की तप्त बालू में अपनी स्नेहिलता को खो बैठते हैं। हे माधव ! (मैं कितना पतित हूँ कि) मैंने (आत्मा के चिर सम्बन्धी) तुमको विस्मृत कर, (नश्वर सम्बन्ध वाले) पुत्र, मित्र तथा रमणी-समाज को अपना मन समर्पित कर दिया। अर्थात् मैं अविनश्वर प्रेमास्पद को छोड़ के नश्वर स्वार्थास्पदों में लिप्त रहा। अब मेरी कौन दशा होगी। हे माधव ! तुम्हारी उपेक्षा के महान् पाप-कृत्य के परिणाम को सोचकर मैं पूर्ण निराशा की अनुभूति कर रहा हूँ। लेकिन हे दीनदयालु ! तुम जगत के उद्धारक हो, दीन-हीन पापियों को करुणा प्रदान करने वाले हो, अतएव (मुझे) तुम्हारा ही विश्वास रह गया अर्थात् तुम निश्चय ही मेरा उद्धार करोगे।

मैंने अपना आधा जीवन तो सोकर (अकर्मण्यता में) ही व्यतीत कर दिया तथा शेष जीवन वृद्धावस्था और शैशवावस्था में व्यतीत हो गया अर्थात् शैशवावस्था की अबोध क्रीड़ाओं तथा बृद्धावस्था की शारीरिक और मानसिक अशक्तता में विनष्ट हो गया। मैं (यौवन में) युवतियों के साथ भोग-विलास एवं काम केलियों में उन्मत्त रहा, हे प्रभु ! मैं किस क्षण भजता। तात्पर्य यह है कि मैंने अपना सम्पूर्ण जीवन अबोधता, भोग-विलास तथा अशक्तता में ही व्यतीत किया।

(तुम परम विराट हो क्योंकि) कितने ही ब्रह्मा (जो कि सृष्टि का कारणभूत तत्त्व है उत्पन्न होकर) मृत्युभूत हो जाते हैं लेकिन तुम अनादि तथा अनन्य हो। जिस प्रकार सागर से उत्पन्न होकर तरंगें सागर में ही समाहित हो जाती हैं उसी प्रकार (यह सृष्टि) तुम से ही जन्म लेती है और पुनः तुममें ही समा जाती है। अर्थात् तुम सृष्टि एवं नाश के महाकारण तत्व हो।

विद्यापति कहते हैं कि तुम्हारे अतिरिक्त कोई अन्य मेरे मृत्यु के भय को प्रशमित—समाप्त, नहीं कर सकता। हे नाथ ! तुम आदि तथा अनादि (अर्थात् तुष्टि रूप और सृष्टि कारण) कहलाते हो, अब मेरे तारने का उत्तरदायित्व तुम्हारे ही ऊपर है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'तातल·········समाज' तथा 'तेहि·········समाना' में उपमा अलंकार का प्रयोग हुआ है।

२. 'वारि-बिन्दु', 'सम सुत', 'कौन काज', 'दीन दयामय', 'आदि अवसाना', 'सेष समन' तथा 'आदि अनादिक' में छेकानुप्रास और 'रमनि-रभस-रंग' में वृत्यानुप्रास का प्रयोग हुआ है।

३. 'मरि मरि' में पुनरोक्ति प्रकाश अलंकार है।

४. 'तोहे ...... समाना' में ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप की अभिव्यक्ति हुई है।

५. सम्पूर्ण पद में आत्मग्लानि-जनित करुण रस की व्याप्ति है।

(१८)

जतने जतेक धन पापे बटोरल मिलि मिलि परिजन खाय।
मरनक बेरि हरि कोई न पूछए करम संग चलि जाय॥
ए हरि, बन्दों तुअ पद नाथ।
तुअ पद परिहरि पाय पयोनिधि पारक कओन उपाय॥
जावत जनम नहि तुअ पद सेविनु जुबती मति मयँ मेलि।
अमृत तजि हलाहल किए पीअल सम्पद अपदहि भेलि॥
भनइ विद्यापति नेह मने गनि कहल कि वाढ़ब काजे।
साँझक बेरि सेवकाई मँगइत हेरइत तुअ पद लाजे॥

शब्दार्थ :—जतने-यत्न करके। जतेक-जितना भी मरनक-मृत्यु की। बेरि-बेला। पारक-पार करने का। कओन-कौन। जावत जनम आजीवन। मयँ-में। मेलि-डालना, लगाना। किए-क्यों। पीअल-पान किया। अपदहि भेलि-आपत्ति बन गई। नेह मने गनि-आपके प्रति स्नेह = भाव पर विचार करके। कहल कि बाढ़ब काजे-बात बढ़ाने से क्या लाभ। सांझक बेरि- सन्ध्या के समय, मृत्यु काल समुपस्थित होने पर। हेरिइत-देख कर।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में विद्यापति की वैराग्यभावना को स्वर-लिपि मिली है। संसार में सारे सम्बन्ध स्वार्थ के हैं, हम जिनके लिए पाप पूर्वक धन अर्जित करते हैं, वे समृद्धि का तो उपभोग करते हैं लेकिन पाप के परिणाम को नहीं बाँटते। इसी अनुभूति ने विद्यापति

को सांसारिक सम्बन्धों के प्रति विमुख और प्रभु के प्रति उन्मुख कर दिया।

व्याख्या :—मैंने नाना प्रकार के पाप करके प्रयत्नपूर्वक जितना भी धन एकत्र किया था उसे मेरे परिवार के जनों ने मिल-मिल कर खा डाला हे हरि ! मृत्यु की इस बेला में कोई (मेरे सुख-दुख एवं पाप-जनित संभाव्य नारकीय यंत्रणा के विषय में) पूछता तक नहीं, इस अन्तिम वेला में कोई साथ नहीं देता, केवल अपने कर्म ही साथ जाते हैं अर्थात् हमें कर्मों का भोग भोगना ही पड़ता है। हे हरि ! मैं विनम्र होकर (आत्मसमर्पण की भावना से) तुम्हारे चरणों की वन्दना करता हूँ। तुम्हारे चरणों को छोड़ कर इस पाप-समुद्र (संसार) को पार करने का अब कौन उपाय (अवशिष्ट) रहा है अर्थात् ये चरण ही मेरे एक मात्र आश्रय हैं।

मैंने आजीवन तुम्हारे चरणों की सेवा नहीं की, अपितु मेरा मन युवतियों में ही लगा रहा—अनुरक्त रहा अर्थात् मेरा मन रामार्पण न रह कर कामार्पण रहा। (इस प्रकार) मैंने (भगवत्प्रे रूपी) अमृत का परित्याग कर (विषय-वासना रूपी) विषय का पान किया, इस प्रकार (विषय-वासना जनित) आपदा ही मेरी सम्पत्ति हो गई है। 'भाव यह है कि प्रभु से विमुख होकर आत्मा सांसारिक क्लेशों का ही उपभोक्ता रहता है।

विद्यापति कहते हैं कि यदि आपके प्रति अपने स्नेह-भाव या स्नेह-निष्ठा की बात कहूँ तो यह व्यर्थ ही होगा, उससे मेरा कोई प्रयो न सिद्ध होने से रहा; कारण वास्तविकता तो यह है मैंने तुम्हारी किञ्चित मात्र भक्ति नहीं की है।

अब जीवन की साध्य-बेला में अर्थात् मृत्यु काल समुपस्थित होने पर (अपने उद्धार के हेतु) आपसे मुक्ति रूपी मजदूरी मांगते हुए आपके चरणों की ओर देखने में भी लज्जा आती है। भाव यह है कि जीवन तो यों ही नष्ट कर दिया है। और अब मुक्ति की याचना करते हुए लजाता हूँ।

साहित्यिक विश्लेषणः—

१. 'जतने जतेक' तथा 'जाबत जनम' में छेकानुप्रास है।

२. 'पद परिहरि पाप-पयोनिधि पारक' तथा 'मति मयँ मेलि' में वृत्यानुप्रास है।

३. 'मिलि मिलि' पुनरोक्ति प्रकाश अलंकार है।

४. 'पाप पयोनिधि' में रूपकालंकार है।

५. 'भनइ.........पद लाजे' में उपमालंकार है।

६. सम्पूर्ण पद में उपलक्षण पद्धति का निर्वाह मिलता है।

७. इस पद में विद्यापति की वैयक्तिक दैन्यानुभूति का प्रकाशन हुआ है, साथ ही प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण की भावना की अभिव्यक्ति भी हुई है।

जानकी-वंदना

(१६)

रे नारनाह सतत भजु ताहि। ताहि, नहि जननि जनक नहिं जाहि ।।
बसु नइहरा ससुरा के नाम। जननिक सिर चढ़ि गेल वहि गाम ।।
सासुक कोर में सुतल जमाय। समधि बिलह तो बिलहल जाय ।।
जाहि ओदर से बाहर भेलि। से पुनि पलटि ततय चलि गेलि ।।
भन विद्यापति सुकवी भान। कवि के कवि कहँ कवि पहचान ।।

शब्दार्थ :—नरनाह-नृपति। ताहि-उसे। नहि जननि जनक नहि-जिसके माँ बाप नहीं हैं (सीता पृथ्वी से उत्पन्न हुई थीं। नइहरा-नैहर, पितृगृह। ससुरा के नाम-ससुराल के नाम से। जननिक सिर-माता के शीश पर। वहिगाम-अयोध्या। कोर-अंक। बिलह-विलास। ओदर-उदर, गर्भ। भेलि-हुई। ततय-वहीं। कवि.........पहचान-कवि के कवित्व को कवि ही पहचान सकता है।

प्रसंग :—कवि अपने आश्रयदाता राजा से जानकी बंदना करने को कहता है, यह बंदना चमत्कारपूर्ण शैली में है।

व्याख्या :—हे नृपति ! आप सदैव उसी (जानकी) का भजन करें जिसके न तो माता है और न ही पिता (जानकी के विषय में पौराणिक मान्यता है कि वे पृथ्वी की पुत्री हैं, वे राजा जनक को हल चलाते हुए पृथ्वी के गर्भ से प्राप्त हुई थीं) (यह जानकी विचित्र आचरणवाली है क्योंकि) वे, अपने श्वसुर अर्थात् राजा दशरथ के यहाँ

रहती हुई भी अपने मायके में ही निवास करती हैं अर्थात वे अपनी ससुराल अयोध्या में रहती हुई भी सदैव अपनी माता पृथ्वी पर ही रहती हैं। यही नहीं जब वे उस ग्राम अर्थात् अयोध्या गईं तो अपनी माता के शीश पर चढ़ कर गईं। अर्थात् धरती पर चल कर गईं।

सास की गोद में जामाता सोता है। अर्थात् बनबास की अवस्था में राम पृथ्वी पर ही शयन करते थे। बात इससे भी आगे बढ़ी। राजा दशरथ में समधिन अर्थात् पुत्रवधू जानकी की माँ पृथ्वी से विलास करने की इच्छा उत्पन्न हुई तो समधिन अर्थात् पृथ्वी ने उनके साथ विलास किया भाव यह है कि दशरथ ने पृथ्वी का उपभोग किया, क्योंकि राजा को पृथ्वीपति की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। (जानकी के विषय में सर्वाधिक आश्चर्यकारिणी घटना तो यह है कि) जानकी जिस माता पुथ्वी [पृथ्वी] के गर्भ से उत्पन्न हुई थीं अन्त में उसी के गर्भ में समा गईं। [जानकी के विषय में यह मान्यता है कि अन्त काल में पृथ्वी के फटने पर वे उसी के अन्दर समा गई थीं।

सुकवि विद्यापति कहते हैं कि कवि के कवित्व की पहचान कवि ही कर सकता है। भाव यह है कि विद्यापति अपने इस पद के लक्षण-शक्ति-सम्पन्न काव्यत्व पर गर्व करते हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'कवि ···पहचान' में यमक अलंकार है।

२. इस पद में विद्यापति के पाँडित्य का प्रदर्शन ही हुआ है जानकी के प्रति-भक्ति की अभिव्यक्ति नहीं। सम्पूर्ण पद में लक्षणा-शक्ति द्वारा चमत्कार की सृष्टि हुई है। यह पद दृष्टकूट पद तथा उलटबासियों की शैली के स्तर का है।

व्यक्तिगत

(२०)

उगना हे मोर कतय गेला। कतय गेला सिव कि दहुँ भेला।।
भाँग नहि बटुआ रुसि वैसलाह। जोहि आनि देल हसि उठलाह।।
जो मोर कहता उगना उदेस। ताहि देब कर कंगना वेस।।
नन्दन बन में भेंटल महेश। गोरी मन हरषित मेटल कलेश।।
विद्यापति भन उगना सों काज। नहि हितकर मोर त्रिभुवन राज।।

शब्दार्थ :— उगना-उदना, विद्यापति का सेवक, जिसके विषय में जनश्रुति है कि विद्यापति की भक्ति से प्रसन्न होकर साक्षात् शिव ही सेवक के रूप में उनके यहाँ रहने लगे, परन्तु शर्त यह थी कि वह उसी समय तक पास रहेंगे जब तक विद्यापति उनके शिवत्व का भेद किसी से प्रकट न करेंगे। एक दिन विद्यापति की पत्नी ने रुष्ट होकर उगना पर जलती हुई लकड़ी का प्रहार किया। तभी विद्यापति अकस्मात् कह उठे—'साक्षात शिव के अंग पर प्रहार।' बस क्या था शिव अन्तर्ध्यान हो गये। और विद्यापति अत्यन्त व्याकुल हुए। कतय-कहाँ। गेले-चले गये। हुहुँ भेला-पुनः हो गये। रुसि-रूष्ट होकर। बैसलाह-बैठता था। हँस उठलाह-हँस उठता था। उदेस-समाचार। बेस-बहुत बढ़िया। सो-से ही।

प्रसंग :—अपने आराध्य सेवक रूपी शिव के अदृश्य हो-जाने पर विद्यापति के व्याकुलता पूर्ण उद्‌गार प्रस्तुत पद में अंकित हैं।

व्याख्या :—हे मेरे उगना तुम किधर चले गये ? तुम किधर चले गये, कहीं फिर से शिव-रूप तो धारण नहीं कर लिया। जब तुम्हारे बटुये में भाँग नहीं रहती थी तो तुम रुष्ट होकर बैठ जाते थे, और ज्यों ही तुम्हें भाँग लाकर दी कि तुम हंस उठते थे। तात्पर्य यह है कि तुम्हारी रुष्टता स्थायी नहीं थी, फिर अब क्यों रुठ कर चले गये हो।

जो कोई भी मुझे उगना का समाचार देगा अर्थात् उगना के रहने के देश का पता बतायेगा, मैं उसे हाथ का [बहुमूल्य] कंगन प्रदान करुंगा। नन्दन बन में मेरी उगना स्वरूप शिव से भेंट हुई, पार्वती ने प्रसन्न मन होकर मेरे दु;खों को नष्ट कर दिया। भाव यह है कि पार्वती ने मेरे ऊपर कृपालु होकर शिव को उगना रुप में मेरे यहाँ रहने की अनुमति दी। विद्यापति कहते हैं कि मेरा प्रयोजन तो उगना से ही है, [उगना से विहीन त्रैलोक्य का राज्य भी मेरे लिये कल्याणकारी नहीं है।

(२१)

सपन देखल हम सिवसिंघ भूप। बतिस बरस पर साँवर रूप ॥
बहुत देखल गुरुजन प्राचीन। अब भेलहुँ हम आयु बिहीन ॥

सिमटु सिमटु निग्र लोचन नीर। ककरहु काल न राखथि थीर ।।
विद्यापति मुगातिक प्रस्ताव । त्यान के करुणा रसक स्वभाव ।।

शब्दार्थ :— बतिस बरस-बत्तीस वर्ष। साँवर रुप-श्यामल वर्ण। आब-अब। भेलहुं-होगये। सिमटु-रोको। ककरहु-किसी को भी। थीर-स्थिर। सुगतिक प्रस्ताव-शुभगति के लिये [भगवान से] प्रार्थना। करुणाक रस-करुण रस अथवा भाव का।

प्रसंग : प्रस्तुत पद में विद्यापति मृत्यु की निकटता के सूचक दुःस्वप्न का उल्लेख अत्यन्त धैर्य के साथ करते हैं।

व्याख्या :—विद्यापति कहते हैं कि हमने अपने [मित्र] राजा शिव सिंह को [उनकी मृत्यु के] बत्तीस वर्ष के उपरान्त श्या ल रुप में देखा, उनके साथ ही साथ अपने बहुत से प्राचीन गुरुजनों को भी [मलिन वेष में] देखा। [इस अपशकुनात्मक स्वप्न को देख कर विद्यापति सोचने लगते हैं कि] अब हम आयु विहीन हो गये अर्थात् अब जीवन का अन्त सन्निकट है।

(स्वयं को सम्बोधित करते हुए विद्यापति कहते हैं कि) तुम (अपनी आयुहीनता निकट ही जान कर) रोओ मत अपने नेत्र से अश्रु-जल को रोको, क्योंकि काल किसी को भी स्थिर नहीं रखता अर्थात् जन्म लेने वाले प्राणी को मरना ही पड़ता है ।हे विद्यापति ! करुणा के भाव अर्थात् मृत्यु-भय जनित दुःख के भाव को त्याग कर (प्रभु से) अपनी शुभगति के लिये प्रार्थना करो।

विशेष :—यह पद विद्यापति के मृत्यु के समय को निर्धारित करने में सहा ता देता है। यही इसका महत्त्व है।

(२२)

दुल्लहि तोर कतय छथि माय। कहु न ओ आवथु एखन नहाय ।।
वृथा बुझथु ससार बिलास। पल पल नाना तरहक तरास ।।
माय बाप जों सदगति पाब। संतति कों अनुपम सुख आब ।।
विद्यापतिक आयु अवसान। कातिक धवल त्रयोदसि जान ।।

शब्दार्थ :—दुल्लहि-विद्यापति की पुत्री। छथि-है। माय-माता। आबथु-आवे, आती है। एखन-इसी क्षण। बुझथु-समझो। तरहक-तरह के।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में अपने अन्तकाल समुपस्थित होने पर विद्यापति अपनी पुत्री दुल्लहि से वैराग्य-भाव में स्थित होकर कहते हैं।

व्याख्या :—हे दुल्लहि! तेरी माता कहाँ है उससे कहो न कि वह इसी क्षण स्नान करके आवे। (इसके उपरान्त अपनी पुत्री से कहते हैं, हे पुत्री!) इस संसार के ऐश्वर्य को मिथ्या समझो, क्योंकि यहाँ प्रतिक्षण ही विविध प्रकार के भय विद्यमान हैं। तात्पर्य यह कि भय-आग्रसित होने के कारण साँसारिक जीवन दुःख और क्लेशमय ही है।

(विद्यापति अपनी पुत्री को ढाढ़स बँधाते हुए समझाते हैं) यदि माँ बाप को शुभगति प्राप्त हो जाय तो उसकी सन्तान को भी अद्वितीय अर्थात् अत्यन्त सुख प्राप्त होता है। कार्त्तिक मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को विद्यापति की आयु का अन्त समझो अर्थात् उस दिन वे परमगति को प्राप्त होंगे।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'पल पल' में पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

२. 'संतति······आब' में अतिशयोक्ति है।

३. 'तरहक तरास' तथा 'आयु अवसान' में छेकानुप्रास है।

४. विद्यापति ने इस पद में अपनी आसन्न मृत्यु की भविष्य-वाणी की है। इस प्रकार यह पद अपने ढंग का अलग ही है।

ऐतिहासिक

(२३)

शिवसिंह का सिंहासनारोहण।

अनल३ रंध्र९ कर२ लक्खननरवए सक समुद्द४ कर२ अगिनि३ ससी१।
चैत कारि छटि जेठा मिलिओं बार बेहप्पए जाउ लसी॥
देवसिंह ज पुहमी छड्डिय अद्धासन सुरराए सरु।
दुहु सुरतान नीद अब सोअउ तपन हीन जग तिमिर भरु॥

देखहु ओ पृथमी के राजा, पौरुष माँझ पुन्न बलिओ।
सतबले गंग मिलित कलेवर देवसिंह सुरपुर चलिओ।।
एक दिसि सकल जवन बल चलिओ, ओकर दिस से जमराए चरु।
दुअओ उदलटि मनोरथ पूरेओ, गरुअ दाप सिवसिंघ करु।।
सुरतरु कुसुम घालि दिसि पूरेओ, दुन्दहि सुन्दर साद धरु।
बीर छत्र देखन को कारन, सुरगन साते गगन भरु।।
आरंभिअ अंतेट्ठि महामख, राजसूय असमेघ कहाँ।
पंडित घर आचार बखानिय, जाचक का घर दान जहाँ।।
विज्जवइ कबिवर एहु गावए, मानब मन आनन्द भएओ।
सिंहासन सिवसिंघ बइट्ठो, उच्छवै बैरस बिसरि गएओ।।

शब्दार्थ :—अनल-३ (तीन प्रकार की अग्नि—दावाग्नि, वाड़वाग्नि तथा जठराग्नि, होने के कारण) रंध्र-९ (शरीर के नौ रंध्र—२आँख, २ कान, १ मुख, २ नासिका तथा २ मल, मूत्र के स्थान, होने के कारण) कर-२ (दो हाथ होने के कारण) अनल रंध्र कर लक्खन नरबए-लक्ष्मणाब्द २९३। सक-शकाब्द। समुद्द४ कर२ अगिनि३ ससि१-शकाब्द १३२४। चैतकारि षष्ठी-चैत्र मास की कृष्ण पक्ष की षष्ठी तिथि। जेठा-ज्येष्ठ नक्षत्र में। बेहप्पय-बृहस्पति। जाउलसी-जाते दिखाई दी, अर्थात् सन्ध्या समय। पुहमी-पृथ्वी छड्डिय-छोड़ दी। अद्धासन सुरराए सरु-इन्द्र आधे सिंहासन से खिसक गया। दुहु सुरतान- दोनों सुल्तान। नींदे अब सोअओ-अब चैन से सोओ। तपन हीन-सूर्य के बिना। देखअ······बलिओ-हे पृथ्वी के राजाओ। पुरुषार्थ के साथ-साथ पुण्यबल भी देखो। सतवाले-सत्य बल से। गंगा मिलिअ कलेवर-अपना शरीर गंगा को अर्पित कर। ओकरदिसि-दूसरी दिशा से। जमराज चरु-यमराज चले। दुअओ दलटि-दोनों दल। पूरेओ-पूरा किया। गरुअ दाप-भारी पराक्रम से। घालि-वर्षा की। साद-शब्द। आरम्भिए-सिंहासनारोहण। अन्तेट्ठि-अन्त्येष्टि क्रिया। महामख-महायज्ञ। असमेघ-अश्वमेघ। आचार-कर्मकांड। विज्जावइ-विद्यापति। बइट्ठो-बैठा। उच्छवै-उत्सव में। बैरस-विसरसता।

प्रसंग ;—प्रस्तुत पद में विद्यापति ने राजा देवीसिंह की मृत्यु तथा उनके पुत्र राजा शिवसिंह के सिंहासनारूढ़ होने के साथ ही यवनों से उनके युद्ध करने के पराक्रम का वर्णन ओजपूर्ण भाषा में किया है।

व्याख्या :—लक्ष्मणाद्ब २९३ तदनुसार शक सम्वत् १३२४ के चैत्र मास की कृष्ण पक्ष की षष्ठी तिथि ज्येष्ठा नक्षत्र में, बृहस्पति के सन्ध्या समय देवी सिंह ने पृथ्वी का परित्याग किया अर्थात शरीर त्याग किया और (स्वर्ग में राजा देवीसिंह का स्वागत करते हुए) इन्द्र अपने आधे सिंहासन से खिसक गया अर्थात् इन्द्र ने उन्हें इन्द्रासन के अर्ध भाग पर प्रतिष्ठित किया। दिल्ली और जौनपुर के दोनों सुल्तान अब चैन की नींद सोवें। प्रतापी राजा देवी सिंह रूपी सूर्य के अभाव में अब संसार में अन्धकार प्रतिच्छायित हो गया है। तात्पर्य यह है कि ये दोनों सुल्तान अब निर्भय होकर मनमानी करने का विचार कर सकते हैं।

हे पृथ्वी के राजाओं ! देखो, राजा देवीसिंह में पुरुषार्थ अर्थात् पौरुष-बल के साथ ही पुण्य-बल भी विद्यमान था। तात्पर्य यह है कि राजा देवीसिंह की शक्तिमत्ता के कारण उनके जीवन-काल में यवनों को उनके राज्य पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ और पुण्य-बल के कारण उन्हें स्वर्ग का गौरवपूर्ण पद प्राप्त हुआ। राजा देवी सिंह ने सत्य-बल से गंगा को अपना शरीर समर्पित कर देवलोक को प्रस्थान किया।

(राजा देवीसिंह की मृत्यु के अवसर पर) एक दिशा से तो यवनों की सेनाएं (आक्रमण करने के उद्देश्य से) चलीं और दूसरी दिशा से (देवीसिंह के प्राण लेने के उद्देश्य से) यमराज चले। राजा शिवसिंह ने प्रबल पराक्रम से दोनों दलों की मनोकामनायें पूर्ण कीं अर्थात् दोनों दलों से सफलता पूर्वक युद्ध किया। भाव यह है कि राजा शिवसिंह ने एक ओर तो यवनों के दर्प को कुचल दिया और दूसरी ओर (यम-प्रभाव से मुक्त) गंगा तट पर अपने पिता राजा देवीसिंह की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न करके उन्हें यम के भय से मुक्त कर स्वर्गगामी किया।

(राजा शिवसिंह के ऐसे प्रबल पराक्रम को देख कर हर्षित हो) देवतरु अर्थात् कल्पवृक्ष ने पुष्पों की वर्षा से दिशाएं भर दीं और (देवताओं ने) सुन्दर दुन्दभी की (मंगलकारी) ध्वनि की। इस वीर शिरोमणि राजा शिवसिंह के छत्र धारण के उत्सव अर्थात् सिंहासना-रोहणोत्सव को देखने के कारण आये हुये देवताओं से सातों आकाश भर गये।

राजा शिवसिंह ने अपने सिंहासनारोहण तथा पिता की अन्त्येष्टि क्रिया के अवसर पर ऐसे महायज्ञों को सम्पन्न किया जिनके कि समक्ष राजसूर्य तथा अश्वमेध जैसे यज्ञ अत्यन्त नगण्य थे। उस यज्ञ के (आदर्श) कर्मकांड की चर्चा ब्राह्मणों के घरों में होने लगी तथा याचकों के घरों में उस यज्ञ में किये गये अमित दान की चर्चा होने लगी।

कविवर विद्यापति गाते हैं कि इस अवसर पर मानव मात्र का मन आनन्द आपूरित हो गया और राजा शिवसिंह के सिंहासना-रोहणोत्सव के आनन्द में (देवीसिंह की मृत्यु के) शोक को (सब लोग) भूल गये।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. प्रथम पंक्ति में दृष्टकूट पद शैली की दुर्बोधता पाई जाती है। शास्त्रों के 'अंका नाम वामतोगति' सिद्धान्त की बिपरीत साँख्यकी योजनाएँ काव्यत्व को क्षति पहुंचाती हैं।

२. 'पौरुष·········बलिओ' में सहोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

३. सम्पूर्ण पद में अतिशयोक्ति अलंकार का समायोजन हुआ है।

४. स्थान-स्थान पर छेकानुप्रास पाया जाता है।

५, इस पद की भाषा में प्राकृत शब्दों का बाहुल्य है। इसी कारण 'विद्यापति की पदावली' में यह पद संकलित नहीं है।

(२४)

दूर दुग्गम दमसि भंजेओ, गाढ़ि गढ़ गूढ़ीअ गंजेओ,
पातसाह ससीम सीमा, समर दरसओ रे।
ढोल तरल निसान सद्दहि भेरि काहल संख नद्दहि,
तीन – भुअन निकेत, केतकि सान भरिओ रे॥
कोह नीर पयान चलिओ, बाउ मध्ये राय गरुओ,
तरनि तेज तुलाधरा, परताप गहिओ रे।
मेरु कनक सुमेरु कंपिअ, धरनि पूरिय गगन झंपिअ,
हाति तुरए हदाति पअभर, कमन सहिओ रे।

तरल तर तरवारि रंगे, बिज्जुदाम छटा तरंगे,
घोर गन संघात बारिज काल दरसेओ रे।
तुरए कोटिअ चाप चूरिअ, चारि दिसि सौं बिदिस पूरिअ,
बिषम सर आसाढ़ धारा, धरनि भरिओ रे॥
अन्ध कूअ कबंध लाइअ, फेरबी फक्करिस गाइअ,
रुहिर मत्त परेत भूत बैंताल बिछिलिओ रे।
पार भइ परिपंथि गंजिअ, भूमि मंडल मुंड मंडिअ,
चारु चन्द्र कलेव कीत्ति सुकेतकि तुलिओ रे॥
राम-रूप स्वधम्म सिक्खिअ, दान दप्प दधीचि रक्खिअ,
सुकबि नब जयदेव, भनिओ रे।
देवसिह नरेन्द नन्दन, सत्रु नरवई कुल निकन्दन,
सिंह सम सिबसिंघ राया, सकल गुनक निधाद गनिओ रे॥

शब्दार्थ :—दूर-दूरस्थ। दुग्गम-दुर्गम (गढ़)। दमसि-दमन कर, नष्ट कर। गाढ़-दुर्भेद्य। गूढ़िअ-कठिन। गंजेऊ :—विनष्ट कर दिया। ससीम सीमा-सीमा के अन्तर्गत। दरसओ-दृष्टिगोचर होने लगा। सद्दहि-शब्द। काहल-विजय घंट। नद्दहि-शंखनाद। सान समान। कोह-पर्वत। पयान-प्रयाण। बाउ-वायु। राय गरुओ। गरुड़ राज। तुलधरा-तुल्य। गहिओ-धारण किया। झंपिअ-प्रतिच्छायित हो गया। हाति तुरए पदाति-हाथी, घोड़े और पैदल सेना। पअभर-पदभार। कमन-कौन। बिज्जुदाम-विद्युत-दीप्ति। चाप-चूरिय-दबाव से चूर-चूर हो गई। पूरिअ-पूरित हो गई। कंबन्ध-शीश कटे शव। फेरबी-शृगाल। फक्करिस-शृगाल के बोलने का शब्द। बिछिलिओ-फिसलने लगे। पार भई-विजय हुई। परिपंथि गंजिअ-शत्रु नष्ट हो गये। मंडिअ-मंडित हुई। कलेव-कला की। सुकेतिक-केतकी का पुष्प। तुलिओ-तुलना होने लगी। स्वधम्म-स्वधर्म। सिक्खिअ-शिक्षा दी। दप्प-दर्प। रक्खिअ-धारण किया। नव जयदेव-अभिनव जयदेव (विद्यापति की उपाधि)। निकन्दन-नाश करने वाले। राया-राजा। गुनक निधान-गुणों के आगार। गनिओ-परिगणित किया गया।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में विद्यापति ने अत्यन्त ओजस्वी शैली में राजा शिवसिंह के युद्ध-पराक्रम का अलंकरणपूर्ण वर्णन किया है।

व्याख्या :—राजा शिवसिंह ने अपने पराक्रम से (यवनों के) दूरस्थ दुर्भेद्य, गढ़ों को नष्ट कर दिया—धराशायी कर दिया। इस प्रकार वह युद्ध बादशाह के राज्य की सीमा के अन्तर्गत लड़ा गया। ढोल और निरन्तर बजने वाले नगाड़ों के शब्द से तथा भेरी तथा विजय घंट तथा शंखनाद से तीनों लोकों के गृह-स्थान केतकी पुष्प के (सौरभ) के समान भर गये। अथवा राजा शिव सिंह की सेना के नगाड़ों के विजय घंट तथा शंखनाद का भीषण घोष आतंक उत्पन्न करने वाले केतिकी (कड़खा) राग के सदृश त्रैलोक्य में प्रतिच्छायित हो गया।

जिस प्रकार पर्वत से जलधारा (नीचे की ओर तीव्र गति से प्रवाहित होती है तथा जिस वेग से वायुमण्डल में गरुड़राज प्रधावित होते हैं—चलते हैं, उसी तीव्र वेग से राजा शिवसिंह की सेना ने भी प्रयाण किया। सूर्य की प्रचण्ड तेजस्विता के तुल्य (युद्ध क्षेत्र में) राजा शिवसिंह ने प्रताप धारण किया। तात्पर्य यह है कि युद्ध स्थल में उन्होंने अपने आग्नेय पराक्रम से शत्रु सेना का संहार किया। (उनकी सेना के प्रयाण की धमक से) स्वर्ण-पर्वत सुमेरु प्रकम्पित होने लगा। पृथ्वी से लेकर आकाश तक धूल से व्याप्त हो गयी। (राजा शिवसिंह की) हस्ति सेना, अश्वसेना तथा पैदल सेना के भार को कौन सहन कर सकता है। भाव यह है कि इस असंख्य सेना के भार से पृथ्वी काँपने लगी।

चंचला तलवार की शोभा विद्युत की दीपित तरंगों के सदृश दिखलाई देने लगी। (युद्ध-भूमि का दृश्य रक्त की कीचड़ के कारण ऐसा डरावना लग रहा था जैसे) वर्षाकाल में प्रलयकारी बादल घनघोर वर्षा कर प्रलय का दृश्य उपस्थित कर रहे हों अथवा 'काल वर्षाकाल के गम्भीर बादलों के समूह के' रूप में साक्षात् दिखाई देने लगा हो। भाव यह है कि राजा शिव सिंह की तलवार के पराक्रम के कारण युद्ध भूमि में जो रक्त-वर्षण हुआ उससे प्रलय-सदृश दृश्य समुपस्थित हो गया। करोड़ों घोड़ों की टापों से पृथ्वी चूर्ण चूर्ण हो गई और चारों दिशाएँ तथा विदिशायें धूल से आपूरित हो गईं। आषाढ़ की घनघोर अजस्र वर्षा के समान बाणों की वर्षा होने लगी और धरती भयंकर बाणों से भर गई।

वीर योद्धाओं के शीश कट गये लेकिन युद्धोत्साह भरे होने के

कारण वे कटे हुए धड़ से ही अन्धाधुन्ध युद्ध करने लगे (परिणामतः) कबन्धों से अन्ध कूप पट गये, शृगाल फें-फें के शब्द करके चिल्लाने लगे अर्थात् वे योद्धाओं के शवों के खाद्य पदार्थ को देखकर आनन्द-नाद करने लगे। रुधिर पान करके मतवाले होकर भूत, प्रेत और पिशाच (रक्त की कीचड़ से सनी युद्ध-भूमि पर) फिसल कर गिरने लगे अर्थात् उन्मत्त होकर नृत्य करने लगे। (यवन) शत्रुओं को विनष्ट करके राजा शिवसिंह की विजय हुई, सारा भू-मण्डल (उनके शत्रुओं के) मुंडों से मंडित हो गया अर्थात् सारी पृथ्वी यवनों के कटे हुए सिरों से आच्छादित हो गई। (इस प्रकार उनका) यश सुन्दर चन्द्रमा की कला तथा केतकी के पुष्प के सौरभ के समान सारे संसार में व्याप्त हो गया।

श्रेष्ठ कवि अभिनव जयदेव (विद्यापति की उपाधि) कहते हैं कि राजा शिवसिंह ने राम की भाँति (यवन-विधर्मियों का संहार कर) स्वधर्म की शिक्षा दी और दान देने के गौरव में राजा दधीचि की रक्षा की अर्थात् उन्होंने दधीचि के तुल्य ही दान देने के गौरव को प्राप्त किया। राजा देवी सिंह के सुपुत्र राजा शिव सिंह शत्रुओं के समुदाय का उच्छेदन करने वाले हैं। वे सिंह के समान (पराक्रमशाली) राजा हैं, उन्हें समस्त गुणों का आगार गिना गया है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'तीन········भरियो रे', 'तरल······· दरसेओ रे', 'विषम सर········भरियो रे', 'चारु चन्द्र········तुलिओ रे' तथा 'सिंह········राया' में उपमा अलंकार का प्रयोग हुआ है।

२. 'कोह नीर·····राय गरुओ' में मालोपमा अलंकार है।

३. पूरे पद में स्थल-स्थल पर छेकानुप्रास तथा वृत्यानुप्रास का सौन्दर्य लक्षित होता है।

४. पूरे पद में अतिशयोक्ति अलंकार है।

५. प्रस्तुत पद का युद्ध—वर्णन पृथवीराज रासो के युद्ध-वर्णन की शैली के समानान्तर है। इसमें द्वित अक्षरों का प्रयोग, महाप्राण अक्षरों का बाहुल्य तथा प्राकृत शब्दों का आधिक्य पाया जाता है।

६. प्रस्तुत पद में वीर, भयानक तथा वीभत्स रसों का चित्रात्मक वर्णन हुआ है।

७. इस पद में प्रस्तुत के दर्शन में अप्रस्तुत की योजना ने रसोद्रेकन में पर्याप्त सहायता पहुँचाई है।

८. 'सुकबि नब जयदेव' में विद्यापति की गर्वोक्ति की सन्निहिति है।

९. विद्यापति ने इस पद की पाँचवीं पंक्ति से दसवीं पंक्ति तक अपभ्रंश शैली का प्रयोग किया है।

दृष्टकूट

(२५)

हरि१ सम आनन हरि२ सम लोचन,
हरि३ तहाँ हरि४ बर आगी।
हरिहि५ चाहि हरि६ हरि७ न सुहावे।
हरि - हरि८ कए उठि जागी॥
माधव हरि९ रह जलधर छाई।
हरि१० नयनी धनि हरि११-घरनी जनि।
हरि१२ हेरइत दिन जाई॥
हरि१३ भेलभार हार हरि१४ सम,
हरि१५ क बचन न सोहावे।
हरि१६ पइसि जे हरि १७ जे नुकाएल,
हरि१८ चढ़ि मोर बुझावे
हरिहि१९ बचन पुर हरि२० सयँ दरसन,
सुकवि विद्यापति भाने:
राजा सिवसिंघ रूपनारायण,
लखिमा देइ रमाने॥

× × ×

शब्दार्थ:—१-चन्द्रमा। २-कमल या मृग। ३-कृष्ण। ४-सूर्य। ५-कृष्ण। ६-ब्रह्मा। ७-शिव। ८-कृष्ण। ९-गगन। १०-कमल या मृग। ११-विष्णु। १२-कृष्ण। १३-पवन या श्वास। १४-सर्प। १५-मयूर। १६-जल। १७-सर्प। १८-आकाश। १९-कोकिल।

२०-कृष्ण । बर आगी -प्रचंड अग्नि । कए उठि जागी -कह कर (सोते से) जाग उठती है । धनि-सुन्दरी । भेलभार-भार-स्वरूप । पइसि-प्रवेश करके । नुकाएल-छिप गया । रमाने-पति ।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में यमक अलकार की चमत्कारमयी भूमि पर सखी नायिका की विरह-विदग्ध दशा का वर्णन करती है ।

व्याख्या :—नायिका का मुख चन्द्रमा के सदृश्य है और नेत्र कमल के सदृश्य हैं । (लेकिन) कृष्ण का वहां अर्थात् मथुरा के प्रवास में होना (नायिका के लिये) सूर्य की प्रचंड अग्नि के समान है । भाव यह है कि कृष्ण का प्रभाव नायिका को सूर्य के प्रचंड ताप की भाँति विदग्ध करता है । वह तो केवल कृष्ण की ही चाहना करती है (उनकी तुलना में) उसे ब्रह्मा और शिव भी अच्छे नहीं लगते । वह तो (कृष्ण के प्रति प्रेमोन्माद के कारण) कृष्ण-कृष्ण की रट लगा कर (सोते से) जाग उठती है ।

माधव ! तुम गगन में बादलों के रूप में प्रतिच्छायित रहो । वह मृग नेत्रों वाली सुन्दरी (राधा) विष्णु की गृहिणी अर्थात् लक्ष्मी के समान है, उसका पूरा दिन कृष्ण को देखते-देखते बीत जाता है । तात्पर्य यह है कि वह राधा कृष्ण की भाँति श्यामवर्णी बादलों को देखते-देखते पूरा दिन बिता देती है ।

(विरह की जर्जरता के कारण) उसे श्वाँस लेना भी भार-स्वरूप हो गया है और वक्ष-प्रदेश पर पड़ा हुआ हार उसे सर्प के समान (दंशित करने वाला) प्रतीत होता है । उसे मयूरों की (कामोद्दीपक) बोली अच्छी नहीं लगती । मयूर को देखकर उसका सर्प के समान वक्ष पर पड़ा हार जल में छिप गया । तात्पर्य यह है कि मयूर की कामोद्दीपक बोली सुन कर नायिका कृष्ण के प्रति विरह-विदग्ध होकर अश्रु-निर्झरण करने लगी और इस अश्रु-धारा में वक्षस्थल पर पड़ा उसका हार डूब गया । (इसके साथ ही) मयूर आकाश में चढ़ कर नायिका को समझाता है अर्थात् उसमें अपने मयूरपक्षी प्रिय कृष्ण की स्मृति जाग्रत कर देता है ।

वह विरहिणी कोकिल की (प्रिय-स्मृति-दंशिका) वाणी में कृष्ण का दर्शन करती है । श्रेष्ठ कवि विद्यापति कहते हैं कि अनन्त रूपवान राजा शिवसिंह लखिमादेई के पति हैं ।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'हरि······लोचन', 'हरि······जनि और हरि······ सम' में उपमा अलंकार है।

२. 'हरि-हरि' में वीप्सा अलंकार है।

३. पूरे पद में यमक अलंकार का चमत्कार है।

४. 'हरिहि पइसि······मोर बुझावे' का अर्थ श्री कृष्ण नारायण अग्रवाल के अनुसार इस प्रकार है "उसने जल में प्रवेश करके (गले के हार रूपी) सर्प को छिपा दिया और वह पर्वत (ऊँचे स्थान) पर चढ़ कर मयूरों को समझाती है (कि वे न बोलें)"

५. यह पद दृष्टकूट शैली का है, इसमें अर्थ-सौन्दर्य की अपेक्षा शाब्दिक व्यायाम ही अधिक है, जिसके कारण काव्य की स्वाभाविक भावनाशीलता को आघात पहुँचा है। प्राचीन कवि इस कोटि के पदों की रचना अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करने के उद्देश्य से करते थे। विद्यापति भी इस प्रवृत्ति से अस्पर्शित नहीं थे।

वयः सन्धि

(२६)

सैसब जौवन दरसन भेल। दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल॥
मदन क भाव पहिल परिचार। भिन जन देल भिन्न अधिकार॥
कटि क गौरव पाओल नितंब। एक क खीन अओक अवलंब॥
प्रगट हास अब गोपत भेल। उरज प्रगट अब तन्हिक लेल॥
चरन चपल गति लोचन पाव। लोचन क धैरज पदतल जाव॥
नव कविसेखर कि कहइत पार। भिन भिन राज भिन्न बेवहार॥

• **शब्दार्थ** ;—दरसन भेल-दर्शन हुआ। दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल-दोनों मार्गों की ओर देखते हुए कामदेव ने (नायिका के शरीर में) प्रवेश किया। भाव-सत्ता। पहिल परिचार-प्रथम परिचय। कटि क-कमर का। गौरब-गुरुता। पाओल-पाई। खीन-क्षीणता। अओक अवलंब-अन्य का सहारा। प्रगट हास-चंचल उन्मुक्त हास्य। गोपत-

गुप्त । तन्हिक-उसका (हास्य का) । जाव-गई । नव कविशेखर-विद्यापति की उपाधि । बेवहार-व्यवहार ।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में विद्यापति ने शैशव-यौवन की संधि-बेला में नायिका के शरीरांगों में होने वाले इन्द्रधनुषी परिवर्तन-क्रम को कोमल-कलित भाषा में वर्णित किया है ।

व्याख्या :—(नायिका के शरीर में) शैशव तथा यौवन एक साथ ही दर्शित हुए । अर्थात् उसके शरीर से शैशव विदा नहीं होने पाया था कि यौवन (अपने सुविकसित अंग-प्रत्यंगों को लेकर) समुपस्थित हो गया । इस बेला में राजा कामदेव शैशव और यौवन दोनों की ओर (चतुरता पूर्वक) देखते हुए (मौन भाव से) नायिका के शरीर में प्रविष्ट हो गया । तात्पर्य यह है इस संधि-अवस्था में नायिका कामदेव द्वारा अधिकृत हो गई । कामदेव के राज्य-(बाला के समस्त शरीर के) ग्रहण करने का प्रथम परिचय भिन्न भिन्न व्यक्तियों को अर्थात् नायिका के भिन्न-भिन्न अंगों को भिन्न-भिन्न अधिकार प्रदान करने के द्वारा प्राप्त हुआ । भाव यह है कि कामदेव ने नायिका के शरीर के अंगों के विकास आदि में परिवर्तन कर दिया ।

कटि की गुरुता अब नितम्बों को प्राप्त हो गई और एक (कटि) की क्षीणता दूसरे का आलम्बन बन गई । तात्पर्य यह है कि यौवनागम पर नायिका की कटि पतली हो गई और उसके नितम्बों को उसकी बालापन की कमर की गुरुता प्राप्त हो गई अर्थात् उसके नितम्ब मांसल हो गये । इस प्रकार कमर की क्षीणता नितम्ब की गुरुता का सहारा हो गई । दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि अब तक (शैशव की चपलता के कारण) जो हास्य की प्रगट मुक्त-दन्तता थी वह अब गुप्त हो गई अर्थात् यौवन-गाम्भीर्य के कारण नायिका मुक्त-दन्त हास्य के स्थान पर केवल मन्द-मन्द मुस्कराती भर है । उसका अर्थात् हँसी के प्रगट होने का अधिकार (कामदेव ने) उरोजों को प्रदान किया । भाव यह है कि नायिका उन्मुक्त हास्य के स्थान पर मन्द-मन्द स्मिति पूर्ण है और उसके उरोज प्रस्फुटित दिखाई देते हैं ।

नायिका के चरणों की चंचलता नेत्रों को प्राप्त हो गई अर्थात् उसके नेत्र कटाक्ष की चंचलता से सुशोभित हो गये और उसके (शैशवास्था के अबोध) नेत्रों का धैर्य अर्थात् गाम्भीर्य चरणों को प्राप्त हो गया । भाव यह है कि वह नायिका बालपन की निःसंकोच सरलता

में अपने चरणों से फुदकती फिरती थी, अब उसने यौवन-गाम्भीर्य एवं युवती-सुलभ-सलज्जता के कारण अपने चरणों को अचंचल बना दिया है, और उसकी चरणों की यह चंचलता नेत्रों के कुटिल कटाक्षों में जा बसी है, अब वह जरा-जरा सी बात पर मृगी-सी चौंक-चौंक कर इधर उधर देखने लगती है। वह कटाक्ष चतुरा हो गई है और साथ ही उसके चरण युवती-तुल्य गरिमा-भाव के कारण गम्भीर हो गये हैं। अब वह नायिका गज-गति-गामिनी हो गई है।

नव कविशेखर (विद्यापति) कहते हैं कि नायिका की वय:-संधि की रहस्यमयता अथवा चित्र-विचित्रता का वर्णन कैसे किया जा सकता है? भिन्न भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहार होते ही हैं। भाव यह है कि पहले शैशव के राज्य में जिन अंगों में गुरुता, प्रगटता, चंचलता तथा धैर्य की गम्भीरता थी अब वही यौवन के राज्य में अन्य अंगों को प्राप्त हो गई।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. प्रस्तुत पद में उल्लास अलंकार तथा स्वाभावोक्ति अलंकार के समन्वित सौन्दर्य के दर्शन होते हैं।

२. इस पद में पाठक को विद्यापति की भाषा की चित्रोपमता का आह्लादक परिचय प्राप्त होता है।

३. निम्न वय:-संधि के वर्णनों से पाठकों को विद्यापति के वर्णन की विशिष्टता को हृदयंगम करने में सहायता मिलेगी :—

(अ)

श्रोणीबन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्य भाग :,
पदभ्यां मुक्तास्तरलगतय: संश्रिता लोचनाभ्याम्।
वक्ष: प्राप्तं कुचसचिवताम द्वितीय तु वक्त्रम्,
तद्गात्राणां गुणविनिमय: कल्पितो यौवनेन॥
(काव्य प्रकाश)

(ब)

अपने तन के जानि के, जौबन नृपति प्रवीन।
स्तन, मन, नैन, नितम्ब को, बड़ो इजाफा कीन॥

(२७)

सैसव जौबन दरसन भेल। दुह दल-बले दंद परिगेल॥
कबहुँ बांधय कच कबहुं बिथारि। कबहूँ झाँपय अंग कबहूँ उघारि॥
अति थिर नयन अथिर किछु भेल। उरज-उदय-थल लालिम देल॥
चंचल चरन चंचल चित भान। जागल मनसिज मुदित नयान॥
विद्यापति कह सुनु वर कान। धैरज धरह मिलायब आन॥

शब्दार्थ :—दल-बले-सेना में। दंद-द्वन्द, युद्ध। परिगेल-पड़ गया। विथारि-खोल देना, बिखरा देना। झाँपय-ढँक लेती है। थिर-स्थिर। अथिर-अस्थिर, चंचल। उरज-उदय-थल-कुचों के उदित होने के स्थान। भान-प्रतीत होना। मुदित नयान-अर्ध निमीलित नेत्र। कान-कृष्ण। धरह-धारण करो। मिलायब-मिला दूँगी। आन-लाकर।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में शैशव तथा यौवन के बहिर्द्वन्द का परिचित्रण हुआ है। नायिका इन दोनों के प्रभावों की छाया में कभी शिशु-सुलभ चांचल्य की धारणा करती है और कभी यौवनोचित गम्भीर आचरण में स्थित हो जाती है। इस द्वन्द का चित्रण विद्यापति ने दो शत्रु दलों की मुठभेड़ के रूप में किया है।

व्याख्या :—नायिका के शरीर में शैशव और यौवन के लक्षण एक साथ परिलक्षित होने लगे, दोनों (उसके शरीर पर आधिपत्य स्थापित करने के उद्देश्य से) अपनी-अपनी सेनाओं के साथ द्वन्द-रत हो गये।

कभी वह नायिका यौवन के वशीभूत होकर अपने केशों का जूड़ा बाँधती है—केश-प्रसाधन करती है और कभी शैशव की स्वच्छन्दता के वशीभूत होकर अपने केशों को खोकर बिखरा देती है। कभी वह नायिका यौवन-जनित लज्जा से अभिभूत हो अपने शरीर के अंगों—उरोज आदि को आवरणित करती है—साड़ी से ढँक लेती है और कभी शैशवीय अभिभूतता के कारण उन्हें अनावरणित कर देती है—उघाड़ देती है। शैशव काल के अत्यन्त स्थिर—अचपल नेत्र अब (यौवनागम के कारण) कुछ चंचल हो गये हैं और उसके उरोजों के उद्गम स्थान पर रक्तिमा दृष्टिगोचर होने लगी है।

शैशव के कारण (नायिका के) चरणों में जो चपलता थी, वह

अब यौवन की प्रभावमयता के कारण चित्त की चंचलता में भासित होने लगी। भाव यह है यौवन के आवेग के कारण उस नायिका का मन काम-भावना से दोलित होने लगा—नायिका के मन में काम जाग गया और उसके नेत्र प्रफुल्लित हो गये। तात्पर्य यह है कि नायिका के नेत्र काम-भावना की तरल दीप्ति से दीपित हो गये।

विद्यापति कहते हैं कि (दूती कहती है कि) हे कृष्ण सुनो, तुम धैर्य धारण करो मैं उस युवती को लाकर मिला दूँगी। अथवा वह युवती तुमसे आकर मिलेगी इसलिये धैर्य धारण करो।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'सैसब······गेल' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

२. 'उदय-उरज', 'मनसिज मुदित' तथा 'धैरज धरब', में छेकानुप्रास तथा 'चंचल चरन चित चँचल' में वृत्यानुप्रास की छटा है।

३. सम्पूर्ण पद में स्वाभावोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

४. 'कबहुँ······उघारि' में वय:-सन्धि-भाव में स्थित बाला की चंचल मन: स्थिति का अत्यन्त सजीव तथा चलचित्रात्मक वर्णन हुआ है। इसमें नायिका की परेशानी की बड़ी ही सजीव चित्रणा हुई है।

(२८)

खने खन नयन कोन अनुसरई। खने खन बसन धूलि तनु भरई ॥
खने खन दसन-छटा छुटहास। खने खन अधर आगे गहु बास ॥
चउँकि चलए खने खन चलु मंद। मनमथ-पाठ पहिल अनुबंध ॥
हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर। खने आँचर दए खने होय भोर ॥
बाला सैसव तारुन भेंट। लखए न पारिअ जेठ कनेठ ॥
विद्यापति कह सुनु बर कान। तरुनिम सैसव चिन्हइ न जान ॥

शब्दार्थ :—खने खन-क्षण-क्षण में। नयन कोन अनुसरई-नेत्र कटाक्ष करते हैं। छुट हास-हँसी छूट पड़ती है। गहु-पकड़ती है। बास-वस्त्र। अनुबन्ध-भूमिका। हृदय-मुकुल-उरोज। थोर-तनिक। भोर-लापरवाह हो जाना। तारुन-तारुण्य। लखए न पारिअ-नहीं देखा जा

सकता। जेठ कनेठ-ज्येष्ठ-कनिष्ठ, बड़ा-छोटा। तरुनिम-तारुण्य। चिन्हक न जान-पहिचाने नहीं जाते।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में विद्यापति ने वयः संधि की माधुरी बेला में नायिका में उठने वाले मनोद्वन्द का गतिशील चित्रण किया है।

व्याख्या :—(नायिका शैशव और यौवन दोनों से क्षण-क्षण में अभिभूत होती है) क्षण में ही वह (यौवन जनित मनः चपलता से बाध्य होकर) कटाक्ष-संचालन करती है—उसके नेत्र कोओं की ओर अनुगमित होते हैं। कभी क्षण मात्र में ही (शैशवास्था की अबोधता एव असावधानता में बह कर) अपने अपने वस्त्रों और शरीर को धूल-धूसरित कर बैठती है। तात्पर्य यह है बालापन की शारीरिक चंचलता के आचरण के कारण नायिका का आंचल पृथ्वी पर गिर जाता है और वह उसे तुरन्त ही (यौवन बोध के कारण) उठकर वक्ष पर धारण करती है। इस प्रकार उसका शरीर भी धूल-कणों से भर जाता है। इसके अतिरिक्त वह नायिका (शैशव की सरलता पूर्ण अनुप्रेरणा पर)क्षण मात्र में ही मुक्त दन्त हो हँसने लगती है अर्थात् उसका हास्य दन्त-पँक्ति की शोभा में छूट पड़ता है—वह सरल बालिका की भाँति खिलखिला कर हँसने लगती है। कभी क्षण मात्र में ही (यौवन सुलभ लज्जा के कारण) वह अपने अधरों को आंचल से आवृत कर लेती है।

क्षण मात्र में ही वह (शैशव की चपलता की ताल-लय के अनुसार) चौंक चौंक कर चौकड़ी भर कर चलने लगती है और फिर क्षण भर में ही (यौवन की गम्भीर भाव-बोझिलता के कारण) मंदगति से चलने लगती है अर्थात् युवती-तुल्य गज-गति से चलने का उपक्रम करती है। शैशव-यौवन की द्विविधा से पूर्ण नायिका का यह आचरण मनमथ अर्थात् मन को उद्वेलित करने वाले कामदेव के पाठ की प्रथम भूमिका मात्र है। तात्पर्य यह है कामदेव ने वयः सन्धि को यौवन की प्रथम भूमिका के रूप में प्रयुक्त किया है। यौवन की प्रथम भूमिका में यौवन की पूर्ण एवं स्पष्ट शिक्षा ग्रहण न कर पाने के कारण ही वह बालापन और यौवन के आचरण के मध्य भूलती रहती है।

वह अपने हृदय की कलियों अर्थात् छोटे-छोटे (नवोदित) उरोजों को बार-बार (विस्मित होकर आधी दृष्टि से) थोड़ा सा देख लेती

है और (नव यौवन-बोध के कारण) क्षण में ही उन्हें आंचल से ढक लेती है और कभी इनके प्रति भोली हो जाती है अर्थात् शैशव के भोले स्वभाव के कारण वह नव प्रस्फुटित कुचों को आँचलावृत करने के प्रति असावधान हो जाती है।

उस सुन्दरी के शरीर में शैशव तथा यौवन की भेंट हो गई है और दोनों ही समान प्रभावी हैं इसीलिए उनमें कौन छोटा और कौन बड़ा है यह दिखलाई ही नहीं देता। भाव यह है कि वह सुन्दरी बाला शैशव और यौवन की समान शक्तियों के मध्य कभी शिशु-सरला बालिका बन जाती है और कभी यौवन-चपला युवती। विद्यापति कहते हैं कि हे श्रेष्ठ (पुरुष) कृष्ण! सुनो, (उस सुन्दरी के शरीर में) यौवन और शैशव पहचाने नहीं जाते अथवा उसके शरीर में शैशव और यौवन के लक्षण स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होते। तात्पर्य यह है कि उस नारी के शरीर में बालापन और यौवन इन्द्र-धनुष की रंगों की भांति घुल मिल गये हैं। जिसके कारण उनमें से किसी को पृथक करके पहिचाना नहीं जाता—वह बाला फिरकी की तरह कभी शैशववत् आचरण कर बैठती है और कभी यौवनवत्—वह इन दोनों की समन्वित व्यक्तित्व हो गई है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. प्रस्तुत पद में वयः संधिस्था नायिका के अन्तर्द्वन्द का क्षण-क्षण-परिवर्तित क्रिया-कलाओं के द्वारा अत्यन्त मनोरम तथा स्वाभाविक चित्रण हुआ है जिसके कारण इस पद में विद्यापति की मोहक चित्रोपमता स्वाभावोक्ति अलंकार के निर्वाह के कारण अत्यन्त आकर्षणमयी हो गई है।

२. इस पद में वयः-संधि कालीन हावों की सुन्दर योजना है।

३. प्रस्तुत पद में आनुप्रासिक-छटा के कारण अपूर्व माधुर्य की सृष्टि हुई है।

४. विद्यापति के प्रस्तुत वयः सन्धि के वर्णन की समतुलना में देव का निम्न वयः-सन्धि का वर्णन दृष्टव्य है :—

"नैको सुहाति न जाति गड़ी उर पीर बड़ी, गहि गाढ़ी मसी, क्यों,
खेंचि खयून खरी खरकै नहिं, नीठि खुलै खुभि डीठि धंसी क्यों।

'देव' कहा कहौं तोसौं, जु मो सौं, तैं आज करी बिन काज हँसी क्यों,
गांठीए तोरि तनी छिनु छोड़ि दै, छाती ए कंचुकि एँचि कसी क्यों।

(२६)

किछु किछु उतपति अंकुर भेल। चरन चपल-गति लोचन लेल॥
अब सब खन रह आँचर हात। लाजए सजिगन न पुछए बात॥
कि कहब माधब बयस क संधि। हेरइत मनसिजमन रहु बंधि॥
तइअओ काम हृदय अनुपाम। रोपल घट ऊंचल कए ठाम॥
सुनइत रस–कथा थापए चीत। जइसे कुरंगिनि सुनए संगीत॥
सैसव जौबन उपजल बाद। केओ न मानए जय अवसाद॥
विद्यापति कौतुक बलिहारि। सैसव ते तनु छोड़नहि पारि॥

शब्दार्थ:—किछु किछु-कुछ-कुछ। अंकुर-उरोजों की प्राथमिक अवस्था। सब खन-सब क्षरण। बयस क संधि—वयः सन्धि, शैशव तथा यौवन की सन्धि। बंधि-बन्दी। तइअओ-तथापि। अनुपाम-अनुपम। रोपल-रोंप दिया। ऊंचल कए ठाम-उस स्थान को ऊंचा कर दिया। रस-प्रेम। थापए चीत-स्थिर चित्त। जइसे-जैसे। कुरंगिनी-हिरनी। उपजल-उत्पन्न, प्रारम्भ। केओ-कोई भी। अवसाद-पराजय। छोंड़नहि पारि-छोड़ना ही पड़ेगा।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में वयः सन्धिस्था नायिका में शारीरिक और मानसिक दृष्टियों से विकसित होने वाले युवतीत्व का वर्णन किया गया है। इस पद में चित्रित नायिका अभी कुछ सीमा तक अज्ञात यौवना है।

व्याख्या :—(शरीर में यौवन के आगमन के कारण उस सुन्दरी के) उरोजों के अग्रभाग कुछ कुछ विकसित होने लगे हैं, अर्थात् कुचों का उभार व्यक्त होने लगा है। उसके चरणों की चँचल गतिमयता नेत्रों ने प्राप्त कर ली है। भाव यह है कि अब उसके चरणों की गति गम्भीर हो गई और नेत्र बंकिम तथा कटाक्षपूर्ण हो गये। अब (युवती भाव के कारण) प्रत्येक क्षरण आँचल उसके हाथ में रहता है। भाव यह है कि उभरे वक्ष से क्षरण-क्षरण खिसकने वाले वस्त्र को हाथों से संभालती ही रहती है ताकि कहीं उसका वक्ष उघड़ न जाये। वह

अपने इस मधुर भावी परिवर्तन के प्रति जिज्ञासापूर्ण है लेकिन लज्जा के कारण अपनी सखियों से इस विषय में बात भी नहीं करती ।

हे माधव ! उस नायिका के शरीर में शैशव-यौवन के सम्मिलन का वर्णन किस प्रकार करूं । वह इनके समन्वित प्रभाव के कारण इतनी व्यामोहक हो गई है कि उसको (उसकी इन्द्रधनुषी आभा के कारण) देखकर कामदेव भी (उसके प्रति पूर्ण रूप से समर्पणशील होकर) उसके अंगों में आकर बन्दी होगया है। भाव यह है कि उस नायिका के शरीर में यौवन-विकास होने के कारण काम-भावना की पूर्ण व्याप्ति हो गई है । बन्दी होने के बावजूद भी कामदेव ने वक्षस्थल को उन्नत कर उस पर अनुपम घटों की प्रतिष्ठापना कर दी । तात्पर्य यह है कामदेव ने यौवन-रस से आपूरित कुच-घटों की स्थापना कर उस नायिका के मोहक सौन्दर्य की अभिनन्दना की ।

(नव यौवन के मधुर रहस्य को जानने के उद्देश्य से) अब वह (राधा) स्थिर चित्त से प्रेम-कथा को सुनती है । प्रेम-कथा सुनने के समय उसके चित्त की स्थिरता वैसी ही हो जाती है जैसी कि हिरनी वीणा के संगीत को सुनते समय मुग्धभाव से स्थिर हो जाती है। (उस बाला के शरीर में) अब शैशव तथा यौवन में वाद-विवाद छिड़ गया और इनमें से कोई भी जय-पराजय को स्वीकार नहीं करता । भाव यह है कि उस बाला के शरीर में शैशव तथा यौवन दोनों के लक्षण विद्यमान हैं और वह बालापन और यौवन दोनों का आचरण रह-रह कर कर उठती है । अभी पूर्णरूप से न तो शैशव ने ही उसे छोड़ा है और न ही अभी पूर्ण-रूप से यौवन ही आधिपत्य स्थापित कर सका है ।

विद्यापति वयः सन्धि के इस कौतुक अर्थात् विचित्र रसमय द्वन्द को देखकर न्यौछावर हो जाते हैं और (नायिका में यौवन आगम के कारण अपना निर्णय देते हुए कहते हैं कि) शैशव को उस नायिका को छोड़ना ही पड़ेगा अर्थात् शैशव पराजित होगा ही ।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'किछु······अंकुर भेल' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है ।

२. 'चरन······लेल' में उल्लास अलंकार है ।

३. 'कि कहब......कए ठाम' में हेतु अलंकार की योजना है।

४. 'मुनइत......संगीत' में उदाहरण अलंकार है।

५. इस वय : सन्धि-वर्णन के समतुल्य कवि शशिनाथ का निम्न वर्णन द्रष्टव्य है :—

नखशिख वर्णन

(३०)

पीन पयोधर दूबरि गता। मेरु उपजल कनक लता॥
ए कान्हु ए कान्हु तोरि दोहाई। अति अपूरब देखलि साई॥
मुख मनोहर अधर रंगे। फूललि मधुरी कमल संगे॥
लोचन जुगल भृङ्ग आकारे। मधु क मातल उड़ए न पारे॥
भउँह क कथा पुछह जनू। मदन जोड़ल काजर धनू॥
भन विद्यापति दूती बचने। एत सुनि कानु कएल गमने॥

शब्दार्थ :—पीन पयोधर-पुष्ट कुच। दूबरि-दुबली, तन्वंगी। गता-देह। मेरु उपजल-सुमेरु पर्वत विकसित हुआ है। रंगे-लाल, रक्तिम। फूललि-विकसित। मधुरी-मिथिला में पाया जाने वाला लाल रंग का एक फूल विशेष। आकारे-आकृति के। मधुक मातल-मधु पीकर अलमस्त। भँउह-भौंहें। जनू-मत। काजर धनू-काजल का धनुष। एत-इतना। कएल गमने-गमन किया।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में पूर्ण यौवन-सम्पन्ना नायिका की अपूर्व सौन्दर्य-राशि वर्णित है। सखी कृष्ण से नायिका के उरोजों, देह, अधर, नेत्र तथा भौंहों की रमणीयता की वर्णना करती है।

व्याख्या :—उस तन्वंगी देह वाली नायिका के शरीर पर पुष्ट (माँसल) कुच सुशोभित हैं। उन्हें देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो स्वर्ण-लतिका पर सुमेरु पर्वत विकसित हो गया हो। भाव यह है कि उसकी यौवन-रक्तिम कमनीय देह कनक-लता सी है और वक्ष का उभार पर्वत-सा। हे कृष्ण! तुम्हारी दुहाई है, उसका सौन्दर्य अत्यन्त अपूर्व दीखता है। तात्पर्य यह है कि तुम उसके मनोमुग्धकारी सौन्दर्य को जाकर देखो।

(वह अनिंद्य सुन्दरी है)उसके सुन्दर मुख पर रक्तिम वर्णी अधर ऐसे प्रतीत होते हैं मानो कमल के साथ बन्धूक के पुष्प खिल रहे हों। (यहाँ कमल मुख है और माधुरी का पुष्प अधर है।) उसके दोनों नेत्र भ्रमर की आकृति के हैं, उस रमणी के मद भरे नेत्र ऐसे प्रतीत हो रहे हैं कि मानो वे उसके कमल-मुख के (लावण्य रूपी) मकरन्द का पान करने के कारण उड़ने में असमर्थ होकर वहीं बैठे-के बैठे रह गये हैं। उसकी भौंह के सौन्दर्य की कथा मत पूछो अर्थात् उनका सौन्दर्य सर्वथा अवर्णनीय है। वे भौंहें ऐसी लगती हैं कि मानों वे कामदेव के काजल का धनुष हों। भाव यह है कि उस नायिका का बंकिम भ्रू संचालन अत्यन्त कामोदीपक है।

विद्यापति कहते हैं कि (नायिका की सौन्दर्य प्रशंसा से भरे) दूती के बचनों को सुनकर कृष्ण ने (नायिका के रूप-दर्शन के उद्देश्य से) गमन किया अर्थात् वे उससे मिलने चल दिये।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'पीन पयोधर······लता' तथा भउँहु······धनू' में उत्प्रेक्षा अलंकार की मनोरम कल्पना है।

२. 'अति······साई' में अतिशयोक्ति अलंकार है।

३. 'मुख मनोहर······संग' में सहोक्ति से पुष्ट उत्प्रेक्षा अलंकार का सौन्दर्य है।

४. 'लोचन···अकारे' में रूपक अलंकार है।

५. 'मधुप······पारे' में सहोक्ति से पुष्ट हेतु अलंकार का प्रकर्ष है।

६. प्रस्तुत पद में स्थान-स्थान पर छेकानुप्रास का प्रयोग हुआ है।

७. 'मेरु उपजल कनक लता' का अर्थ कतिपय टीकाकार इस प्रकार करते हैं—'सुमेरु पर्वत पर मानों कनक लता विकसित हुई है।' हमारी राय में इस अर्थ में तार्किकता का आग्रह अधिक है। इसमें काव्य के प्रभाव-सौन्दर्य के विश्लेषण का अभाव है।

८. "मुख मनोहर······न पारे" की तुलना में संस्कृत-काव्य

का निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है :—

"यावन्न कोश विकासं प्राप्नोतीषन्मालती कलिका ।
मकरन्द-पान लोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि ।।

(३१)

कि आरे नव जौबन अभिरामा ।
जत देखल तत कहए न पारिअ छओ अनुपम एक ठामा ।।
हरिन ईन्दु अरबिंद करिनि हेम पिक बूझल अनुमानी ।।
नयन बदन परिमल गति तनरुचि अओ अति सुललित बानी ।।
कुच जुग परसि चिकुर फुजि पसरल ता अरुझायल हारा ।।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल चाँद विहुन सब तारा ।।
लोल कपोल ललित मनि कुण्डल अधर बिंब अध जाई ।।
भौंह भ्रमर, नासापुट सुन्दर, से देखि कीर लजाई ।।
भनइ विद्यापति से बर नागरि आन न पावए कोई ।।
कंसदलन नारायण सुन्दर तसु रंगिनी पै होई ।।

शब्दार्थ :—कि आरे-अहा कैसा । अभिरामा-सुन्दर । जत-जितना । तत-उतना, वैसा । कहए न पारिअ-कहा नहीं जा सकता । छओ अनुपम इक ठामा-छहों अनुपम वस्तुएँ एक ही स्थान पर एकत्रित हो गईं । करिनि-हस्तिनी । हेम-स्वर्ण । बूझल अनुमानी-अनुमान से समझ लिया है । परिमल-सुगन्ध । अओ-और । चिकुर-केश । फुजि पसरल-खुलकर फैले । अरुझायल हारा-हार उलझ गया । सुमेरु-कुच का उपमान । ऊगल-उदित हुआ । विहुन-विहीन. रहित । बिंब-बिम्बाफल । अधजाई-तुच्छ प्रतील होता है । नागरि-चतुर बाला । आन न पावए-अन्य प्राप्त नहीं कर सकता । तसु-उसकी । रंगिनि-प्रियतमा । पै-निश्चय ही ।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में विद्यापति परम्परित उपमानों की भूमि पर अपनी अभिनव कल्पना की छाया में नायिका के रूप-सौदर्न्य का अत्यन्त चारुतापूर्ण वर्णन करते हैं ।

व्याख्या :—अहा ! नायिका का अभिनव यौवन कैसा सुन्दर

है। (इसका सौन्दर्य अकथनीय है तभी तो) इसको जितना देखते हैं उतना इसको कहा नहीं जा सकता, भाव यह है कि नायिका अपूर्व सुन्दरी है, उसका सौन्दर्य इतना पूर्ण है कि सीमित व्यंजना करने वाले शब्दों से उसका वर्णन नहीं हो सकता। उसकी रूप की अद्वितीयता को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि (प्रकृति-सौन्दर्य के श्रेष्ठतम) छहों अनुपम उपमान एक ही स्थान अर्थात् नायिका की लावण्युक्त देह-यष्टि में एकत्रित हो गये हों। तात्पर्य यह है कि वह नारी-सुन्दरी प्रकृति-सुन्दरी के चरम सौन्दर्य उपकरणों से नुलसित है।

ऐसा अनुमान से समझ में आता है कि हिरण, चन्द्रमा, कमल हस्थिनी, स्वर्ण एवं कोकिल क्रमशः उस नारी के नेत्र, मुख, शरीर की (या यौवन की) सुगन्धि, शरीर की यौवन-रक्तिम काँति तथा सुन्दर (मधुर) वाणी में निवास करते हैं। भाव यह है कि उस रमणी के हरिणी की भाँति यौवन-चपल दीर्घ नेत्र हैं, उसका मुख चन्द्रमा की भाँति ज्योत्स्ना-धवल है, कमल की भाँति उसका शरीर यौवन-सुगन्ध से सुगन्धित है, स्वर्ण की भाँति उसके देह की काँति है और कोकिल की भाँति उसकी कंकण-किंकिणि सी मधुर वाणी है। इस प्रकार वह नायिका सर्वांग सुन्दरी है।

उसके युगल उरोजों को स्पर्श करते हुए उसकी अस्त व्यस्त केश राशि बिखर गई हैं। जिसमें (मुक्ता) हार उलझ गया है। नायिका के इस भंगिमा-चित्र को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो युगल कुच रूपी सुमेरु पर्वत के ऊपर हार के मुक्ताओं के रूप में चन्द्रमा को छोड़कर सारे नक्षत्र एक साथ उदित हो गये हों।

उसके चंचल कपोल अत्यन्त मनोरम हैं, कानों में मणि युक्त कुण्डल सुशोभित हैं, अधरों की रक्तिमा की परितुलना में विम्बाफल भी तुच्छ पड़ जाता है। उसकी भौंह भ्रमर की भाँति (श्यामल तथा चंचल) है, उसकी नासिका इतनी सुडौल है कि उसे देखकर तोता भी लजा जाता है।

विद्यापति कहते हैं कि ऐसी (सर्वांग) सुन्दर सुचतुर नारी को दूसरा कोई प्राप्त नहीं कर सकता अथवा उस नागरी की सुन्दरता को अन्य कोई सुन्दरी प्राप्त नहीं कर सकती। कंस का संहार करने वाले कृष्ण सुन्दर हैं यह निश्चय ही उनकी प्रियतमा हो सकती है अथवा कंस का नाश करने वाले कृष्ण की प्रियतमा (राधा) में ही ऐसे श्रेष्ठ सौन्दर्य की सन्निहिति हो सकती है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'हरिन इन्दु......सुललित बानी' में यथासंख्य अलंकार की आयोजना है। व्यंग्य रूप में भ्रान्तापन्हुति अलंकार भी विद्यमान है।

२. 'कुच जुग......सब तारा' में उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग हुआ है।

३. 'लोल......कीर लजाई' में व्यतिरेक तथा अनुप्रास अलंकार है।

४. 'कंस......होई' में अनन्वय अलंकार।

५. पूरे पद में कोमलावृत्ति का प्राधान्य है।

६. समस्त पद में प्रसाद और माधुर्य गुण की व्याप्ति है।

७. विद्यापति ने प्रस्तुत पद में बिंबग्रहण शैली का प्रयोग किया है।

(३२)

माधव की कहव सुन्दरि रूपे।
कतेक जतम बिहि आनि समारल देखल नयन सरूपे॥
पल्लवराज चरन-जुग सोभित गति गजराज क भाने।
कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने॥
मेरु ऊपर दुइ कमल फुलायल नाल बिना रुचि पाई।
मनिमय हार धार बहु सुरसरि तओ नहि कमल सुखाई॥
अधर बिंवसन दसन दाड़िम-बिजु रबि ससि उगथिक पासे।
राहु दूर बस नियर न आवथि तै नहि करथि गरासे॥
सारँग नयन बयन पुनि सारँग सारँग तसु समधाने।
सारँग उपर उगल दस सारँग केलि करथि मधुपाने॥
भनइ विद्यापति सुन बर जौबति एहन जगत नहि आने।
राजा सिवसिंघ रूपनरायण—लखिमा देइ पति भाने॥

शब्दार्थ :—की कहव-क्या कहें। कतेन-कितने ही। बिहि-ब्रह्मा। समारल-संवारा है, सुसज्जित किया है। सरूपे-प्रत्यक्ष।

पल्लवराज-कमल, मुख । भाने-भान होता है, प्रतीत होता है । कनक कदलि-सोने के केले का तना, जंघा । सिंह-कटि का उपमान । तापर-उस पर । मेरु-वक्षस्थल का उपमान । दुइ कमल-दो कमल, युगल कुच के उपमान । फुलायल-विकसित हैं । रुचि पाई-शोभित हो रहे हैं । सुरसरि-गंगा । तम्रो नहि कमल सुखाई-मालारूपिणी गंगा की अविरल धारा में भी कुच रूपी कमल नहीं सूखते । सन-समान । दाड़िम-बिजु-अनार के दाने । रवि-भाल की मंगल विन्दु का उपमान । ससि-मुख का उपमान । उगथिक पासे-निकट ही उदित होते हैं । राहु—केश राशि का उपमान । नियर न आवथि-निकट नहीं आता । तै-वह । करथि गरासे-आग्रसित करता है । साँरग (१)-हरिण । साँरग (२)-कोकिल । सारँग (३)-कामदेव । समधाने-कटाक्ष । सारँग (४)-कमल, भाल । दस-अनेक । सारँग (५)-भ्रमर, घुँघराली अलकों के उपमान । केलि करथि-क्रीड़ा करते हैं । एहन-ऐसा । आने-अन्य

प्रसंग :—नायिका की एक सखी नायिका की अनन्त सौन्दर्य-राशि का वर्णन कृष्ण से परम्परित रूपकातिशयोक्ति शैली में करती है ।

व्याख्या :—हे माधव ! उस सुन्दरी के (अपूर्व) रूप का क्या वर्णन करूँ । विधाता ने कितने ही यत्नों से उसके रूप को सुसज्जित किया है यह मैंने अपने नेत्रों से स्वयं देखा है । भाव यह है कि वह रमणी अद्वितीय सुन्दरी है, ब्रह्मा ने उसकी सौन्दर्य-सज्जा में अपने निर्माण की सारी चातुरी व्यय कर दी है ।

उसके दोनों चरण (अपनी स्निग्ध शोभाशीलता के कारण) कमल की भाँति शोभायमान हैं । उसकी गति (यौवन की अलमस्त मन्थरता में) गजराज हाथी की भाँति भासित होती है । (उस नायिका के अंग-सौष्ठव को देखकर ऐसा लगता है कि मानों) जंघा रूपी स्वर्ण-कदलियों पर सिंह स्वरूप नायिका की क्षीण कटि सुशोभित है और उसके ऊपर सुमेरू पर्वत के समान वक्ष-प्रदेश शोभायमान है । तात्पर्य है कि नायिका की जंघाएँ रक्तिम, स्निग्ध एवं माँसल हैं, कटि कोमल एवं क्षीण है और वक्ष यौवन की स्वर्णाभा से दीप्त है ।

इस सुमेरु पर्वत के ऊपर युग कमल प्रफुल्लित हो रहे हैं जो विना मृणाल के ही शोभा पा रहे हैं अर्थात् उस रमणी के यौवन-स्वर्णिम उन्नत वक्ष-स्थल पर स्निग्ध एवं वर्तुलाकार कुच सुशोभित हैं । (मृणाल हीन कमलों के न सूखने के कारण रूप में कल्पना करते हुए कवि

कहता है कि) वे कमलवत् उरोज मुरझाये हुए नहीं हैं क्योंकि उनके ऊपर मणिमाला गंगा की चंचल धारा के समान तरंगायित है। इस का दूसरा तर्क संगत अर्थ इस प्रकार है "मणि युक्त माला गंगा की प्रवाहमयी धारा के समान है तब भी उरोज-कमल सूखते नहीं।" अर्थात् कमल जल की तेज धारा में सूख जाते हैं, किन्तु नायिका के सौन्दर्य की अद्वितीयता तो यह है कि हार रूपिणी गंगा-धारा में भी (सकुच रूपी) कमल प्रफुल्लित हैं। तात्पर्य यह है कि मणिमय हार-स्पर्शित उरोज अपूर्व शोभा पा रहे हैं।

उस नायिका के अधर बिम्बाफल के समान (स्निग्ध-रक्तिम) हैं, उसकी दन्तावली अनार के दानों के समान (श्वेत, रक्तिम एवं सघन तथा पंक्तिबद्ध) है। (उस नायिका का सौन्दर्य इतना पूर्ण है कि) उसके शरीर में (भाल के मंगल बिन्दु के रूप में) सूर्य एवं (मुख की ज्योत्स्ना धवल आभा के रूप में) चन्द्रमा एक साथ ही—पास-पास उदित हैं। (इन दोनों की समन्वित शक्ति से पराभूत होकर ही केश रूपी) राहु दूर पर ही स्थित है और इनको आग्रसित करने के लिये निकट नहीं आता। भाव यह है कि केश नायिका के मंगलबिन्दु-युक्त मुख की सुन्दर शोभा का हनन नहीं कर रहे हैं, वरन् उनसे उसकी शोभा का वर्धन ही हो रहा है।

उस नारी के नेत्र मृग के समान (चंचल एवं दीर्घ) हैं, वाणी कोकिल के समान (मधुर) है, उसका कटाक्ष कामदेव के धनुष के सन्धान के समान है अर्थात् उसका दृष्टि-संचालन कामोद्दीपक है। उसके मुख कमल के ऊपर अनेकों घुंघराली अलकों के रूप में अनेक भ्रमर उदित हैं जो (मुख रूपी कमल के) मकरन्द का पान करते हुए क्रीड़ा-रत हैं। भाव यह है कि उस नायिका के मुख पर अनेक लटें हिल्लोलित हैं।

विद्यापति कहते हैं (कि सखी कहती है कि) हे कृष्ण ! सुनो, ऐसी सुन्दर युवती इस जगत में अन्य कोई नहीं है। रूपनारायण राजा शिवसिंह रानी लखिमादेई के पति हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. प्रस्तुत पद में विद्यापति ने अपनी काव्य-नारी के निर्माण में प्रकृति-सुन्दरी के श्रेष्ठ उपकरणों का प्रयोग किया है। सूर ने भी इसी शैली में एक पद की रचना की है। उन्होंने नारी के शरीर को एक अद्भुत अनुपम बाग का रूप दिया है। विद्यापति के इस पद की

मौलिकता, एवं कल्पना चारुता को हृदयंगम करने के लिये सूर का यह पद द्रष्टव्य है :—

अद्भुत एक अनूपम बाग ।
जुगल कमल पर गज वर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग ।।
हरि पर सरवर, सर पर गिरवर, गिरि पै फूले कंज पराग ।
रुचिर कपोल बसत ता ऊपर, ताहू पर अमृत फल लाग ।।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव तापर शुक पिक मृग मद काग ।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर एक मनिधर नाग ।।
अंग-अंग प्रति और और छबि उपमा ताको करत न त्याग ।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस मानहु अधरन को बड़ भाग ।।

२. 'पल्लवराज चरन–जुग' में उपमा अलंकार है ।

३. 'गतिराजक भाने' में उपमा अलंकार है ।

४. कनक कदलि······करथि गरासे' में रूपकातिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा दोनों अलंकारों का सन्निवेश है ।

५. 'नाल बिना रुचि पाई' में विभावना अलंकार का सौन्दर्य है ।

६. 'मनिमय········सुखाई' में हेतु तथा काव्यलिंग अलंकार है ।

७. 'अधर·····बिजु' में उपमांलकर है ।

८. 'रवि ससि उगथिक पासे' में रूपकातिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा अलंकार है ।

९. 'राहु दूर···गरासे' में काव्यलिंग अलंकार का प्रयोग है ।

१०. 'सारंग-नयन', 'बयन पुनि सारंग' में रूपक अलंकार है ।

११. सारंग की भिन्न-भिन्न अर्थमयी आवृति में यमक अलंकार है ।

१२. 'एहन जगत नहिं आने' में अनन्वय अलंकार है ।

१३. सम्पूर्ण पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार की चरितार्थता है ।

१४. प्रस्तुत पद में नारी-सौन्दर्य का संश्लिष्ट चित्र अंकित हुआ है।

१५. प्रस्तुत पद विद्यापति की उच्च कोटि की काव्य-प्रतिभा का परिचायक है। अलंकारों की इन्द्र-धनुषी आभा ने नायिका के अनुपम सौन्दर्य की सृष्टि की है।

(३३)

चाँद सार लए मुख घटना करु लोचन चकित चकोरे।
अमिय घोय आँचर धनि पोछलि दह दिसि भेल उँजोरे ॥
कामिनि कोने गढ़ली।
रूप सरूप मोयँ कहइत असँभव लोचन लागि रहली ॥
गुरु नितंब भरे चलए न पारए माझ खानि खीनि निमाई।
भागि जाइत मनसिज धरि राखलि त्रिबलि-लता उरझाई ॥
भनइ विद्यापति अद्भुत कौतुक ई सब बचन सरूपे।
रूपनारायण ई रस जानथि सिवसिंघ मिथिला भूपे ॥

शब्दार्थ :—सार-सार तत्त्व। घटना-रचना। धनि-सुन्दरी। दह दिसि-दसों दिशाएं। उजोरे-उजाला। कोने गढ़ली-किसने गढ़ी है। सरूप-प्रत्यक्ष। मोयँ-मेरे लिये। लागि रहली-लगे रह गये। भरे-भारी, बोझिल। चलए न पारए-चल नहीं पाती। माझ खानि निमाई-मध्य भाग (कटि) को क्षीणता की खान निर्मित किया। जाइत-जाते हुए। त्रिबली-पेट पर पड़ने वाली तीन रेखाएँ। सरूपे-सत्य। जानथि-जानते हैं।

प्रसंग :—सखी कृष्ण से नायिका के प्रतिपल नवनवोन्मेषी सौन्दर्य का वर्णन करती है।

व्याख्या :—(नायिका के ज्योत्स्ना-शुभ्र मुख को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि) चाँद के सार तत्त्व अर्थात् ज्योत्स्ना को लेकर विधाता ने उसके मुख की संरचना की है। उस नायिका के चन्द्रोज्वल मुख को देखकर चन्द्रमा के चिर प्रेमी) चकोर के नेत्र भी चकित हैं। भाव यह है कि चकोर के नेत्र नायिका के मुख-चन्द्र को देखकर इस कारण चकित हैं कि यह दूसरा चन्द्रमा धरती पर कैसे उदित हो गया

और अब इन दोनों समान सुन्दर चन्द्रमाओं में से किसको देखें। उस सुन्दरी ने अपने मुख-चन्द्र को अमृत से धोकर जब अपने आँचल से उसे पोंछा तभी दसों दिशाएं उज्जवल शीतल प्रकाश से आलोकित हो गईं।

ऐसी (ज्योत्स्नारूपिणी) सुन्दर कामिनी को किसने निर्मित किया है ? (क्योंकि ब्रह्मा तो वयोवृद्ध हो गये हैं; इतनी रसमयी सुन्दरी की सृष्टि की उनसे तो आशा नहीं की जा सकती) उसके (स्निग्ध शुभ) रूप का प्रत्यक्ष वर्णन करना मेरे लिये असम्भव है अर्थात् वह वर्णनातीत है। मेरे नेत्र उस के रूप से लगे ही रह गये अर्थात् नेत्र उस सुन्दरी के अपूर्व रूप में अपने चरम सत्य को पाकर उसमें ही पूर्णतया अनुरक्त हो गये। फिर उस सौन्दर्य की कथना कैसे की जावे।

उसके नितम्ब मांसल तथा बोझिल हैं जिनके कारण वह चल नहीं पाती अर्थात् मन्थर गति से चलती है। (विधाता ने उसके) मध्य भाग अर्थात् कटि को क्षीणता की खानि बना दिया है। तात्पर्य यह है कि उसकी कटि अत्यन्त क्षीण है। कामदेव ने इस कारण कि कहीं उस नायिका की प्रतनु क्षीण कटि टूट न जाये उसे त्रिबलीरूपिणी लतिका में (पेट पर पड़ने वाली तीन रेखाओं की वर्तुलाकारिता में) उलझा कर बाँध दिया है।

विद्यापति इस अदभुत कौतुक अर्थात् अलौकिक सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकृत सत्य के रूप में वर्णन करते हैं अर्थात् यह सौन्दर्य आश्चर्यजनक होते हुए भी सत्य है। मिथिला के राजा रूपनारायण शिवसिंह इस (सौन्दर्य) रस के मर्मज्ञ हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'भागि ····उरझाई' का कल्पना-प्रवण अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है "कहीं कामदेव उस सुन्दरी को छोड़ कर अन्यत्र न भाग जाये इसलिए उस कामदेव को त्रिबलीलता के फन्दे में उलझा कर बाँध दिया है।" इस अर्थ का सौन्दर्य त्रिबली के कामोद्दीपक सत्य में निहित है।

२. 'सार लए मुख' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

३. 'चकित चकोर' मे भ्रान्तिमान अलंकार है।

४. चाँद······उँजोरे' में अतिशयोक्ति अलंकार है।

५. 'गुरु नितंब······उरझाई' में काव्यलिंग अलंकार की योजना के साथ उत्प्रेक्षा की व्यंजना हुई है।

६. 'चकित चकोरे', 'दह दिसि', 'कामिनी कोने', तथा 'लोचन लागि' में छेकानुप्रास है।

७. 'अमिय धोंय······उँजोरे' में व्यक्त अर्थ, ऊहा पर आधारित हुए भी विद्यापति की मौलिक कल्पना के सौन्दर्य से मंडित है। विद्यापति की यह सौन्दर्य-मणि नायिका बिहारी की निम्न ज्योतिष-शास्त्रीय नायिका से कहीं श्रेष्ठ एवं चारु है :—

पत्रा ही तिथि पाइए, वा घर के चहुं पास।
नित प्रति पूनों ही रहत आनन-ओप उजास॥

८. 'गुरु······निमाई' पंक्ति विद्यापति की मौलिक प्रतिभा एवं सौन्दर्य-विषयक सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति की परिचायक है।

(३४)

सुधामुखि के विहि निरमल बाला।
अपरुब रूप मनोभव मंगल त्रिभुवन विजयी माला॥
सुन्दर बदन चारु अरु लोचन काजर रंजित भेला।
कनक कमल माँझ काल भुजंगिनि स्रीजुत खंजन खेला॥
नाभि विवर सयँ लोम लतावलि भुजंगि निसास पियासा।
नासा खगपति चंचु भरम-भय कुच-गिरि-संधि निवासा॥
तिन बान मदन तेजल तिन भुवने अवधि रहल दओ बाने।
विधि बड दारुन बधए रसिक जन सोंपल तोहर नयाने॥
भनइ विद्यापति सुन बर जौवति इह रस केओ पए जाने।
राजा सिबसिंघ रूपनरायण लखिमा देई रमाने॥

शब्दार्थ :—सुधामुखि-चन्द्रमुखी। कि-किस। निरमल-निर्मित किया। मनोभव मंगल-कामदेव के कल्याणकारी स्वरूप के समान।

काजर रंजित-कज्जल सुसज्जित। कनक कमल-मुख का उपमान। कालभुजंगिनि-कालसर्पिणी, अंजनरेखा की उपमान। खीजुत-सुन्दर। खंजन-आँख का उपमान। खेला-क्रीड़ा कर रही हो। नाभि-बिबर-नाभि रूपी वामी या छिद्र। सयं-से। लोम लतावलि-पेट की रोमावलि। निसास-निश्वास। कुच-गिरि संधि-युग कुच रूपी पर्वत के बीच में। निवासा-निवास करने लगी। अवधि-अवशिष्ट। दओ-दो। बड़ दारुन-अत्यधिक क्रूर। वधए-वध करने के लिये। सोंपल-सौंप दिये। केओ-कोई।

प्रसंग :—विद्यापति प्रस्तुत पद में कल्पना की अभिनव भूमि पर नायिका के त्रिभुवन विजयी 'अपरुब रूप' की अमित प्रभावशीलता का वर्णन करते हैं।

व्याख्या :—(नायिका के अनुपम सौन्दर्य को देखकर सहज जिज्ञासा से प्रेरित होकर कवि कहता है कि) किस विधाता ने इस चन्द्रमुखी बाला का निर्माण किया है। तात्पर्य यह है कि इस सुन्दरी के रूप-सौन्दर्य के निर्माण में विधाता ने अपने अनुपम रचना-नैपुण्य का प्रयोग किया है। उसका अपूर्व रूप अर्थात् अद्वितीय सौन्दर्य कामदेव के कल्याणपरक स्वरूप के समान त्रिलोक को विजित करने वाली जयमाला के समान है। भाव यह है वह नायिका अपनी अलौकिक शोभाशीलता के कारण, जयमाला की भाँति, अग-जग मोहिनी है।

उसका मुख सुन्दर है और कज्जल-सज्जित उसके नेत्र अत्यन्त मनोरम हैं। उसकी यह रूप-भंगिमा ऐसी प्रतीत होती है कि मानो स्वर्ण कमल (यौवनोदीप्त रक्तिमा-आपूर्ण मुख) के मध्य काली सर्पिणी (कज्जल की बंकिम परिधि) खंजन अर्थात् नेत्र की चपल पुतलियों के साथ क्रीड़ा कर रही हो।

नायिका की सुगन्धित निःश्वास का पान करने के उद्देश्य से रोमावली रूपी भुजंगिनी नाभि की बामी से ऊपर की ओर बढ़ती है परन्तु वह उसकी नुकीली नासिका में गरुड़ की चोंच के भ्रम से भयभीत होकर कुच रूपी पर्वतों के मिलन बिन्दु में निवास करती है। तात्पर्य यह है कि नायिका का वक्षप्रदेश रोमावलि से विहीन मृसणता के सौन्दर्य से मण्डित है। (इस रूपक की नगरी में उत्प्रेक्षा की भूमि पर कल्पना का उत्कृष्ट विकास हुआ है)

(कामदेव पांच वाणों से संसार को वशीभूत करता है) जिनमें

से उसने तीन वाणों को तीनों भुवनों—स्वर्ग, मर्त्य और पाताल, को वशीभूत करने के उद्देश्य से छोड़ दिया है, अब उसके पास दो वाण अवशिष्ट रह गये, अत्यन्त क्रूर विधाता ने वे दोनों वाण, रसिक व्यक्तियों को आहत-व्याहत करने के लिए, तेरे नेत्रों को सौंप दिये हैं। तात्पर्य है कि अपूर्व रूपवती नायिका के कटाक्षों से रसिक जन कामाहत हो जाते हैं।

विद्यापति कहते हैं कि हे श्रेष्ठ सुन्दरी ! सुनो, इस आनन्द को कोई (बिरला) ही जान पाता है। रूपनारायण राजा लखिमादेई के पति हैं अर्थात् वे इस रस को जानते हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'सुधामुखि······माला' में अतिशयोक्ति अलंकार है।

२. 'त्रिभुवन विजयीमाला' में रूपक की व्यंजना है।

५. 'कनक कमल· ···खेला' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

४. 'नाभि··· निवास पियासा' में रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान तथा काव्यलिंग अलंकारों का संयुक्त सौन्दर्य दर्शित होता है।

५. 'मनोभव मंगल', 'कनक कमल', 'खंजन खेला', लोम लतावलि' 'भरम भय' 'तेजल तिन' तथा विधि बड़' में छेकानुप्रास है।

६. जायसी ने भी रूपक के आश्रय से रोमावली का वर्णन किया है;—

"साम भुअंगिनि रोमावली।
नाभी निकसि कंवल कहं चली॥
आइ दुऔ नारंग बिज भई।
देखि मयूर ठमकि रहि गई॥

किन्तु विद्यापति की 'निसास पियासा' की मौलिक कल्पना का चमत्कार इस वर्णन में नहीं मिलता।

(३५)

सजनो, अपरुब पेखल रामा।
कनकलता अबलंब उअल हरिन-हीन हिमधामा॥

नयन नलिनि दुओ अंजन रंजइ, भौंह विभंग विलासा।
चकित चकोर-जोर विधि बाँधल केवल काजर-पासा॥
गिरिबर गरुअ पयोधर-परसित गिम गज मोतिक हारा।
काम कंबु भरि कनक-संभु परि ढारत सुरसरि धारा॥
पएसि पयाग जाग सत जागइ सोइ पावए बड़ भागी।
विद्यापति कह गोकुल नायक गोपी - जन अनुरागी॥

शब्दार्थ :—अपरुब-अपूर्व। पेखल-देखा। रामा-रमणी। कनकलता-यौवन-रक्तिम कोमल शरीर की उपमान। हरिन हीन हिमधामा-निष्कलंक चन्द्रमा, सुन्दर मुख का उपमान। नलिनि-कमलिनी। रंजइ-सुशोभित। विभंग बिलासा-भाव-भंगिमा। चकित चकोर जोर-चकित हुए युगल चकोर, नयनों के उपमान। गिरिबर गरुअ-पर्वत के समान। पयोधर-उरोज। परसित-स्पर्शित करती हुई। ग्रिम-ग्रीवा, गर्दन। गजमोतिक हारा-गजमौक्तिक माला। कंबु-शंख। कनक-संभु-स्वर्ण-शिव। पएसि पयाग-प्रयाग में जाकर। जाग सत जागइ-सौ यज्ञ करे।

प्रसंग :—एक सखी अपनी दूसरी सखी से नायिका के अपूर्व रूप का काव्योपयुक्त भाषा में वर्णन करती है।

व्याख्या :—हे सखी ! मैंने अपूर्व सुन्दर रमणी के दर्शन किए हैं। उसकी यौवन-रक्तिम कोमल देह-यष्टि पर सुशोभित ज्योत्स्ना-धवल मुख को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो स्वर्ण-लतिका के सहारे निष्कलंक चन्द्रमा उदित हो गया हो। तात्पर्य यह है कि नायिका का मुख चन्द्रमा से भी बढ़ कर सुन्दर है।

उस रमणी के कमलिनी के सदृश युगल नयन कज्जल-सज्जित हैं और भौंह भाव-भंगिमा पूर्ण हैं अर्थात् वह नायिका भ्रू-संचालन में अत्यन्त प्रवीण है। उसके काजल-रंजित नेत्रों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि विधाता ने मुख रूपी निष्कलंक चन्द्रमा को देखकर चकित हुए युगल नेत्र रूपी चकोरों के जोड़े को काजल के पाश (फन्दे) में आबद्ध कर दिया हो।

उसके पर्वत के समान उत्तुंग उरोजों का स्पर्श करती हुई गले में गजमौक्तिक माला लटक रही है। उस दृश्य को देखकर ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो कामदेव ग्रीवा रूपी शँख में गंगाजल की धारा

भर कर यौवन-रक्तिम कुच रूपी स्वर्ण-शिव के ऊपर ढार रहा हो। तात्पर्य यह है कि शृंगार का सर्वोच्च अधिदेव काम भी उस नायिका के पुष्ट कुचों के सौन्दर्य के प्रति आराधना रत है।

ऐसी अपूर्व सौन्दर्य-मणि रमणी को वही भाग्यशाली प्राप्त कर सकता है जो (तीर्थ-शिरोमणि) प्रयाग राज में जाकर सौ यज्ञ करे। भाव यह है अमित-पुण्य-साधना के उपरान्त ही ऐसी रूप-मणि रमणी प्राप्त होती है। विद्यापति कहते हैं कि गोकुल के नायक श्रीकृष्ण गोपिकाओं को प्रेम करने वाले हैं।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'कनक लता······हिमधामा' रूपकातिशयोक्ति अलंकार का सौन्दर्य है।

२, 'चकित······पासा' में रूपकातिशयोक्ति एवं उत्प्रेक्षा अलंकार का समन्वित सौन्दर्य दर्शित होता है।

३. 'गिरिवर गरुअ पयोधर' में रूपक अलंकार है।

४. 'काम······धारा' में अत्यन्त मौलिक उत्प्रेक्षा की छटा है। उत्प्रेक्षा की सहायता से कवि ने शृंगार रस में भक्ति की आराधना का चमत्कारपूर्ण विधान किया है।

५. 'चकित······हारा' की दो पँक्तियों में शब्द मैत्री वर्ण मैत्री तथा अनुप्रास के त्रिवेणी सँगम के कारण संगीत-माधुर्य की सृष्टि हुई है।

६. 'नयन······विलासा' में बिम्ब ग्रहण है।

७. 'पएसि······बहुभागी' में विद्यापति ने 'सुन्दरम्' के साथ 'शिवम्' का सन्निवेश भी किया है। ऐसी पंक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि विद्यापति उच्छृंखल सौन्दर्य के स्थान पर 'शिवम् सुन्दरम्' के उपासक थे।

(३६)

कनक लता अरबिंदा। दमना माँझ उगल जनि चंदा।।
केहु कहै सैबल छपला। केहु बोले नहि नहि मेघे झपला।।
केहु कहैं भमए भमरा। केहु बोले नहि नहि चरए चकोरा।।
संसय परल सब देखी। केहु बोलए ताहि जुगति विसेखी।।
भनइ विद्यापति गावे। बड़ पुन गुनमति पुनमत पावे।।

शब्दार्थ :—दमना-द्रोणलता माँझ-मध्य में । जनि-मानो । केहु कहै - कोई कहता है । सैबल-शैवाल, काई । छपला-छिपा हुआ । झपला-ढका हुआ । भमए-भ्रमण करता है । चरए-चर रहा है । संसय परल-भ्रम में पड़ जाते हैं । जुगति बिसेखी-विशेषयुक्ति के साथ । पुन-पुण्य । पुनमत-पुण्यवान ।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में विद्यापति ने अपूर्व सुन्दरी नायिका के अवर्णनीय मुख-मण्डल के सौन्दर्य की चमत्कृतिपूर्ण चित्रणा की है ।

व्याख्या :—नायिका की यौवन-रक्तिम कोमल देह-यष्टि पर स्निग्ध-कान्त मुख की शोभा ऐसी प्रतीत होती है कि मानो कनक वल्लरी पर कमल का पुष्प विकसित हो। [श्यामल चिकुर-राशि के परिवेश में उसका मुख ऐसा प्रतीत होता है कि मानो द्रोणलता (श्यामल वर्णी लतिका) के मध्य में चन्द्रमा उदित हो गया हो। [केशों से घिरे हुए इस मुख को लोग भिन्न-भिन्न उपमानों से उपमित करते हैं] कोई कहता है कि उस सुन्दरी का मुख उन केशों के मध्य ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो कमल शैबाल-जाल (काई की तैरती परत) में छिप गया हो । कोई कहता नहीं-नहीं चन्द्रमा मेघों से ढंका हुआ है । तात्पर्य यह है कि उस सुन्दरी की केश-राशि से घिरे मुख की इतनी अलौकिक शोभा है कि उसके सादृश्य में कोई भी उपमान स्थिर नहीं हो पाता है ।

उस रमणी के कटाक्षपूर्ण नेत्रों को देखकर कोई कहता है कि वे(क्षण इधर क्षण उधर)भ्रमण करने वाले भ्रमर हैं (जो मुख रूपी कमल पर रस-पान हेतु भंवरा रहे हैं) तब कोई अन्य इस उपमा से असन्तुष्ट होकर कह उठता है नहीं-नहीं (ये नेत्र भ्रमर की नाईं नहीं हैं वरन्) ये दाना चुगने वाले चकोर हैं । भाव यह है कि कमल-मुख के प्रसंग में नेत्र भ्रमर के समान लगते हैं और चन्द्र-मुख के प्रसंग में चकोर के समान ।

उस सुन्दरी के चिकुर-राशि से घिरे मुख एवं नेत्रों की अनुपम सुन्दरता तथा चंचलता को देखकर सब लोग—कविगण आदि भ्रम में पड़ जाते हैं अर्थात् उसके सौन्दर्य के लिये उपयुक्त उपमान का निर्णय नहीं कर पाते, कोई बिरला व्यक्ति ही विशेष युक्ति के साथ अर्थात् अभिव्यक्ति की कलात्मक भंगिमा के द्वारा उस सौन्दर्य को वर्णित कर सकता है ।भाव यह है कि उस रमणी के मुख के अपूर्व सौन्दर्य को कविगण अनेकानेक नवीन चित्रात्मक कल्पनाओं के माध्यम से व्यक्त करते हैं ।

विद्यापति गाकर कहते हैं कि उस गुणवन्ती रमणी को बड़े पुण्य-प्रताप को अर्जित करने के उपरान्त ही कोई पुण्यशाली पुरुष प्राप्त कर सकता है अथवा बड़े पुण्यों से ही कोई पुरुष ऐसी गुणवन्ती तथा पुण्यवन्ती सुन्दरी को प्राप्त करता है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'कनकलता अरविन्दा' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

२. 'दमना······चन्दा।' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

३. 'केहु कहै······चकोरा' में उल्लेखालंकार है।

४. 'संसय······देखी' में सन्देह अलंकार है।

५. विद्यापति के इस सौन्दर्य-चित्रण में 'क्षणे क्षणे यन्वतामुपैति' की चरितार्थता मिलती है जिसके कारण प्रस्तुत सौन्दर्य-चित्रण में गतिशीलता के परिदर्शन होते हैं।

(३७)

कबरी भय चामरि गिरि कंदर, मुख-भय चाँद अकासे।
हरिन नयन भय, सर भय कोकिल, गति भय गज बनवासे॥
सुन्दरि, किए मोहि संभासि न जासि।
तुव डर इह सब दूर पलायल तुहुँ पुनि काहे डरासि॥
कुच-भय कमल कोरक जल मुंदि रहु, घट परबेस हुतासे।
दाड़िम सिरफल गगन बासु करु, संभु गरल कर ग्रासे॥
भुज भय पंक मृनाल नुकायल, कर-भय किसलय काँपे।
कबि-सेखर मन कत कत ऐसन कहब मदन परतापे॥

शब्दार्थ ;—कबरी-वेणी, चोटी। चामरि-चंवर वाली गाय। कन्दर-गुफा। सर-स्वर। किए-क्यों। संभासि-संभाषण करना, वार्तालाप करना। जासि-जाती है। पलायल-पलायन कर गये, है भाग गये हैं। काहि डरासि-किससे भय खाती हो। कमल कोरक-कमल की कली। मुंदि रहि—छिप रहती है। घट परवेश हुतासे-घड़े अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं। सिरफल-श्रीफल, वेल। गरल करु ग्रासे-विषपान

कर लिया। पंक-कीचड़। मृनाल-मृणाल, कमल नाल। नुकायल-छिप गये। कत ऐसन-ऐसा कौन है।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में जिस नारी-सौन्दर्य का चित्रांकन हुआ है उसके समक्ष प्रकृति-सौन्दर्य अत्यन्त नगण्य दीखता है। विद्यापति इस नायिका के विविध अंग-प्रत्यंगों के सौन्दर्य के सामने प्रकृति के समस्त सौन्दर्यपरक उपमानों की हेयता का वर्णन करते हैं।

व्याख्या :—(प्रेमी अपनी नायिका के सौन्दर्य से भावाभिभूत होकर उससे प्रशस्तिपूर्ण स्वरों में कहता है कि अयि, सुन्दरी ! तुम्हारी) वेणी (की गुच्छ-गुच्छ केश-राशि) से विलज्जित होकर चंवर गाय पर्वत की गुफा में जा कर छिप गई, तुम्हारे मुख की निष्कलंक धवलिमा से लज्जित होकर चन्द्रमा (पृथ्वी का त्याग कर) आकाशवासी हो गया (तुम्हारे दीर्घ चपल) नेत्रों के भय से हिरन, स्वरों (की मधुरता) से भयभीत होकर कोकिला तथा (अलमस्त और मन्थर) गति—चाल के भय से हाथी वनों में अधिवास करने लगे हैं। तात्पर्य यह है कि नायिका के सौन्दर्य की अभिनव अद्वितीयता के सम्मुख प्रकृति के श्रेष्ठतम सौन्दर्योपमान ठहर नहीं पाते।

हे सुन्दरी ! मुझसे संभाषण क्यों नहीं कर जातीं। तुम्हारे (अंग-प्रत्यंग की सुन्दरता के) भय से ये सब (प्रकृति के सौन्दर्योपमान) दूर पलायन कर गये हैं फिर तुम किससे भय खाती हो। भाव यह है कि जब तुम सौन्दर्य के क्षेत्र में त्रिभुवन विजयिनी हो तब फिर किससे भयभीत होकर तुम मुझसे संभाषण नहीं करतीं।

हे सुन्दरी ! तुम्हारे कुचों (की कोमल गुलाई) से भयभीत होकर कमल की कली जल में जा छिपी है और तुम्हारे पयोधरों की वर्तुलाकार मांसल सुघड़ता को देखकर (आत्महत्या के उद्देश्य से) घड़ों ने अग्नि में प्रवेश कर लिया (घड़े आग में पकाये जाते हैं।) इसके अतिरिक्त तुम्हारे कुचों की पुष्ट गोलाई से भयभीत (लज्जित) होकर अनार के फल, और बेल (धरती को छोड़कर) गगन में निवास करने लगे अर्थात् वृक्षों पर रहने लगे और शिव ने विष-पान ही कर लिया। तात्पर्य यह है कि नायिका के मांसल तथा रक्तिम वर्तुल पयोधरों के सम्मुख कुचों के परम्परित उपमान लज्जित हैं। उसके पयोधर अतीव सुषमाशाली हैं।

तुम्हारी सुचिक्कण, सुडौल और गोल भुजाओं से लजाकर मृणाल (कमल नाल) कीचड़ में तिरोहित हो गई और तुम्हारी स्निग्ध,

रक्तिम हथेलियों से भयभीत होकर किसलय (नये पत्ते) प्रकंपित होने लगे। भाव यह है कि प्रकृति-सुन्दरी से विद्यापति की यह काव्य-सुन्दरी सर्वांग सुन्दर है। कविशेखर विद्यापति कहते हैं कि मैं कामदेव की महिमा का कितना-कितना वर्णन करूं अर्थात् यह कामदेव का ही प्रताप है जो कि नायिका इतनी सौन्दर्यशालिनी हो गई है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'भय·········कन्दर' में हेतुत्प्रेक्षा अलंकार है।

२. 'हरिन······बनवासे' में दीपक अलंकार का सौन्दर्य है।

३. सम्पूर्ण पद में प्रतीप अलंकार की व्याप्ति है।

४. विद्यापति ने इस पद में अपनी अभिनव कल्पना के संस्पर्श के द्वारा परम्परागत उपमानों का नवीकरण कर अपूर्व रूप की सृष्टि की है।

५. विद्यापति के इस पद की समकोटि का कवि उदयनाथ कृत वर्णन भी दृष्टव्य है:—

तिय तन अरूण दिनेश उदयो है आनि
साँझ शिशुताई के तिमिर सब भागे हैं।
फैलि रही अम्बर में चहुँ ओर अरूणाई
फूले नैन कंज मकरन्द रस पागे हैं॥
उदैनाथ कन्त के मनोरथ हूं पथै चले
चित चतुराई तजि आरसकों जागे हैं।
रूप के सरोवर में नाह-नैन न्हान लागे
सौतिन के मान तेऊ दान होन लागे हैं॥

(३८)

जुगल सैल सिम हिमकर देखल, एक कमल दुइ जोति रे।
फुललि मधुरि फुल सिंदुर लोटाएल पाति बइसलि गजमोति रे॥
आज देखल जतके पतिआएत अपरुब बिहि निरमान रे।
बिपरति कनक कदलि तर सोभित थल पंकज के रूप रे॥
तथहुँ मनोहर बाजन बाजए जनि जागे मनसिज भूप रे।

भनइ विद्यापति पूरब पुन तह ऐसनि भजए रसमंत रे ॥
बूझल सकल रस नृप सिवसिंघ लखिमादेइ कर कंत रे ।

शब्दार्थ:—जुगल सैल-दो पर्वत, कुचों के उपमान । सिम-सीमा पर । हिमकर-चन्द्रमा, मुख का उपमान । कमल-मुख का उपमान । दुइ जोति-दो प्रकाश, दो पंखुड़ियां (आँखों की उपमान) फूललि मधुरि फुल-विकसित (रक्त वर्णी) मधुरी का फूल । लोटाएल-लोटता है । बइसलि-बैठी थी । देखल जतके पतिआएत-जैसा देखा गया, उसका कौन विश्वास करेगा । बिहि-ब्रह्मा । निरमान-निर्माण । बिपरित-उलटा, विपरीत । कनक कदलि-सोने के केले के खंभ, जंघा का उपमान । तर-नीचे । थल पंकज-स्थल कमल, पैर का उपमान । तथहुँ-वहां भी । मनसिज-कामदेव । पूरब पुन-पूर्व जन्म के पुण्य । ऐसनि-ऐसी । रसमंत-रसज्ञ ।

प्रसंग :—विद्यापति ने प्रस्तुत पद में नायिका के अपूर्व सौन्दर्य को रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से वर्णित किया है ।

व्याख्या :—मैंने दो पर्वतों की सीमा में चन्द्रमा को देखा है अर्थात् उस नायिका के पर्वत जैसे उन्नत कुचों के मध्य में चन्द्रमा जैसा धवल मुख स्थित है । उसी स्थल पर एक कमल में दो ज्योतियाँ या पंखुड़ियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं । भाव यह है कि उसका मुख कमल जैसा प्रीतिकर है और नेत्र पंखुड़ियों जैसे स्निग्ध और चंचल हैं । वहीं पर एक मधुरी का पुष्प विकसित था जिस पर सिन्दूर लोट रहा है अर्थात् मधुरी के पुष्प सा उसके रक्तिम भाल पर सिन्दूर का टीका शोभायमान है और गजमुक्ताओं की पंक्ति बैठी है अर्थात् उसकी दीप्त दन्तावली गजमुक्ताओं की भाँति सुसज्जित है । (इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है:—उस सुन्दरी के अधर मधुरी के पुष्प की भांति पुष्पित तथा सिन्दूर के सदृश रक्तिम थे और उसके मध्य उसकी दन्तावली ऐसी प्रतीत हो रही थी कि मानों गजमुक्ताओं की पंक्ति सुसज्जित हो)

आज मैंने जितने अद्वितीय सौन्दर्य को देखा है उस पर कौन विश्वास करेगा वह सुन्दरी तो विधाता की अपूर्व सृष्टि थी । भाव यह है कि नायिका का रूप अवर्णनीय है और वह संसार के यथार्थ एवं दृश्य सौन्दर्य से इतना महत्तर है कि सुनने वाले उसके अस्तित्व पर

विश्वास भी नहीं करेंगे। अब कवि उस सुन्दरी के अपूर्व रूप सौन्दर्य कामनोरम चित्रण करता हुआ कहता है कि उल्टे सोने की कदली के स्तम्भ के नीचे अर्थात् यौवन रक्तिम मांसल जंघाओं के नीचे स्थल कमलों के रूप में कोमल चरण सुशोभित हो रहे थे और फिर वहां— कोमल चरणों में नूपुरों की रुनन्–झुनन् के मधुर स्वर गुंजरित थे जिसके कारण ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो राजा कामदेव को जगाने के उद्देश्य से मनोरम बाजे बजाये जा रहे हों। तात्पर्य यह है कि उस सुन्दरी के नुपूरों की मधुर मादक ध्वनि कामोद्दीपक थी।

विद्यापति कहते हैं कि पूर्व जन्म के पुण्यों से ही रसज्ञ मनुष्य ऐसी परम सुन्दरी रमणी को भज सकता है अर्थात् प्राप्त कर सकता है अथवा विद्यापति कहते हैं कि उसका यह पूर्व जन्म का ही पुण्य है जिसके कि कारण वह ऐसी रसमंती रमणी को भजता या स्मरण करता है। लखिमादेइ को पति राजा शिवसिंह इस सम्पूर्ण रस को जानते हैं अर्थात् वे सौन्दर्य रस में पारंगत हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'जुगल........गज मोति रे' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

२. 'बिपरीत······भूप रे' में रूपकातिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा का संकर है।

३. 'बिपरित कनक-कदलि तर सोभित' में विद्यापति की कल्पना की मौलिकता तथा चमत्कारपूर्णता के दर्शन होते हैं। केली का स्तम्भ ऊपर पतला और नीचे मोटा होता है और सुन्दरी की जंघा ऊपर से मोटी और नीचे पतली होती है, अतएव उसे विपरीत केली से उपमित किया गया है। चूंकि जंघाएं यौवन-रक्तिम हैं इसीलिए 'विपरीत कनक कदलि' की कल्पना कवि ने की है।

४. विद्यापति की जंघा के वर्णन की तुलना में एक संस्कृत कवि का निम्न वर्णन द्रष्टव्य है:—

"कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रियेऽपि विभर्ति तुलमिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः ॥

(३९)

जाइत पेखलि पथ नागरि सजनि गे, आगरि सुबुधि सेआनि ।
कनकलता सनि सुन्दर सजनि गे, बिहि निरमाओल आनि ॥
हस्तिगमन जंका चलइत सजनि गे, देखइत राजकुमारि ।
जनिकर एहनि सोहागिनि सजनि गे, पाओल पदारथ चारि ॥
नीलवसन तन घेरलि सजनि गे, सिरदेल चिकुर समारि ।
तापर भमरा पिबए रस सजनि गे, बइसल पंख पसारि ॥
केहरि सम कटि गुन अछि सजनि गे, लोचन अंबुज धारि ।
विद्यापति कवि गाओल सजनि गे, गुन पाओल अवधारि ॥

शब्दार्थ:—जाइत-जाते हुए । नागरि-चतुरा । आगरि-अग्रगण्या । सेयानि-सयानी । सनि-समान । निरमाओल-निर्मित किया । आनि-लाकर । जंका-समान । जनिकर-जिसकी । एहनि-ऐसी । पदारथ चारि-चारों पदार्थ—अर्थ, धर्म, काम, और मोक्ष । चिकुर-केश । समारि-सँवारना । तापर-उस पर । भमरा-भ्रमर । बइसलि-बैठा हुआ । पसारि-फैलाकर । केहरि-सिंह । अछि-है । अंबुज-कमल । अवधारि-निश्चय ।

प्रसंग :—एक सखी ने नायिका को मार्ग में जाते हुए देखा । उसके अपूर्व रूप से व्यामोहित होकर वह अपनी सखी से नायिका के सौन्दर्य का संश्लिष्ट चित्रण करती है ।

व्याख्या :—हे सखी ! मैंने मार्ग में जाते हुये उस चतुरा सुन्दरी को देखा, वह सयानी, बुद्धिमती नारियों में अग्रगण्या है अथवा वह सुबुद्धि और चतुरता की आगार है। विधाता ने उस सुन्दरी को स्वर्ण-लतिका के समान (शोभाशालिनी) बनाया है ।

वह हाथी की गति के समान (मस्ती तथा मन्थरता के साथ) चलती है और हे सखि, (शालीनता और सौन्दर्य की दृष्टि से वह) देखने में राजकुमारी जैसी प्रतीत होती है । हे सखी ! जिस व्यक्ति को ऐसी (सौन्दर्य-मणि) सौभाग्यवती नारी प्राप्त हो जाती है, उसे मानो चारों पदार्थ—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सुलभ हो जाते हैं अर्थात् उसको जीवन की समस्त महत्तर उपलब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं ।

हे सखी ! उसने अपने शरीर को नीले वस्त्र से परिधानित कर रखा है अर्थात् वह श्वेतांग सुन्दरी नीली साड़ी पहने हुए है, और सिर पर (जूड़े के रूप में) केशराशि को सँवारे हुए है। उसके ऊपर माथे पर कुटिल अलकों के रूप में भ्रमर (मुख-कमल पर) अपने पंखों को फैलाकर बैठकर रस पान कर रहा है।

उस सुन्दरी की कटि गुण में सिंह के समान है अर्थात् उसकी कटि सिंह की भाँति अत्यन्त क्षीण और आकर्षक है और उसके नेत्रों को (स्वच्छता और स्निग्धता की दृष्टि से) कमलों के समान ही समझना चाहिए। कवि विद्यापति कहते हैं कि अयि सजनी ! ऐसी सुन्दर रमणी में निश्चय ही उपरोक्त सारे गुण विद्यमान हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'कनकलता सनि सुन्दर', 'हस्तिगमन जंका चलइत' तथा 'केहरि सम कटि गुन अछि' में उपमा अलंकार है।

२. 'तापर·················· पसारि' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

३. 'सनि सुन्दर सजनि' में वृत्यानुप्रास और 'पेखलि पथ', 'सुबुद्धि सेआनि', 'सोहागिनि सजनि' 'पाओल पदारथ' तथा 'पंख पसारि' में छेकानुप्रास का सौन्दर्य है।

४. 'तापर·········पसारि' पंक्ति का दूसरा अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है:—'नेत्र रूपी भ्रमर भौंह रूपी पंखों को फैलाकर बैठकर कर मुख-कमल का रसास्वादन कर रहे हैं।

(४०)

चिकुर-निकर तम-सम पुनु आनन पुनिम ससी।
नयन पंकज के पतिआओत एक ठाम रहु बसी ॥
आज मोयँ देखलि बारा।
लुवुध मानस, चालक मयन कर की परकारा ॥
सहज सुन्दर गोर कलेवर पीन पयोधर सिरी।
कनकलता अति बिपरति फरल जुगल गिरी ॥
भन विद्यापति बिहिक घटन केउ न अद्भुत जान।
राय सिबसिंघ रूपनरायन लखिमादेइ रमान ॥*

*परीक्षा की दृष्टि से यह पद आवश्यक नहीं है।

शब्दार्थ:—चिकुर निकर-केश राशि । पुनु-पुन: । पुनिम-पूर्णिमा । ठाम-स्थान । मोयँ-मैंने । बारा-बाला, सुन्दरी । लुबुध-व्यामोहित । चालक-प्रेरक । मदन-कामदेव । परकारा-प्रकार । पीन पयोधर-पुष्ट कुच । सिरी-श्री, शोभा । फरल-फला हो । घटन-घटना, सृष्टि ।

प्रसंग—विद्यापति ने प्रस्तुत पद में नायिका के अपूर्व सौंदर्य का चमत्कार पूर्ण वर्णन किया है ।

व्याख्या :—(उस सुन्दरी की) केशराशि अन्धकार के समान (सघन श्यामल) है और उसका (ज्योत्स्ना-धवल) मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति है । उसके नेत्र कमल की भाँति सुन्दर हैं, इस बात पर कौन विश्वास करेगा कि अन्धकार, पूर्णचन्द्र एवं कमल एक स्थान पर अधिवास करते हैं । तात्पर्य यह है कि ये तीनों ही परस्पर विरोधी सौन्दर्यपरक पदार्थ हैं । इनका एक स्थल पर एकत्रीकरण असम्भव है किन्तु ये तीनों ही अपने विरोध को भूल कर, इस नायिका की शृंगार-सज्जा करते हैं । अर्थात् उसके केशों को अन्धकार ने श्यामलता, उसके मुख को पूर्णिमा के चन्द्र ने दीप्त धवलिमा तथा उसके नेत्रों को पंकज ने स्वच्छता, सुन्दरता एवं स्निग्धता प्रदान की है ।

आज मैंने (उस ऐसी) अपूर्व सुन्दरी के दर्शन किये । उसके दर्शन करते ही कामदेव की प्रेरणा ने मेरे व्यामोहित मन को न जाने किस प्रकार का कर दिया अर्थात् मैं अपनी सम्पूर्ण चेतना से उस सुन्दरी के प्रति व्यग्र हो उठा ।

उसके स्वाभाविक रूप से सुन्दर गौर-वर्णी शरीर पर शोभा युक्त पुष्ट कुच ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानो स्वाभाविकता के विपरीत स्वर्ण-वल्लरी अर्थात् यौवन-रक्तिम कोमल-देह पर दो पर्वतों अर्थात् पर्वत की भाँति उन्नत पुष्ट युगल कुचों के फल लग आये हों । भाव यह है कि स्वाभाविक रूप से पर्वत पर लतिका व्युत्पन्न होती है । यहाँ विपरीतता यह है कि लतिका पर एक नहीं वरन् दो पर्वत उग आये हैं । (लेकिन यह लतिका और पर्वत दोनों ही अग-जग मोहक हैं ।)

विद्यापति कहते हैं कि (यह सुन्दरी) विधाता की अद्भुत सृष्टि है, इसे कौन नहीं जानता अर्थात् इस सुन्दरी की सर्वश्रेष्ठता को हर कोई स्वीकार करता है । रूपनारायण राजा शिव सिंह लखिमादेई के पति हैं ।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'चिकुर..............ससी' में धर्मलुप्तोपमा अलंकार है।

२. 'नयन-पंकज' में रूपकालंकार है।

३. 'चिकुर ....बसी' में विषम अलंकार की व्याप्ति है।

४. 'सहज...............गिरी' में उत्प्रेक्षा, विषम तथा सन्देह अलंकार का संकर है।

५. 'सहज सुन्दर' तथा 'पीन पयोधर' में छेकानुप्रास है।

६. प्रस्तुत पद में विद्यापति की कल्पना की अत्यन्त भव्य तथा उच्च उड़ान के परिदर्शन होते हैं। विद्यापति ने अपनी इस काव्य सुन्दरी के सौन्दर्य-चित्रण में अन्धकार (चिकुर निकर) पूर्णिमा का चन्द्र (आनन) तथा पंकज (नयन) की परस्पर विपरीतता का समाहार कर अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है।

॥ कृष्ण का रूप ॥

(४१)

कि कहब हे सखि कानुक रूप। के पतिआएत सपन सरूप ॥
अभिनव जलधर सुन्दर देह। पीत बसन पर दामिनि रेह ॥
सामर झामर कुटिलहिं केस। काजर साजल मदन सुवेस ॥
जातकि केतकि कुसुम सुबास। फुलसर मनमथ तेजल तरास ॥
विद्यापति कि कहब आर। सून करल बिहि मदन भंडार ॥

शब्दार्थ:—कि कहब-कैसे कहूँ। कानुक रूप-कृष्ण का सौन्दर्य। के पतिआएत-कौन विश्वास करेगा। अभिनव जलधर-नवीन जलद। दामिनि रेह-विद्युत रेखा। सामर झामर कुटिलहिं केस-श्यामल लहराते हुए घुंघराले केश। साजल-सुसज्जित। फुलसा-पुष्प-बाण। तेजल-त्याग दिया। तरास-भय।

प्रसंग:—नायिका की सखी ने कृष्ण के स्वप्निल सौन्दर्य के

दर्शन किये और अपनी सखी (नायिका) के पास जाकर उस रूप का अत्यन्त मधुमयी भाषा में वर्णन करती है।

व्याख्या:—हे सखि ! कृष्ण के (अलौकिक) रूप सौन्दर्य का क्या वर्णन करूं. उसके कल्पनातीत स्वप्निल सौन्दर्य का यदि जिस तिस प्रकार वर्णन भी करूंगी तो उस पर कौन विश्वास करेगा। अर्थात् उसकी सुन्दरता सांसारिक सौन्दर्योपमानों से कहीं महत्तर है, इसी कारण उस महत्तर सौन्दर्य-राशि के अस्तित्व का किसी को विश्वास नहीं होगा। कृष्ण का शरीर नवीन जलद (की श्यामल तरल कान्ति) के समान है. उस पर पड़ा हुआ पीताम्बर (जलद में प्रतिभासित) विद्युत-रेखा की भाँति सुशोभित हो रहा है।

उसके श्यामल लहराते हुए घुंघराले केश हैं और उसके (नयन) काजल-सुसज्जित हैं। इस रूप-भंगिमा में कृष्ण सुन्दर वेश में शोभायमान कामदेव के समान प्रतीत हो रहे हैं। (अथवा श्याम रंग में झूमते हुए घुंघराले केश ऐसे प्रतीत होते हैं कि मानो कामदेव सुसज्जित होकर काजल लगाये हुए है—श्री मुरारीलाल उप्रैतिः)

(यौवन की गन्ध के कारण) उस नायिका का शरीर जातकी और केतकी के पुष्पों की भाँति सुगन्धित है, (उस नायिका के यौवन-सुवासित सौन्दर्य से) भयभीत होकर कामदेव ने अपने कुसुम-बाण का परित्याग कर दिया। भाव यह है उस अपूर्व सुन्दरी के सौन्दर्य के समक्ष कामदेव भी लज्जित और प्रभावहीन हो गया है।

विद्यापति कहते हैं कि मैं और क्या वर्णन करूं ? उस सुन्दरी के निर्माण में विधाता ने कामदेव का समस्त भंडार खाली कर दिया अर्थात् ब्रह्मा ने सौन्दर्य के चरम प्रतिष्ठान कामदेव के भंडार की सम्पूर्ण सौन्दर्य-राशि कृष्ण के सौन्दर्य-निर्माण में समाप्त कर दी है। भाव यह है कि कृष्ण कामदेव से भी अधिक कामोद्दीपक सौन्दर्य-सम्पन्न हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'अभिनव........देह' में उपमालंकार है।

२. 'पीत······रेह' में अतिशयोक्ति अलंकार हैं।

३. 'सामर·········सुवेश' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

४. 'सपन सरूप', 'कुटिलहि केस', 'केतकि कुसुम' तथा 'तेजल तरास' में छेकानुप्रास की छटा है।

सद्यः स्नाता

(४२)

कामिनि करए सनाने । हेरतहि हृदय हनए पँचबाने ॥
चिकुर गरए जलधारा । जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा ॥
कुच जुग चारु चकेबा । निज कुल आनि मिलअ कौन देवा ॥
ते संका भुज पासे । बाँधि धएल उड़ि जाएत आकासे ॥
तितल बसन तन लागू । मुनिहु क मानस मनमथ जागू ॥
भनइ विद्यापति गावे । गुनमति धनि पुनमत जन पावे ॥

शब्दार्थ :—सनाने-स्नान । हेरतहि-देखते ही । हनए-आहत करती है । चिकुर-केश । जनि-मानो । रोअए-रोता है । चारु-सुन्दर । चकेबा-चक्रवाक । मिलिअ-मिलने को । आनि कौन देवा - कौन (वापिस) ला देगा । तितल-भीगा । मानस-हृदय । मनमथ-मन को मथने वाला कामदेव । धनि-रमणी । जन-पुरुष ।

प्रसंग :—विद्यापति ने नारी-सौन्दर्य का बहुरंगी चित्रांकन किया है । तुरन्त नहाई हुई नारी का सौन्दर्य अत्यन्त, कामोद्दीपक, स्वच्छ एवं तरल होता है । प्रस्तुत पद में अंकित आर्द्र सौन्दर्य-सम्पन्न रमणी की यह प्रतिमा अलौकिक, अद्वितीय एवं अनूठी है—वह रूप की छलकती स्वर्णिम गगरी है ।

व्याख्या :—कामिनी स्नान कर रही है, उसके आर्द्र सौन्दर्य को देखते ही हृदय कामदेव के पाँचों बाणों से आहत-व्याहत हो गया । उसके केशों से जल-धारा निर्झरित हो रही है, जिसे देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसके मुख रूपी चन्द्रमा की शोभा श्री से भयभीत होकर अन्धकार अश्रु-निर्झरण कर रहा हो ।

उसके दोनों कुच चक्रवाक युगल की भाँति सुन्दर हैं, जो अपने कुल—अर्थात् आकाश-बिहारी चक्रवाकों में उड़ कर मिलने के लिये समुत्सुक हैं । यदि कहीं ये कुच आकाश में उड़ गये तो फिर इन्हें कौन वापिस लायेगा । इसी शंका से उसने अपनी भुजाओं की पाश में इन्हें आबद्ध कर लिया है । भाव यह है कि नहाने के उपरान्त कुचों को उस रमणी ने सहज लज्जा के कारण अपनी सिमटी हुई बाहों में छिपा लिया है । गीला वस्त्र उसके शरीर से चिपट गया है, जिसके कारण उसकी

सम्पूर्ण देह-यष्टि अपनी लावण्यमयी सुचिक्कणता एवं उत्तेजक उभार के साथ प्रतिभासित होने लगती है। उसको इस रूप में देखकर मुनियों के मन में भी कामदेव जाग्रत हो जाता है अर्थात् उनका मन काम–भावना से उन्मथित हो जाता है। (फिर भला विद्यापति का हृदय उसे देखते ही पंच वाणों से क्यों नहीं हनता)

विद्यापति गाते हुए कहते हैं कि गुणवन्ती रमणी को पुण्यवान पुरुष ही प्राप्त कर पाता है। अर्थात् पुण्यों के प्रतिफलन-स्वरूप ही ऐसी आर्द्रोत्तेजक सौन्दर्य-सम्पन्ना सद्यः स्नाता का दर्शन होता है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'हेरतहि······पंचबाने' में चपलातिशयोक्ति अलंकार है।

२. 'चिकुर······अंधारा' में उत्प्रेक्षा अलंकार का सौन्दर्य परिदर्शित होता है।

३. 'मुख-ससि' में रूपक है।

४. 'कुच······आकासे' में हेतु और रूपक का संकर है।

५. 'बाँध······आकासे' में काव्यलिंग अलंकार का प्रकर्ष है।

६. 'हेरतहि हृदय हनए' में वृत्यानुप्रास तथा 'चारु चकेबा' और 'मानस मनमथ' में छेकानुप्रास की छटा दर्शित होती है।

७. कामदेव के पाँचवाण हैं—सम्मोहन, उन्माद, शोषण, तापन तथा स्तम्भन। स्मिति में सम्मोहन, अंग-भंगिमा में उन्माद, शील तथा संकोच में शोषण, गति में तापन तथा देखने में स्तम्भन या आकर्षणमयता की समन्वित शक्ति के बल पर ही सुन्दरी पुरुष को कामार्त्त करने में सक्षम होती है।

८. 'कुच जुग चारू चकेबा' की तुलना में संस्कृत की निम्न पँक्तियाँ दृष्टव्य हैं:...

उदयति तरुणिय तरणो शैशव शशिनि प्रशान्तमायाते।
कुच चक्रवाक युगलं तरुणि तटिन्यां मिथो मिलति।।

९. प्रस्तुत पद में विद्यापति की अनुपम शब्द-शक्ति-सम्पन्नता की व्यंजना हुई है। इसमें 'कामिनि' एवं 'मनमथ' शब्द का प्रयोग दृष्टव्य है। पद की प्रथम पंक्ति का अर्थ 'कामिनि' द्वारा अत्यन्त

सफलता से व्यंजित हुआ है। 'कामिनी' में काम का निवास माना जाता है। सद्यः स्नाता के कामोद्दीपक प्रभाव की 'कामिनि' शब्द अत्यन्त सफलता से व्यंजना करता है। इसी संदर्भ में कामदेव के लिये मन्मथ शब्द का प्रयोग अत्यन्त सार्थक है। स्नान-रता चिपके गीले वस्त्रों वाली सुन्दरी मन को मथ डालती है—कामाभिभूत कर देती है, 'मन्मथ' से इसी हृदय-स्थिति की सफल अभिव्यक्ति हुई है।

१०. प्रस्तुत पद के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि एक बार दिल्लीश्वर मुगल बादशाह ने राजा शिवसिंह को कैद कर लिया। विद्यापति ने इस पद को बादशाह को सुनाया। इस पद के उच्च काव्यत्व, तरल चित्रोपमता एवं कल्पना की चारुता से प्रभावित होकर बादशाह ने इनके आश्रयदाता राजा शिवसिंह को मुक्त कर दिया।

(४३)

जाइत पेखल नहाइलि गोरी। कति सयँ रूप धनि आनलि चोरी॥
केस निगारइत बह जल धारा। चमर गरए जनि मोतिम-हारा॥
अलकहि तीतल तें अति सोभा। अलि कुल कमल बेढल मधुलोभा॥
नीर निरंजन लोचन राता। सिंदुर मंडित जनि पंजक पाता॥
सजल चीर रह पयोधर सीमा। कनक बेल जनि पड़ि गेल हीमा॥
ओ नुकि करतहि चाहि किए देहा। अबहि छोड़ब मोहि तेजब नेहा॥
ऐसन रस नहि पाओब आरा। इथे लागि रोए गरए जलधारा॥
विद्यापति कह सुनह मुरारि। वसन लागल भाव रूप निहारि॥

शब्दार्थ :—जाइत-जाती हुई। नहाइल-नहाकर। कति सयँ-कहाँ से। आनलि-लाई है। निगारइत-निचोड़ते हुए, गारते हुए। चमर-चंवर। अलक-केश। मोतिम-मोती की। तीतल तें-भीगने से। अलिकुल-भ्रमर समुदाय। बेढ़ल-घेर लिया। नीर निरंजन-जल में धुलने से अंजन रहित। राता-रक्तिम, लाल। पंकज पाता-कमल की पंखड़ी। पयोधर सीमा-कुचों पर। कनक बेल- सोने का बेल। हीमा-हिम, पाला। ओ-वह (वस्त्र)। नुकि-छिपना। किए-क्यों। तेजब-त्याग देगी। आरा-अन्यत्र। इथे लागि-इसीलिए। लागल-लग गये।

प्रसंग :—कवि नहा कर जाती हुई धुले सौन्दर्य से शोभायमान सुन्दरी का वर्णन करता है।

व्याख्या :—नहा कर जाती हुई सुन्दरी को मैंने देखा, पता नहीं वह सुन्दरी कहाँ से इतना (अलौकिक एवं लावण्यपूर्ण) रूप चुरा लाई है ? भाव यह है कि वह सद्य: स्नाता अद्वितीय सुन्दरी है। जब वह अपने केशों को निगारती या निचोड़ती है तो जो जल-धारा गिरती है वह ऐसी प्रतीत होतीं है कि मानो चँवर (श्यामल सघन केश-राशि से मुक्ता-माल के टूट जाने के कारण मोती टपक-टपक कर नीचे गिर रहे हों।

आर्द्र होने के कारण चिकुर-राशि अत्यन्त शोभायमान है। अथवा भीगे केशों से वह सुन्दरी अत्यन्त सुशोभित हो रही है। (भीगे केशों को देखकर) ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मधु के लोभ से भ्रमर समुदाय (भीगे केशों) ने कमल (मुख) को घेर लिया हो। जल में स्नान करने से अंजन धुल जाने के कारण रक्तिम आँखे ऐसी प्रतीत होती हैं कि मानो वे सिन्दूर-सुसज्जित कमल की पंखुड़ियाँ हों। (जल से धुली स्निग्ध, स्वच्छ एवं रक्तिम आँखों का यह चित्रांकन विद्यापति की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचायक है)

दोनों उन्नत उरोजों पर गीला वस्त्र चिपक गया है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वर्ण के श्रीफलों (बेलों) पर तुषार का आच्छादन हो गया हो। तात्पर्य यह है कि आर्द्र-वस्त्रावृत उरोज तुषारावृत श्रीफल की भाँति कुछ धुंधले सौन्दर्य वाले हो गये हैं किंतु फिर भी सुन्दरी के उरोजों की रक्ताभा प्रतिभासित हो रही है। वह आर्द्र वस्त्र उसके शरीर में क्यों छिप जाना चाहता है, क्योंकि वह जानता है कि यह रमणी मेरे स्नेह का परित्याग कर मुझे छोड़ देगी अर्थात् सूखे वस्त्र बदल लेगी। फिर ऐसा (यौवन) रस अन्यत्र कहाँ मिलेगा ? इसीलिये (वियुक्त होने के भय से) वह अश्रु-निर्झरण कर रहा है। उस रसवन्ती के प्रति निष्प्राण वस्त्र तक में प्रीति-रस उत्पन्न हो गया है तभी तो विद्यापति कहते हैं कि हे कृष्ण, सुनिए, उसके सुन्दर रूप को देख कर निर्जीव वस्त्र भी भाव-प्रवण होकर अर्थात् प्रेमाभिभूत होकर उसके शरीर से लिपट गया है अर्थात् वस्त्र उसके सम्पूर्ण शरीर को आलिंगित किये हुए है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'कति सयँ······चोरी' में अत्युक्ति है।

२. 'केस··· ··· ···हारा', 'अलकहिं······ ···मधुलोभा'

'निरंजन ······पाता', तथा 'सजल ·····हीमा' में उत्प्रेक्षा की सहायता से नायिका के आर्द्र सौन्दर्य की अनेक इन्द्रधनुषी प्रतिच्छवियों की अंकना हुई है। इस अंकना में विद्यापति के अभिनव कल्पना-वैभव के दर्शन होते हैं।

३. 'ओ······जलधारा' में हेतु अलंकार है।

४. 'वसन लागल भाव रूप निहार' में मानवीकरण हुआ है।

५. 'नीर निरंजन' और 'पंकज पाता' में छेकानुप्रास है।

६. 'ओ नुकि··· जलधारा' की तुलना में महाकवि माघ का निम्न सद्यः-स्नाता का वर्णन द्रष्टव्य है :—

बासाँसि न्यवसत यानि योषितस्ताः
शुभ्राभ्रद्युतिभिरहासि तैर्मुदेव।
अत्याक्षुः स्नपनगलज्जलानि यानि
स्थूलाश्रुस्त्रुतिभिररोदि तैः शुचेव॥

विद्यापति की नायिका के वस्त्र तो अलग होने की आशंका मात्र से रोते हैं, जबकि माघ की सद्यः स्नाता के उतारे गये वस्त्र शोक में व्याकुल होकर रोते हैं। इस दृष्टि से विद्यापति की भाव-प्रवण कल्पना, माघ की अपेक्षा, अधिक आकर्षक है।

(४४)

आजु मझु सुभ दिन भेला। कामिनि पेखल सनानक बेला॥
चिकुर गरए जलधारा। मेह बरिस जनु मोतिम हारा॥
बदन पोंछल परचूरे। माँजि धयल जनि कनक-मुकूरे॥
तेइ उदसल कुच-जोरा। पलटि बैसाओल कनक कटोरा॥
निबि-बंध करल उदेस। विद्यापति कह मनोरथ सेस॥*

शब्दार्थ :—मझु-मेरा। बेला-समय। मेह-मेघ। मोतिममाला-मुक्तामाल। पोंछल-पोंछ लिया। परचूरे-भली भाँति। माँजि-धयल-स्वच्छ करके रख दिया। कनक-मुकूरे-स्वर्ण-दर्पण। तेइ-उसके।

*परीक्षा की दृष्टि से यह पद आवश्यक नहीं है।

उदसल-प्रकट हो गये। जोर-युगल। पलटि-कर। उलट कर। बैसाओल-रख दिया। निबि-नीबी (नाड़ा) सेस-समाप्त, पूर्ण।

प्रसंग :—कवि स्नान-रता रमणी की उत्तेजक भंगिमाओं का काव्य-चारु भाषा में चित्रण करता है।

व्याख्या :—आज का दिन मेरे लिये शुभ दिन हुआ, (क्योंकि आज मैंने) स्नान करती हुई कामिनी के दर्शन किये हैं। भाव यह है कि कवि नारी की नग्न देह-यष्टि के दर्शन को अपने जीवन की कल्याणमयता मानता है। उसकी केश-राशि से निर्झरित जल की धारा ऐसी प्रतीत हो रही है मानो श्यामल घन मुक्तामाल का वर्षण कर रहा हो। भाव यह है उसके श्यामल केशों से जल की अविरल धारा प्रवाहित हो रही है।

नायिका ने (स्नानोपरान्त) अपना (यौवन से रक्ताभ) मुख भली भाँति पोंछा तो ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो स्वर्ण-दर्पण स्वच्छ करके रख दिया हो। भाव यह है कि उसका धुलकर पोंछा गया मुख स्वर्णिम कान्ति से दीप्त है। (मुख पोंछने के उद्देश्य से दोनों हाथ ऊपर उठे होने के कारण) दोनों उभरे हुए उरोज ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो दो स्वर्ण-कटोरों को उलटा करके प्रतिष्ठित कर दिया गया हो।

विद्यापति कहते हैं कि जब उसने वस्त्र बदलने के लिए अपने कटि-बन्ध को खोल दिया तो उस दृश्य को देखकर समस्त मनोकामनाओं की अभिपूर्ति हो गई।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. पूरे पद में उत्प्रेक्षा अलंकार का चमत्कार दर्शनीय है।

२. अन्तिम दो पंक्तियों में कवि शालीनता की सीमा का अतिक्रमण कर गया है। यह पंक्तियाँ विद्यापति की घोर ऐन्द्रिकता एवं विलास-प्रियता का द्योतन करती हैं।

कृष्ण का प्रेमावेग

(४५)

ससन परस खसु अम्बर रे, देखल धनि देह।
नव जलधर-तर संचर रे, जनि बिजुरी-रेह॥

आज देखल धनि जाइत रे, मोहि उपजल रंग ।
कनकलता जनि संचर रे महि निरअवलंब ।।
ता पुन अपुरब देखल रे, कुच जुग अरविंद ।
बिगसित नहि किछु कारन रे, सोझा मुखचंद ।।
विद्यापति कवि गाओल रे, रस बूझ रसमन्त ।
देवसिंह नृप नागर रे, हासिन देइ कंत ।।

शब्दार्थः—ससन-श्वसन, पवन । परस-स्पर्श । खसु-खिसक गया । अम्बर-वस्त्र, आंचल । तर-नीचे । संचर-संचरण करती है । बिजुरी-रेह—विद्युत रेखा । जाइत-जाती हुई । उपजल-उत्पन्न हुआ । रंग-प्रेम । जनि-मानो । महि-मही, पृथ्वी । निरअवलंब-बिना किसी आधार के । ता-उस पर भी । पुन-फिर । अरविंद-कमल । बिगसित-बिकसित । किछु-कुछ । सोझा-सम्मुख ।

प्रसंगः—कृष्ण ने रूप की छलकती गगरी-राधा को मार्ग में जाती हुई देखा । बस, वह उस रूप-माधुरी में पूर्णतया अनुरक्त होकर लोक-गीति के मधुर-स्वरों में गा उठते हैं ।

व्याख्याः—(मार्ग में बल खा कर जाती हुई राधा का) आँचल पवन के स्पर्श के कारण खिसक गया और उस रमणी की सुचिक्कण देह-यष्टि दिखलाई पड़ गई । उसके नीलाँचल के पीछे प्रतिभासित होने वाली यौवन-चपल श्वेतवर्णी देह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो नवीन जलद के नीचे विद्युत-रेखा संचरण कर रही हो ।

आज (मार्ग में) जाती हुई ऐसी धन्या को देखकर मुझमें (उसके प्रति) प्रेम उत्पन्न हो गया । यौवन की रक्ताभा से शोभायमान कमनीय गात्रा वह नायिका पृथ्वी पर चलती हुई ऐसी प्रतीत होती थी कि मानो स्वर्ण-वल्लरी बिना किसी आधार के पृथ्वी पर संचरण कर रही हो ।

इसके अतिरिक्त मैंने फिर उसी स्थान अर्थात् नायिका की देह-लता पर कमल के सदृश युगल उरोज अत्यन्त अपूर्वता लिये हुए देखे, जो कि अकारण ही मुख रूपी चन्द्रमा के समक्ष भी विकसित हैं । (चन्द्रमा की उपस्थिति में कुच-कमल का प्रफुल्लित होना ही उनकी अपूर्वता है ।) भाव यह है कि नायिका का ज्योत्स्ना-धवल मुख एवं

(४६)

गेलि कामिनि गजहु गामिनि बिहसि पलटि निहारि।
इन्द्रजालक कुसुम-सायक कुहकि भेलि बरनारि ॥
जोरि भुज जुग मोरि बेढ़ल ततहि बदन सुछन्द।
दाम चम्पक काम पूजल जइसे सारद चन्द ॥
उरहिं अंचल झाँपि चंचल आध पयोधर हेरु ।
पौन पराभव सरद-घन जनि वेकत कएल सुमेरु ॥
पुनहि दरसन जीब जुड़ाएब टुटत बिरह क ओर।
चरन जाबक हृदय पावक दहइ सब अंग मोर ॥
भन विद्यापति सुनहु जदुपति चित्त थिर नहि होय।
से जे रमनि परम गुनमनि पुन कए मिलब तोय ॥

शब्दार्थ—गेलि-गई। बिहसि-मुस्कराकर। निहारि-देखकर। इन्द्रजालक-जादूगर। कुसुमसायक-कामदेव। कुहुकि-मायाविनी। भेल-हुई। मोरि-मोड़ कर। बेढ़ल-घेर लिया। ततहि-वहीं। सुछन्द-सुन्दर। दाम चम्पक-चम्पा की माला, हाथ का उपमान। सारद चन्द-शारदीय चन्द्रमा, मुख का उपमान। झाँपि-ढक कर। आध पयोधर-एक कुच। हेरु-देखकर। पौन-पवन। पराभव-पराजित होकर। जनि-मानों। वेकत कएल-व्यक्त किये, प्रगट हुए। सुमेरु-पर्वत, उरोज। जीब-प्राण। जुड़ायब-शीतल होंगे। ओर-सीमा। जाबक-महावर। पाबक-अग्नि। दहई-प्रज्ज्वलित करती है। से-वह। पुन कए-पुण्य करने से। मिलब-मिलेगी।

प्रसंगः—प्रस्तुत पद में विद्यापति ने नारी की उत्तेजक रूप-भंगिमा जनित युवा-हृदय के उन्मथित सत्य की मार्मिक चित्रणा की है।

व्याख्याः—कृष्ण राधा के आमंत्रक सौन्दर्य से दंशित होकर कहते हैं कि) उस गज के समान मस्ती तथा मन्थरता से चलने वाली सुन्दरी ने जाते हुए (अत्यन्त कुटिल कटाक्षों से) मुड़ कर मेरी ओर देखा। उस समय वह श्रेष्ठ सुन्दरी ऐन्द्रियजालिक कामदेव के समान ही मायाविनी नटी सिद्ध हुई। अथवा वह सुन्दर मायाविनी रमणी अपनी मन्द मुस्कराहट को दिखाते हुए जादूगर कामदेव ही बन गई। भाव यह है कि मुड़कर मुस्करा कर देखती हुई चंचला-नयना-नायिका ने नायक को कामोत्तेजित कर दिया।

(मुझे देखकर लजाते हुए) उस सुन्दरी ने अपनी दोनों बाहों को परस्पर मिला कर तथा मोड़कर उसने वहीं अपने सुन्दर मुख को आवृत कर लिया। उस मनोरम दृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे मानो कामदेव अपने मनोरथ की सिद्धि-हेतु चम्पकवर्णी कोमल-कमनीय बाहों के रूप में) चम्पा की माला से (शीतल श्वेतिमा युक्त मुख रूपी) शारदीय चन्द्रमा की आराधना कर रहा हो। (श्री राजनाथ शर्मा ने इस मोहक छवि का सौन्दर्योद्घाटन करते हुए लिखा है "दोनों मुड़ी हुई भुजायें चम्पा की शाखायें तथा उँगलियों के नाखून चम्पा के दस पुष्प हों और इस प्रकार उनकी माला बनाकर कामदेव उस बाला के शरद् चन्द्र के समान सुन्दर, निर्मल, शुभ्र, कान्तिमान मुख की पूजा कर रहा हो।)

(पवन हिल्लोलित) आंचल से अपने वक्षस्थल को आच्छादित करते समय वह चंचला अपने अध-ढके उरोजों को (बंकिम नमित दृष्टि से) देखती है। लगता है कि मानो पवन द्वारा छितरा दिये जाने के कारण शरद् कालीन श्वेत बादलों ने (विवश होकर) सुमेरु पर्वत को प्रगट कर दिया हो। भाव यह है कि उस सुन्दरी के शरद्कालीन जलदों सा हल्के श्यामल वर्ण का आंचल हट गया है और उसके सुमेरु से पुष्ट, उन्नत तथा यौवन-रक्तिम उरोजों की शोभा स्पष्ट रूप से दिखलाई देने लगी।

उस (कामदेव द्वारा आधारित, आँचल-अनाच्छादित रक्ताभ पयोधर वाली) सुन्दरी के पुनः दर्शन से ही मेरे (संतप्त) प्राण शीतल होंगे अथवा मेरे प्राण जीवित बचेंगे और मेरे विरह की सीमा समाप्त होगी। उसके चरणों की महावर मेरे हृदय की अग्नि बन कर सारे अंग-प्रत्यंगों को प्रज्ज्वलित कर रही है। भाव यह है कि नायक सुन्दरी नायिका के प्रति पूर्ण रूप से समर्पणशील है, वह उसके महावर-लसित चरणों को हृदय में धारण करके उन्हें पाने की आशा में पीड़ा की प्रज्जवलनकारी अनुभूति कर रहा है।

विद्यापति कहते हैं कि हे यदुपति कृष्ण ! सुनो, (उस नायिका के दर्शन किए बिना) तुम्हारा चित्त स्थिर नहीं होगा अर्थात् तुम्हारी व्यग्रता समाप्त नहीं होगी। वह परम गुणवती रमणी पुण्य करने से ही तुम्हें प्राप्त होगी। अथवा तब तक तुम्हारा हृदय शान्त नहीं हो सकता जब तक कि ऐसी अत्यन्त गुणवती सुन्दरी फिर से आपको नहीं मिल जाती।

साहित्यिक विश्लेषणः—

१. 'इन्द्रजालक......बरनारि' में गम्योत्प्रेक्षा अलंकार है।

२. 'जोरि......चन्द।' में वाक्यार्थोपमा अलंकार है।

३. 'उरहि......सुमेरु' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

४. 'चरन......मोर' में अत्युक्ति है।

५. 'गजहु गामिनि' शब्द से नायिका का पीनपयोधरा और स्थूलनितम्बा होना लक्षित होता है।

६. प्रस्तुत पद में विद्यापति ने रमणी की चंचल, तरल और उत्तेजक भंगिमाओं का अत्यन्त सफलता से चित्रांकन किया है। वास्तव में इस पद में काव्य-नाट्य का वातावरण है।

(४७)

सहजहि आनन सुन्दर रे, भौंह सुरेखल आँखि।
पङ्कज मधु-पिवि मधुकर रे, उड़ए पसारल पाँखि॥
ततहि धाबल दुइ लोचन रे, जतहि गेलि बर नारि।
आसा लुबधल न तेजए रे, कृपनक पाछु भिखारि॥
इंगित नयन तरंगित रे, बाम भौंह भेल भंग।
तखन न जानल तेसर रे, गुपुत मनोभव रंग॥
चन्दन चरचु पयोधर रे, ग्रिम गज मुकुताहार।
भसम भरल जनि संकर रे, सिर सुरसरि जलधार॥
बाम चरन अगुसारल रे, दाहिन तेजइत लाज।
तखन मदन सर पूरल रे, गति गंजए गजराज॥
आज जाइत पथ देखलि रे, रूप रहल मन लागि।
तेहि खन सयँ गुन गौरव रे, धैरज गेल भागि॥
रूप लागि मन धाओल रे, कुच-कंचनगिरि साँधि।
ते अपराध मनोभव रे, ततहि धएल जनि बाँधि॥
विद्यापति कबि गाओल रे, रस बुझ रसमंत।
रूपनारायण नागर रे, लखिमा देई कन्त॥

शब्दार्थ:—सहजहि-स्वाभाविक रूप से। सुरेखल-सुन्दरता से चित्रित। मधुपिवि-मधु पीकर। मधुकर-भ्रमर। उड़ए-उड़ने को। पसारल-फैला दी हैं। पाँखि-पंख, भौंह का उपमान। ततहि-उसी ओर, वहाँ। धाबल-प्रधावित हो गये। जतहि-जिस ओर। गेलि-गई। आसा-लुबधल-आशा में लोभित। तेजए-छोड़ता है। कृपनक-कृपण का, कंजूस का। इंगित-संकेत। तरगित-चंचल। बाम-बाईं अथवा सुन्दरी। भौंह भेल भंग-भवें भंगिमा-युक्त हुईं। तखन-उस क्षण। तेसरा-तीसरा। गुपुत-गुप्त। मनोभव रंग-कामदेव का रहस्य। चरचु-चर्चित-किया। ग्रिम-ग्रीवा, कंठ। भसम-राख, चंदन की उपमान। संकर-महादेव, कुचों का उपमान। सुरसरि धार-गंगा की धारा. मुक्ता-माल का उपमान। अगुनारल-आगे बढ़ाया। तेजईत-छोड़ते हुए, आगे रखते हुए। तखन-उसी क्षण। मदन सर पूरल-कामदेव ने (अपना) वाण चला दिया। गंजए-पराजित करती है, लज्जित करती है। सयँ-से। रूप लागि-रूप से आकर्षित होकर। साँधि-सन्धि-स्थल। ते-उसी। धएल-रख दिया।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में नायक नायिका की रूप-रंगिलता तथा कटाक्षिल भाव-भंगिमा से विद्ध होकर अपनी अनुरागानुभूतियों की चित्रात्मक कथना अपने अंतरंग मित्र से करता है।

व्याख्या :—उस बाला का मुख स्वाभाविक रूप से सुन्दर है अर्थात् उसका आनन नैसर्गिक सुषमा से शोभायमान है। और उसके नयन भौंह द्वारा सुन्दरता से सुरेखित हैं। उस सुन्दरी की यौवन चपल बरौनियों से युक्त चंचल-आँखें ऐसी प्रतीत हो रही हैं मानो (मुख रूपी) कमल का मकरन्द (सहज सौन्दर्य) का पान करने उपरान्त (नेत्र रूपी) भ्रमरों ने उडने के लिए अपने (भौंहों) के पंख फैलाये हों। तात्पर्य यह है कि यौवन की अलमस्ती से भर कर उस नायिका के रसमय कटाक्षों से उसकी आँखें तरंगिमा पूर्ण हैं।

वह सुन्दर युवती जिस दिशा की ओर गई उसी ओर मेरे दोनों रूप-लुब्ध नेत्र इस प्रकार प्रधावित हुए जिस प्रकार कि कोई याचक किसी कृपण व्यक्ति का पीछा करना नहीं छोड़ता (चाहे उससे कुछ प्राप्त हो या न हो।) भाव यह है कि नारी रूपवती और शीलवती दोनों है। उसका सौन्दर्य संयत है, उच्छृंखल नहीं। वह नायक की आसक्ति के प्रति, इस बेला तक, तटस्थ है। परिणामतः नायक के नयन तृप्त नहीं होते।

जिस क्षण उस रमणी के (कामोद्दीपक) संकेत पूर्ण नेत्र तरंगायमान होने लगे अर्थात् उसके चपल नयन कटाक्ष पूर्ण हुए और बाई भौंह बंकिम भंगिमा-युक्त हुई तो उस क्षण कामदेव के गुप्त प्रभाव को कोई तीसरा न जान सका। भाव यह है कि नायिका ने अपने चंचल नेत्रों की संकेत पूर्ण मौन भाषा में नायक को जो काम-सन्देश दिया उसे उसने हृदयंगम कर लिया, कोई अन्य व्यक्ति उसके इस हृदयंगम भाव-सत्य से अवगत न हो सका।

उस बाला के उरोजों पर चन्दन का प्रलेपन था। कंठ में गज मौक्तिकमाल सुशोभित थी। यह दृश्य ऐसा दर्शित हो रहा था कि जैसे (चन्दन रूपी) भस्म प्रलेपित (उरोज रूपी) शिव के शीश पर (गज मुक्तामाल रूपी) गंगा की धारा प्रवहमान हो।

उस सुन्दरी ने मेरी ओर बढ़ने के लिये बायाँ चरण तो आगे बढ़ाया, किन्तु तभी दाहिना पैर आगे बढ़ाते हुए उसे लज्जा ने घेर लिया, वह 'कहीं कोई देख न ले' की भावना से लज्जाभिभूत हो गई। किन्तु उसी क्षण (नायिका के हृदय में) कामदेव ने अपना वाण चला दिया, (जिसके प्रभाव-स्वरूप) उसकी चाल ने गजराज की गति को पराजित कर दिया अर्थात् वह सुन्दरी काम-प्रेरित होकर मस्ती में भर कर मेरी ओर बढ़ी।

आज उस (गजगामिनी) सुन्दरी को मार्ग में जाते हुए देखकर मेरा मन उसके (आमंत्रक) रूप के प्रति आसक्त हो गया अर्थात् उसका उत्तेजक सौन्दर्य मेरे मन और प्राणों में पूरी तरह समा गया। (बस क्या कहूँ) उसी समय से मेरे गुण, गौरव एवं धैर्य सब भाग खड़े हुए। भाव यह है कि नायक नायिका के रूप-सौन्दर्य से पूर्ण पराभूत हो गया और इस पराभूतता में उसने अत्यन्त व्यग्रता के साथ अपने व्यक्तित्व के सब कुछ का समर्पण कर दिया।

मेरा मन उसके रूप-सौन्दर्य से लोभित होकर उन सुमेरु पर्वत के समान यौवन-रक्तिम उन्नत कुचों के मिलन-स्थल की ओर दौड़ा और इसी अपराध में कामदेव ने मेरे मन को वहीं बांध कर रख दिया। भाव यह है कि नायक का मन नायिका के वक्ष स्थल के उत्तेजक सौन्दर्य में केन्द्रित हो गया।

कवि विद्यापति गाते हैं रसज्ञ ही इस रस को समझते हैं। चतुर रूपनारायण (राजा शिव सिंह) लखिमादेई के पति हैं।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'सहजहि......पाँखि' में गम्योत्प्रेक्षा अलंकार है।

२. 'ततहि......भिखारि' में उपमा की भूमि पर अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग हुआ है।

३. 'इंगित......रंग' में अनुमान अलंकार है।

४. 'भमम......जलधार' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

५. 'गति गंजए गजराज' में प्रतीप अलंकार है। (कतिपय टीकाकारों ने इसमें व्यतिरेक अलंकार के दर्शन किये हैं, लेकिन यहां उपमेय के उत्कर्ष के हेतु के कथन का अभाव होने के कारण प्रतीप अलंकार ही है।)

६. 'तेहि भागि' में मानवीकरण है।

७. रूप लागि......बाँधि' में सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार है और

'कुच-कंचनगिरि' में रूपकालंकार है।

८. 'पसारल पांखि', 'चन्दन चरचु', 'ग्रिम गज' 'भसम भरल' 'सिर सुरसरि' तथा 'रूप रहल' में छेकानुप्रास तथा 'भौंह-भेल-भंग' तथा 'गति गंजए गजराज' में वृत्यानुप्रास की छटा है।

९. रूप लागि......जनि बाँधि' की विशेषता का उद्घाटन श्री कुमुद विद्यालंकार ने इस प्रकार किया है, "नायिका के दोनों पुष्ट स्तन परस्पर इतने सटे हुए थे कि दोनों के बीच में जरा भी अवकाश नहीं था। फिर भी नायक ने जान बूझ कर खतरा मोल लिया और अपने 'मन' को नायिका के स्तनों की टोह के लिए भेजा। नतीजा यह हुआ कि वह 'मन' दोनों कुचों के बीच में सदा के लिये ही फँस गया।" वास्तव में इस पँक्ति में कुचों के प्रति युवा-हृदय की स्वाभाविक उत्तेजनात्मक आकाँक्षा की सफल अभिव्यक्ति हुई है।

(४८)

पथगति पेखल मो राधा।
तखनुक भाव परान पए पीड़लि रहल कुमुद-निधि साधा।।

ननुआ नयन नलिनि जनि अनुपम बङ्क निहारइ थोरा।
जनि शृङ्खल में खगवर बाँधल दीठि नुकाएल मोरा।।
आध बदन-ससि विहसि दिखाओलि आधपिहित निअबाहू।
किछु एक भाग बलाहक झाँपल किछुक गरासल राहू।।
कर जुग पिहित पयोधर अचल चंचल देखि चित भेला।
हेम कमल जनि अरुनित चंचल मिहिर तले निंद गेला।।
भनइ विद्यापति सुनह मधुरपति इह रस केह पए बाधा।
हास दरस रस सबहु बुझाएल नाल कमल दुइ आधा।।

शब्दार्थ :—पथ गति-मार्ग में जाती हुई। पेखल-देखा। मो-मैंने। तखनुक-उस समय का। परान पए पीड़लि-प्राणों को पीड़ित कर दिया। रहल-रह गई। कुमुद-निधि-चन्द्रमा. मुख का उपमान। साधा-अभिलाषा। ननुआ-लावण्ययुक्त. सुन्दर। नलिनि-कमलिनी। जनि-समान शृंखल-शृंखला। खगवर--श्रेष्ठ पक्षी खंजन। बाँधल-बाँधा। दीठि-दृष्टि। नुकाएल-छिप गई। बदन-ससि-मुख-चन्द्र। बिहसि-हंस कर। दिखाओलि-दिखलाया। आधपिहित निअबाहू-आधा (मुख) अपनी बाहुओं से छिपा लिया। बलाहक-बादल। झाँपल-आवृत कर दिया। गरासल-ग्रस लिया। हेम कमल-स्वर्ण कमल। अरुनित-अरुणिम, लालिमा युक्त। मिहिर-सूर्य। तरे-नीचे। निंद गेला-सो गया। मधुरपति-मथुरापति कृष्ण। इह-यह। केह-कौन। बुझाएल ज्ञात हुआ। नाल कमल-मृणाल और कमल।

प्रसंग—कृष्ण अनुपम रूप-लावण्यमयी राधा को मार्ग में जाते हुए देखकर काम-पीड़ित हो उसकी आहतकारिणी छवि का रस-भरा वर्णन करने लगे।

व्याख्या :—मैंने मार्ग में जाती हुई राधा को देखा। उसी क्षण उसकी भाव-भंगी ने मेरे प्राणों को प्रपीड़त कर दिया। और उस कुमुद-निधि अर्थात् चन्द्रमुखी राधा को (जी भर कर) देखने की अभिलाषा बनी ही रही।

उसके लावण्ययुक्त नेत्र कमलिनी के समान सुन्दर हैं, वह उनसे थोडी सी बंकिम दृष्टि से कनखिया कर देखती है। उसकी बंकिम दृष्टि से घिरी हुई आँखें ऐसी प्रतीत होती हैं कि मानो खगश्रेष्ठ खंजनों को एक ही शृंखला में आबद्ध कर दिया गया हो, उसके कटाक्षों की मधु

संकेतात्मकता के कारण मेरी दृष्टि उनमें ही छिप गई अर्थात् मैं अपलक रूप से उसे ही निहारने लगा। मेरे नेत्रों पर मेरा वश ही नहीं रहा, वे तो उसके सौन्दर्य में ही लग गये।

उस सुन्दरी ने अपना आधा चन्द्र मुख तो मुस्करा कर दिखाया और (लज्जा-भाव के कारण) शेष आधा मुख अपनी बाहों से ढंक लिया। उस नायिका के स्नेह और लज्जा के संगम की यह इन्द्रधनुषी भंगिमा ऐसी लग रही थी कि मानो (उसके मुख रूपी) चन्द्र के कुछ भाग को बादलों ने आवृत कर दिया हो और कुछ भाग को राहु ने आग्रसित कर लिया हो।

उस नायिका ने आंचल-आवृत उरोजों को अपने दोनों हाथों से छिपा लिया। उसकी यह मुद्रा देखकर मेरा मन चंचल हो उठा। उसकी अरुणिम हथेलियों से ढँके यौवन की रक्ताभा से मंडित मांसल पयोधर ऐसे प्रतीत हो रहे थे कि मानों बाल सूर्य के नीचे चंचल स्वर्ण कमल निद्रा में आमग्न हों।

विद्यापति कहते हैं कि हे मथुरापति कृष्ण सुनो। तुम्हारे इस रस में अर्थात् बाला के साथ आनन्दोपभोग करने में कौन बाधा देगा ? तुम्हारी पारस्परिक हँसी और दर्शन जनित आनन्द-रस से ही सब ने हृदयंगम कर लिया है कि तुम्हारी भुजाएँ और राधा के कुच मृणाल और कमल की भाँति ही एक ही वस्तु के दो भाग हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार कमल मृणाल के साथ ही प्रफुल्लित और सुशोभित रहता है उसी प्रकार तुम्हारी भुजाओं के आश्रय से ही राधा के कुच भी सुशोभित होंगे।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'कुमुद–निधि साधा' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

२. 'ननुआ नयन नलिनि जनि' में उपमालंकार है।

३. 'आध बदन-ससि.........राहू' में रूपक और रूपकातिशयोक्ति का संकर है।

४. 'हेम ......गेला' में उत्प्रेक्षा की मादक कल्पना का संचरण है।

५. 'नाल कमल दुइ आधा' में नाल और कमल के उपमान

द्वारा ही भुजाएं और कुच उपमेय के अभिन्न सम्बन्ध का प्रकटीकरण होने के कारण रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

६. 'पथगति पेखल' और 'पिहित पयोधर' में छेकानुप्रास तथा परान पए पीड़लि' तथा 'ननुआ नयन नलिनि' में वृत्यानुप्रास का सौन्दर्य है।

७. 'नाल कमल दुइ आधा' में विद्यापति की रस-प्रवण कल्पना ने अत्यन्त मोहक काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि की है।

राधा का प्रेमावेग

(४६)

ए सखि पेएलि एक अपरूप । सुनइत मानबि सपन सरूप ।।
कमल जुगल पर चांद क माला। तापर उपजल तरुन तमाला ।।
तापर बेढ़लि बिजुरी-लता । कालिंदी तट धीरे चलि जता ।।
साखा सिखर सुधाकर पाँति । ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति ।।
विमल बिंवफल जुगल विकास । तापर कीर थीर करु बास ।।
तापर चंचल खंजन-जोर । तापर सांपिनी झाँपल मोर ।।
ए सखि रंगिनि कहल निसान । हेरइत पुनि मोर हरल गेआन ।।
कवि विद्यापति एह रस भान । सुपुरुख मरम तुहू भल जान ।।

शब्दार्थ:—अपरूप-अपूर्व, अलौकिक रूप । सुनइत-सुनकर । मानबि-मानोगी । कमल जुगल-दो चरण । चाँद क माला-नाखूनों की पँक्ति । तरुन-तमाल यौवन-पुष्ट श्यामल शरीर । बेढ़लि-लिपटी हुई । बिजुरि-लता पीताम्बर । चलि जता-चला जाता है। साखा सिखर-भुजाओं के अग्रभाग में। सुधाकर पाँति-नख-पंक्ति । नव पल्लव-हथेलियाँ । अरुनक-रक्तिम । बिंबफल-रक्ताभ अधर । विकास-विकसित हैं। कीर-तोता । थीर करु बास-स्थिर होकर रहता है। खंजन जोर-युगल नेत्र । सांपिनि-कुन्तल-राशि । झाँपल-आवृत किये हुए हैं। मोर-मयूर मुकुट । निसान-संकेत । गिआन-ज्ञान, सुध-बुध । तूहू-तुमने ।

प्रसंग:—राधा ने कालिंदी तट पर कृष्ण को देखा और उनके

अनुपम रूप-लावण्य पर मोहित हो गई। प्रस्तुत पद में वह अपनी सखी से सौन्दर्य के लिये प्रयुक्त प्राकृतिक उपमानों के माध्यम से कृष्ण के अलौकिक रूप का वर्णन करती है।

व्याख्या:—हे सखि ! आज मैंने एक अपूर्व रूप के दर्शन किये। उस रूप के सौन्दर्य को यदि सुनोगी तो उसे तुम स्वप्निल सौन्दर्य मानोगी। तात्पर्य यह है वह रूप धरती के यथार्थ सौन्दर्य से इतना महत्तर है कि उसे स्वप्न में देखा हुआ अपूर्व आभा-युक्त सौन्दर्य का प्रतिष्ठान मानना पड़ता है। (उस कृष्ण के अपरूप रूप में प्रकृति के श्रेष्ठतम सौन्दर्योपमान अधिवास करते हैं, उसके सम्पूर्ण शरीर की संघटना ही इनसे सुलसित है। इस शोभा का वर्णन इस प्रकार है) उसके युगल स्निग्ध कोमल चरणों पर धवलिमा-दीपित नख-पंक्ति ऐसी प्रतीत हो रही थी कि जैसे दो कमलों पर चन्दमाओं की माला शोभायमान हो रही हो। (कमल और चन्दमाला का संयोग यह प्रकृति सत्य के विपरीत अपूर्व रूप नहीं है तो और क्या है।) उस पर अर्थात् चन्द्रमाला-सज्जित युगल चरणों पर (कृष्ण का तारुण्य-प्रतिभासित श्यामल शरीर रूपी) पुष्ट तमाल वृक्ष उदित है।

उस (शरीर रूपी) तमाल वृक्ष के ऊपर पीताम्बर रूपणी) विद्युत्लता आवृत थी अर्थात् कृष्ण के पुष्ट श्यामल शरीर पर पीताम्बर शोभायमान था। वह तमाल वृक्ष यमुना के तट पर धीरे-धीरे चला जा रहा था अर्थात् यौवन—गम्भीर कृष्ण यमुना तट पर मन्द-मन्थर गति से विचरण कर रहे थे। उस (कृष्ण के शरीर रूपी) तमाल वृक्ष की (भुजाओं रूपी) शाखाओं के अग्रभाग भाग में (नख-पाँति रूपी) चन्द्रमाओं की पँक्ति सुशोभित थी और उस पर अर्थात् भुजा-शाख पर (रक्तिम कमनीय हथेलियों के रूप में) रक्तवर्णी नव किसलय-दल सुशोभित थे अथवा बाल सूर्य की भाँति हथेलियों के रूप में रक्तवर्णी किसलय-दल शोभायमान हो रहे थे।

(कृष्ण के शरीर रूपी वृक्ष के ऊपर रक्ताभ अधरों के रूप में) दो निर्मल विम्बाफल विकसित थे और उन पर (सुडौल नासिका के रूप में) शुक स्थिर भाव से बैठा था। उस (नासिका) के ऊपर (यौवन-चपल नेत्रों के रूप में) चंचल खंजनों का युगल था और उसके ऊपर (कुन्तल राशि रूपिणी) सर्पिणी को (मोर-मुकुट रूपी) मयूर आवृत किये हुए था। (मयूर के संरक्षण में सर्पिणी का निवास यह

कृष्ण के रूप की अलौकिकता नहीं तो और क्या है) ।

अयि, रति-क्रीड़ा निष्णात सखी ! मैंने उस कृष्ण के अपूर्व रूप के संकेत मात्र का वर्णन किया है, और फिर उसके देखने मात्र से राधा इतनी सुध-बुध विहीन हो गई कि सम्यक् रूप से सौन्दर्य को नयनों में नहीं भर पाई ।

कवि विद्यापति कहते हैं (कि राधा की सखी राधा से कहती है कि) तू इस सौन्दर्य-रस की मर्मज्ञ है और तू उस सुन्दर पुरुष (कृष्ण) के रहस्य को भली भाँति जानती है ।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. इस सम्पूर्ण पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार की नियोजना हुई ।

२. प्रस्तुत पद में स्थान-स्थान पर अनुप्रास की छटा भी विद्यमान है ।

३. विद्यापति नख-शिख वर्णन में भारतीय पद्धति के अनुयायी रहे हैं, इसी कारण उनके इस कोटि के वर्णन का प्रारम्भ चरणों से ही होता है ।

४. इस पद से यह प्रमाणित होता है कि विद्यापति नारी-सौन्दर्य के चित्रण की समकोटि का पुरुष-सौन्दर्य भी चित्रित कर सकते हैं । फिर भी उनका मन नारी-सौन्दर्य चित्रण में अधिक रमा है । उनके इस पद में कलात्मक चमत्कार की प्रधानता ही है ।

(५०)

की लागि कौतुक देखलौं सखि निमिष लोचन आध ।
मोर मन मृग मरम वेधल विषम बान वे आध ।।
गोरस विरस वासी विसेखल छिकहु छाड़ल गेह ।
मुरलि धुनि सुनि मो मन मोहल बिकहु भेल सन्देह ।।
तीर तरङ्गिनि कदम्ब-कानन निकट जमुना घाट ।
उलटि हेरइत उलटि परलओं चरन चीरल काँट ।।
सुकृति सुफल सुनह सुन्दरि विद्यापति भन सार ।
कंसदलन गुपाल सुन्दर मिलल नन्दकुमार ।।

शब्दार्थ:—की लागि-किसलिए। निमिष-एक क्षण। लोचन आध-कनखियों से। मरम-मर्मस्थल। बेधल-बेध दिया विषम बाण-तीक्ष्ण बाण। बेआध-व्याधा, बहेलिया। गोरस-दूध, इन्द्रिय रस। विरस-रसहीन। वासी-विसेखल-विशेष रूप से बासी। छिकहु छाड़लगेह-छींक होने पर भी घर छोड़ दिया। बिकहुभेल संदेह-बिकने में भी संदेह हो गया, संशय में पड गई कि मैं कहीं बिक तो नहीं गई। तरंगिनि-नदी। हेरइत-देखते ही। उलटि परलम्रों-उलट पड़ी। चीरल-चीर दिया। सुकृति सफल-अपने कार्यों में सफल। भन सार-तत्त्व की बात कहते हैं।

प्रसंग:—नायिका कृष्ण के अपूर्व सौन्दर्य को केवल एक क्षण के लिये ही देखती है और अत्यन्त भावाभिभूत हो जाती है। अपनीसखी से वह इसी भावाभिभूतता का वर्णन चपल, तरल तथा चित्रात्मक भाषा में करती है।

व्याख्या:—हे सखी! मैंने उस कौतुक अर्थात् आश्चर्यपूर्ण अलौकिक सौन्दर्य को कनखियों से केवल पल भर के लिये क्यों देख लिया। उस एक पल के प्रिय-दर्शन-सुख ने मेरे मन रूपी मृग के मर्म-स्थल को बहेलिये के तीक्ष्ण बाण की भाँति बेध दिया। तात्पर्य यह है नायिका कृष्ण के दर्शन से अत्यन्त कामार्त्त हो उठी।

मुझे उस कृष्ण-दर्शन की रसमयता के समक्ष गोरस—दूध, दही आदि विशेष रूप से नीरस प्रतीत हुआ और मैंने (गोरस से उदासीन होकर कृष्ण-दर्शन-रस पान के हेतु) छींक के अपशुकन के होने पर भी घर को त्याग दिया। भाव यह है कि नायिका कुल-मर्यादा को तिलाञ्जलि देकर पूर्ण रूप से प्रिय-रूप-दीवानी हो गई। कृष्ण की मुरलिका की मधुर ध्वनि को सुनकर मेरा मन अत्यन्त मोहासन्न हो गया और मुझे ऐसा सन्देह-सा होने लगा कि कहीं मेरा मन (कृष्ण के हाथ) बिक तो नहीं गया अर्थात् मेरे मन की स्वायत्तता समाप्त हो गई और वह सम्पूर्णता कृष्णाधीन हो गया।

• यमुना नदी के तट पर, कदम्ब के वन में, घाट के निकट उस कृष्ण के रूप को उलट-उलट कर देखने के प्रयत्न में मैं स्वयं उलट कर गिर पड़ी और मेरे चरन काँटे से लहू-लुहान हो गये।

विद्यापति तत्त्व की बात कहते हैं हे सुन्दरी! सुनो, तुम अपने सत्कार्यों में सफल हुई अर्थात् पुण्य कर्मों के कारण तुमने अच्छा फल

प्राप्त किया, वह यह कि कंस का संहार करने वाले नन्द के पुत्र शोभा-श्री गोपाल तुझे प्राप्त हो गये।

साहित्यिक बिश्लेषण :—

१. 'मोर ·····वेग्राध' में रूपक अलंकार है।

२. 'मोर मन मृग मरम', 'वेधल विषम बान वेग्राध', 'विरस वासी विसेखल', 'मो मन मोहल' तथा सुकृति सुफल सुनह सुन्दरी' में वृत्यानुप्रास और 'छकहु छाड़ल', 'तीर तरङ्गिनि', 'कदम्ब-कानन' तथा 'चरन चीरल' में छेकानुप्रास का सौन्दर्य है।

३. 'मोर मन·········वेग्राध' का अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है —

'व्याघ (कृष्ण) ने मेरे मर्मस्थल के मन-मृग को विषम वाणों (कटाक्षों) से बेध डाला।' इस अर्थ में रूपकातिशयोक्ति अलंकार की नियोजना हो जाती है।

४. 'तीर······काँट' में प्रेमदशा की अत्यन्त सरल तथा मानसूमियत भरी व्यंजना हुई है। साथ ही इन पँक्तियों में काव्य और नाट्य का सुन्दर संगम भी हुआ है।

(५१)

कतन बेदन मोहि देसि मदना।
हर नहि बला मोहि जुवति जना॥
बिभुति भूसन नहि चाननक रेनू।
बघछाल नहि मोरा नेतक बसनू॥
नहि मोरा जटा भार चिकुर क वेनी।
सुरसरि नहि मोरा कुसुम क स्रेनी॥
चाँदक विंदु मोरा नहि इन्दु छोटा।
ललाट पावक नहि सिंदुर क फोटा॥
नहि मोरा कालकूट मृगमद चारु।
फनपति नहि मोरा मुकुता-हारु॥
भनइ विद्यापति सुन देव कामा।
एक पए दूखन नाम मोर बामा॥

शब्दार्थ—कतन-कितनी । वेदन - वेदना, पीड़ा । देसि-दो । मदना-कामदेव । हर-महादेव । बला-अबला, इसका अर्थ 'वरन्' भी है। विभुति-भूषन-भस्म का प्रलेपन । चाननक रेनू-चन्दन की धूलि । बवछाल-व्याघ्र-चर्म । नेतक वसनू-चुनरी । चिकुर क बेनी-केशों का वेणी । स्रेनी-श्रेणी पँक्ति । चाँदक बिंदु-चन्दन की बेंदी । इन्दु छोटा-द्वितीया का चन्द्रमा । पाबक-अग्नि । फोटा-टीका । कालकूट-विष । मृगमद-कस्तूरी । फनपति-सर्प । देव कामा-कामदेव । पए-निश्चय ही । दूखन-दूषण, दोष । बामा-रमणी, शिव का एक नाम वामदेव भी है।

प्रसंग :—नायिका नायक के विरह में विदग्ध है, अपने दाह के प्रशमन हेतु उसने चन्दन, कस्तूरी, पुष्पमाला आदि शीतलता-प्रदायक प्रसाधन से अपने शरीर को सुसज्जित कर रखा है। लेकिन फिर भी उसकी प्रज्ज्वलनता बढ़ती ही जाती है तब उस वामा को भ्रम हो जाता है कि कहीं काम मुझे (मेरी शिव-सदृश्य वेष-भूषा के कारण) वामदेव समझ कर प्रपीड़ित तो नहीं कर रहा है। कामदेव के इसी भ्रम को दूर करने के लिये प्रस्तुत पद में विरहिणी नायिका उसके सम्मुख अपने रमणीत्व का ज्ञापन करती हुई कहती है।

व्याख्या :—(नायिका कहती है कि) हे कामदेव ! तू मुझे कितनी वेदना दे रहा है अथवा मुझे इतनी पीड़ा मत दो । मैं शिव नहीं हूँ, वरन् मैं अबला (विरहिणी) नारी हूँ। अर्थात् मैं तुम्हारी शत्रु नहीं वरन् नारी होने के कारण तुम्हारी सहायिका हूँ, फिर तुम मुझे पीड़ा क्यों पहुँचाते हो ?

मेरे शरीर पर जो तुझे भस्म-सा प्रलेपन दृष्टिगोचर हो रहा है। वह शिव की विभूति न होकर चन्दन की रेणु का प्रलेपन है (जो विरह-दाह से सूख कर भसमी-सा मटमैला दीख रहा है) और जिसे तू व्याघ्रचर्म समझे हुए है वह मेरी विविध रंगी चूनरी है।

मेरे शीश पर जटा-जूट का भार नहीं, वरन् कुन्तल-राशि से गुंथा हुआ जूड़ा है। जिसे तू शंकर के शीश की गंगा समझ रहा है, वह गंगा न होकर मेरी कुन्तल-राशि में सुसज्जित श्वेत पुष्पों की माला है।

मेरे भाल में लगी हुई चन्दन की बेंदी है, वह शिव के मस्तक पर सुशोभित होने वाला द्वितीया का चन्द्रमा नहीं है, और उसी के समीप

जिसे तू शिव का पावक (तीसरा) नेत्र समझे है वह तीसरा नेत्र न होकर सिन्दूर का टीका है ।

यह महादेव के कंठ का गरल नहीं वरन् (विरह-दाह के प्रशमन हेतु लगी हुई) सुन्दर कस्तूरी है। और जिसे तू शिव के कंठ में पड़ा सर्प समझे है वह सर्प नहीं वरन् मेरी मुक्तामाल है।

विद्यापति कहते हैं कि बाला कहती है कि हे कामदेव सुनो ! तुम्हारे शत्रु शिव का केवल एक ही दूषण (दोष) मेरे में विद्यमान है और वह है कि मेरा नाम वामा (युवती) है। बस वामदेव से मेरे नाम की ही समानता है, इस थोड़े से दोष के लिये तू मुझे कितनी अधिक पीड़ा प्रदान कर रहा है ।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. प्रस्तुत पद में भ्रान्तापह्नुति अलंकार का प्रयोग हुआ है ।

२. विद्यापति के इस पद के काव्योत्कर्ष को समझने के लिये जयदेव और सूरदास के निम्न वर्णन द्रष्टव्य हैं:—

(अ) गीत गोविन्द का श्लोक

हृदि विसलताहारो नायं भुजंगमनायकः
कुवलय दल श्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः ।
मलयजरजो नेदं भस्म प्रिया रहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्यानङ्ग ! क्रुधा किमु धावसि ।।"

(ब) सूर का पद

सबन अबध सुन्दरी, बधै जनि ।
मुक्तामाल, अनंग, गंग नहिं नवसत साजे अर्थ स्यामघन ।।
भाल तिलक उड़पति न होय यह कबरि-ग्रन्थ अहि पति न सहस-फन ।
नहिं विभूति, दधि-सुत न भाल जड़ ! यह मृगमद चन्दन चर्चित तन ।।
न गज चर्म यह असित कंचुकी देखि बिचारि कहां नन्दी गन ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु बरबस काम करत हठ हम सन ।

इन दोनों ही महाकवियों के वर्णनों में कलात्मक सौन्दर्य तो

विद्यमान है, किन्तु इनमें विद्यापति के वर्णन की सी विरहिणी नारी की आर्त्तता का अभाव है। विद्यापति के इस पद में भाव और कला एकरस हो गये हैं।

३. प्रस्तुत पद के कवि-कौशल की समुचित व्याख्या पं० शिवनन्दन ठाकुर इस प्रकार करते हैं:—

"विद्यापति ने 'हर' शब्द को कैसे अच्छे स्थान पर रखा है। 'हर नहि बला मोहि जुबति जना' अर्थात् मैं तुम्हारे प्राणों का हरण करने वाला शिव नहीं हूँ, किन्तु युवति जन हूँ। 'यू' धातु का अर्थ है मिलना, इसलिए युवति शब्द का अर्थ है मिलनसार अर्थात् मैं तुम्हारी सहायिका हूँ। जयदेव काम को 'अनंग' कहकर पुकारते हैं। आपका उद्देश्य है कि तुमको शिव ने जलाया, तुम अनंग हो गए और बदला लेते हो हमसे। विद्यापति 'मदन' कह कर पुकारते हैं। आपका अभिप्राय है कि तुम्हारा कार्य है लोगों को प्रसन्न करना इसलिए तुम मदन कहलाते हो। फिर तुम सताते हो और सताते हो किसको? अपनी सहकारिणी युवतियों को। जयदेव ने विरही नायक को खड़ा किया और विद्यापति ने कामबाण से व्याकुल युवती के द्वारा नाम सादृश्य के कारण प्रहार करने वाले काम की अविवेकता प्रकट कर अपनी रसिकता का परिचय दिया है।"

(५२)

मनमथ तोहे की कहब अनेक।
दिठि अपराध परान पए पीड़सि, ते तुअ कौन बिबेक ॥
दाहिन नयन पिसुन गन बारल, परिजन बामहि आध।
आध नयन कोने जब हरि पेखल, तें भेल अत परमाद ॥
पुर बाहिर पथ करत गतागत के नहिं हेरत कान।
तोहर कुसुम-सर कतहुँ न संचर हमर हृदय पंचबान।

शब्दार्थ :—मनमथ-कामदेव। की कहेब अनेक-अधिक क्या कहूँ। दिठि-दृष्टि। परान-प्राण। पए-देता है। पीड़सि-पीड़ित करते हो। ते-यह। पिसुनगन-दुष्टों के कारण। बारल-रोका। परिजन-घर के लोग। अत परमाद-इतना प्रमाद, पागलपन। गतागत-आते जाते।

प्रसंग :—राधा कौटुम्बिक मर्यादा की परिसीमा के भीतर भी अपनी विवशता पर घुट-घुट कर चुपचाप रोती है। छल से भी—तिरछी चितवन से भी वह कृष्ण को देखने को चंचल हो उठती है और देख लेने भर से प्रेम की पीड़ा-समाधि में स्थित हो जाती है। प्रस्तुत पद में वह इस पीड़ा-भरे स्वरों में कामदेव को संबोधित करती हुई कह उठती है।

व्याख्या :—हे कामदेव ! तुमसे अधिक मैं क्या कहूँ ? कृष्ण के रूप-लावण्य के दर्शन करने का अपराध तो दृष्टि का है, और तुम प्राणों को (अमित) पीड़ा प्रदान कर रहे हो, यह तुम्हारा कौन सा न्याय-संगत कार्य है। भाव यह है कि दृष्टि अपराधिनी है लेकिन वह अदंडित है क्योंकि वह तो लुकछिप कर कृष्ण को देख लेती है और जो सर्वथा निरपराध हृदय है वह लोक-लज्जा के भय के कारण मिलन-सुख से बंचित होकर तड़पता रहता है।

मैंने (कृष्ण को देखने के लिये) दाहिने नेत्र को दुष्टों के कारण रोक रखा अर्थात् दुष्टों के भय से मैं दाहिने नेत्र से कृष्ण को देख न सकी। बल्कि उससे तो मैं उन्हीं को इस भाव से देखती रही कि कहीं वे मुझे कृष्ण को देखते हुए देख न ले। और बाई आँख के आधे भाग से मैं परिवार के (वयोवृद्ध) जनों को देखती रही कि कहीं वे भी मुझे कृष्ण को देखते हुए न देख लें, इस प्रकार इस नेत्र के आधे बायें भाग को भी मैं कृष्ण-दर्शन से रोके रही। और जब मैंने शेष आधे बायें नेत्र की कनखियों के सहारे कृष्ण को देखा तो उससे ही इतनी उन्मत्तता छा गई।

(हे कामदेव ! इतना तो विचार कर कि) नगर के बाहर रास्ते में आते-जाते ऐसा कौन है कि जो (दोनों नेत्रों से जी भर कर) कन्हैया को नहीं देखता परन्तु तेरा (एक भी) पुष्प-बाण (उन) किसी पर भी संचारित नहीं होता और मेरे हृदय पर अपने पाँचो बाणों—सम्मोहन उन्माद, शोषण, तापन तथा स्तम्भन—का तूने प्रहार कर दिया। भाव यह है कि कृष्ण सहज-सौन्दर्य-मंडित हैं उन्हें हर कोई नयन भर कर देखता है पर कोई इतना पीड़ा-दंशित नहीं होता जितनी कि नायिका बाई आँख की कोर के देखने से होती है। बस उसकी कामदेव से यही शिकायत है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. मनमथ········बिवेक' में असंगति अलंकार है। साथ

ही इसमें 'तर्क व्यभिचारीभाव' भी विद्यमान है।

२. 'आव……परमाद' में विभावना अलंकार की व्यंजना है।

३. 'तोहर कुसुम-सर कतहुँ न संचर हमर हृदय पंचबान' का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है:—'तुम्हारे यह फूलों के बाण किसी पर भी नहीं चलते। यह तो मेरा हृदय है, जिसमें तुम्हारे पाँचों बाण आ धंसते हैं' —कुमुद विद्यालंकार।

(५३)

अवनत आनन कए हम रहलिहुँ बारल लोचन चोर।
पिया मुख-रुचि पिबए धाओल जनि से चाँद चकोर॥
ततहुँ सयँ हठ हटि मो आनल धएल चरनन राखि।
मधुप मातल उड़ए न पारए तइअओ पसारल पाँखि॥
माधब बोलल मधुर बानी सुनि मुँदु मोयँ कान।
ताहि अवसर ठाम बाम भेल धरि धनू पंचबान॥
तनु पसेब पसाहनि भासलि पुलक तइसन जागु।
चूनि चूनि भए काँचुअ फाटलि बाहु बलआ भाँगु॥
भन बिद्यापति कम्पित कर हो बोलल बोल न जाय।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन साम सुन्दर काय॥

शब्दार्थ:—अवनत-नीचे। बारल-मना करती रही, रोकती ही रही। मुख-रुचि-मुख की काँति। पिबए-पान करने के लिए। धाओल-प्रधावित हुए। जनि-मानो। से-वह, उन्हें। ततहुँ-वहाँ। से-वह, उन्हें। हटि-हटाया। आनल-लाई। धएल-धर दिया, रख दिया। मधुप मातल उड़ए न पारए-उन्मत्त भ्रमर उड़ नहीं पाता। तइअओ-फिर भी। पसारल-फैलाता है। मुँदु-मूँद लिया। मोयँ-अपने। बाम भेल-विरुद्ध हो गया। पंचबान-कामदेव। पसेब-प्रस्वेद, पसीना। पसाहनि-प्रसाधनी, अंगराग। भासलि-बह गया। पुलक-रोमांच। तइसन-वैसे ही, उसी प्रकार। जागु-जाग्रत हो गया। चूनि-चूनि भए काँचुअ-कँचुकी अथवा चोली चिथड़े-चिथड़े हो गई। बलआ भाँगु-कगन टूट गया। बोलल बोल न जाय-बोल नहीं निकलता।

प्रसंग :—राधा ने कृष्ण की रूप-माधुरी का पान किया, रूप की उन्मत्तता उसके प्राणों पर छाने लगी। काम के इस आक्रमण से त्राण पाने के लिये उसने अपने नेत्रों को बहुत बरजा, लेकिन रूप-लिप्सु नेत्रों को बरज न पाई और काम भावना की प्रखर अनुभूति में आमग्न हो गई। अपनी इसी आमग्नता को वह अपनी सखी से अत्यन्त सरलता से वर्णित करती है।

व्याख्या :—(माधव के जब दर्शन किये तो) मैं तो अपने मुख को नीचे झुका कर अपने चोर नेत्रों को (उधर जाने से) रोकती ही रही किन्तु (तब भी लाख मना करने पर भी) ये (रूप-लोभी चंचल, चतुर नेत्र) प्रियतम की मुखकाँति-सुधा का पान करने के लिये वैसे ही प्रधावित हुए, जैसे कि चन्द्रदर्शनाभिलाषी चकोर चन्द्रमा की ओर प्रधावित होता है।

मैं (फिर भी) उन्हें वहाँ से हठपूर्वक हटा लाई और चरणों में स्थित किया अर्थात् मैं नीचे की ओर देखने लगी परन्तु मधु-पान करने के उपरान्त उन्मत्त भ्रमर उड़ने में असमर्थ होकर भी पंख (अवश्य) फैलाता रहता है। भाव यह है कि उन्मत्त भ्रमर की भाँति नायिका के यौवन-चपल नेत्र कटाक्षों के रूप में रह-रह कर कृष्ण को देखने में तत्पर हो जाते थे।

कृष्ण (जब प्रेम भाव-भूरित) रसमयी वाणी में बोले, तो उस वाणी को सुन कर (प्राणोन्मत्तता से बचने के लिये) मैंने अपने कान मूँद लिये। (किन्तु क्या करूँ, होनी तो कुछ और ही थी) उसी अवसर पर धनुष-धारण कर कामदेव मेरा विरोधी हो गया अर्थात् मैंने कृष्ण पर मोहित होने के बाहरी साधनों को बहुत रोका लेकिन उनकी रसाप्लावित वाणी की थोड़ी सी अनुगुंजन ने मेरे मन को काम-दोलित कर दिया और मैं काम के पांचों वाणों से बुरी तरह आहत-व्याहत हो हो गई।

(मन के कामाभिभूत होने पर) मेरे शरीर के प्रस्वेद (पसीने) में (मेरा सारा) अंगराग बह गया और शरीर में ऐसा रोमांच जाग्रत हुआ कि मेरी कंचुकी (चोली) चिथडे-चिथड़े हो गई और हाथ का कंगन भी टूट गया। भाव यह है कि नायिका के शरीर की सारी धमनियों में कामोत्तेजना अत्यन्त प्रवेग के साथ प्रवाहित होने लगी।

विद्यापति कहते हैं कि राधिका (भाव-विदग्ध होकर) कहती है

कि मेरे हाथ प्रकम्पित हैं और वाणी अवरुद्ध । रूपनारायण राजा शिवसिंह की काया कृष्ण के समान सुन्दर है ।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'अवनत······चकोर' में वाक्यार्थोपमा अलंकार है ।

२. 'ततहुँ······पाँखि' निदर्शनालंकार की नियोजना हुई है ।

३, 'तनु······भाँगु' में अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार है ।

४. 'अवनत आनन', 'चाँद चकोर', 'हठ हटि', 'मधुपमातल' 'पसाराए पाँखि' 'मुँदु मोयँ', 'धरि धनू', 'पसेब पसाहनि' 'बाहु वलआ', 'कम्पित कर' तथा 'साम सुन्दर' में छेकानुप्रास की छटा है ।

५. प्रथम चार पंक्तियों उच्च काव्यात्मक वैभव के दर्शन होते हैं । इनमें अभिनयात्मकता, गतिशीलता एवं अलंकरण-चारुता का त्रिवेणी-संगम हुआ है ।

६. प्रस्तुत पद में शृंगार रस की पूरी सामग्री विद्यमान है, जो इस प्रकार है :—

(अ) स्थायी भाव :— रति ।

(ब) आलम्बन :— नायक ।

(स) उद्दीपन ;— नायक की मधुर वाणी

(द) अनुभाव :— प्रस्वेद, पुलक, प्रकम्प ।

(य) संचारीभाव :—व्रीड़ा, आनन अवनत करना और दृष्टि चरणों में स्थिर करना ।

७. इस पद के प्रसंग में अमरुकशतक का निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है :—

तद्वक्त्राभिमुखं मुखं विनमितं दृष्टिः कृता पादयोः
तस्यालापकुतूहलाकुलतरे श्रोत्रे निरुद्धे मया ।
पाणिभ्यां च तिरस्कृतः सपुलकः स्वेदोद्गमो गण्डयोः
सख्यः ! किं करवाणि यान्ति शतधा यत्कञ्चुके सन्धयः ।।

॥ कृष्ण की दूती ॥

(५४)

सुन सुन ए सखि कहिए न होए ।
राहि राहि कए तन मन खोए ।
कहइत नाम पेम भए भोर ।
पुलक कम्प तनु धरमहि नोर ॥
गद गद भाखि कहए बर-कान ।
राहि दरस बिनु निकस परान ॥
जब नहि देख तकर से मुख ।
तब जिऊ भार धरब कौन सुख ॥
तुम बिनु आन नहि इथे कोइ ।
बिसरए चाह बिसर नहि होइ ॥
भनइ विद्यापति नहि बिबाद ।
पूरब तोहर सब मन साध ॥

शब्दार्थ :—कहए न होय-कहा नहीं जाता । राहि-राधा । कए-कहकर । खोए-खो रहा है । भोर-बेसुध । धरमहिनोर-आँसू । दरस-दर्शन । निकस-निकले जाते हैं । तकर-उसका । से-वह । जिऊ-प्राण । धरब-धरूँगा । आन-दूसरा । इथे-इतना, यहाँ । बिसरए-बिस्मरण करना । बिबाद-सन्देह । पूरब-पूर्ण होगी । मन साध-मन की कामना ।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में कृष्ण की दूतिका राधा से कृष्ण की प्रेम-पीड़ा का वर्णन कर रही है ।

व्याख्या :—हे सखी ! सुनु, मेरी बात सुनो, (कृष्ण की उच्छ्वसित पीड़ा के विषय में) कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता अर्थात् वह सर्वथा अवर्णनीय है । वह कृष्ण प्रत्येक क्षण ही राधा-राधा कह कर अपने तन-मन की सुधि-बुधि को विस्मृत किये हुए है । (यदि कोई उसके सामने राधा नाम का उच्चारण कर देता है तो वह उसके प्रेम में अत्यन्त विभोर हो उठते हैं और उसका शरीर रोमाँचित होकर प्रकम्पित होने लगता है, उसे प्रस्वेद आ लाता है, और फिर आँसू उमड़ने लगते हैं । ('कहइत वाम प्रेम भए भोर' का अर्थ इस प्रकार

भी किया जाता है :—'तुम्हारा नाम लेते-लेते वह प्रेम में विभोर हो जाते हैं।' लेकिन यह अर्थ अधिक समीचीन तथा भाव-सौन्दर्य-मंडित प्रतीत नहीं होता क्योंकि पिछली पंक्ति में ही कृष्ण राधा-राधा कहकर अपने तन-मन की सुधि खो बैठे हैं।)

श्रेष्ठ कृष्ण अवरुद्ध वाणी में कहते हैं, कि राधा के दर्शन के बिना मेरे प्राण निकले जाते हैं। जब मैं उसका (ज्योत्स्ना-चारु एवं प्रीतिकर) मुख देख नहीं सकूँगा तब इन प्राणों के भार को ढोने में ही कौन सा सुख है। भाव यह है कि राधा के रूप-दर्शन के अभाव में कृष्ण को अपना जीवन ही भार-स्वरूप एवं निरर्थक प्रतीत होता है।

हे राधिके! तुम्हारे अतिरिक्त यहाँ उनका और कोई भी नहीं है अथवा तुम्हारे सिवाय अन्य कोई इतनी अधिक प्रिय नहीं है। वे तुम्हें विस्मृत करना चाहते हैं पर विस्मृत कर नहीं पाते। भाव यह है कि कृष्ण राधिका को अनन्य भाव से प्रेम करते हैं और वह उनके जीवन की अभिन्नरूपा स्मृति-मणि हो गई है।

विद्यापति कहते हैं कि (हे कृष्ण!) सुनो, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि तुम्हारी सारी मनोभिलाषाएँ पूर्ण होंगी अर्थात् तुम्हारा अपनी प्रियतमा राधा से आनन्दपूर्ण मिलन होगा।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'सुन सुन ए सखि कहिए न होए' में अतिशयोक्ति अलंकार है।

२. 'राहि-राहि' में वीप्सालंकार है।

३. 'बिसरए चाह बिसर नहि होइ' में विशेषोक्ति अलंकार है

४. सम्पूर्ण पद में भावशवलता अलंकार भी पाया जाता है।

(५५)

कंटक माँझ कुसुम परगास।
भमर विकल नहि पावए पास॥

भमरा भेल घुरए सब ठाम।
तोहे बिनु मालति नहि बिसराम॥

रसमति मालति पुन पुन देखि ।
पिबए चाहि मधु जीव उपेखि ।।
उ मधुजीबी तोन्ने मधुरासि ।
साँचि धरसि मधु मने न लजासि ।।
अपनेहु मने गुनि बुझ अवगाहि ।
तसु दूषन बध लागत काहि ।।
भनहि विद्यापति तौं पय जीब ।
अधर सुधारस जौं पय पीब ।।

शब्दार्थ :—माँझ-मध्य । परगास-प्रकाशित हुआ, प्रफुल्लित हुआ हो । भमर-भ्रमर । पावए-पाता है । धुरए-चक्कर लगाना । सब ठाम-सभी स्थानों पर । मालति-राधिका । रसमति-रसवन्ती । जीव उपेखि-जीवन की उपेक्षा करके । उ-वह । तोन्ने-तुम । साँचि धरसि-संचित करके रखती हो । मने-मन में । लजासि-लज्जित होती है । गुनि बुझ-सोच विचार कर । अवगाहि-परीक्षा कर । तसु-उसके । बध दूखन-वध का कलंक । लागत काहि-किसको लगेगा । तौं पय जीव-तभी जीवित रह सकता है । जौं पय पीब-यदि पी सके ।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में कृष्ण की दूतिका 'भ्रमर-मालती' की अन्योक्ति के माध्यम से राधा से कृष्ण के विरह की व्याकुलता एवं प्रेम-निष्ठा का वर्णन करती हुई कहती है ।

व्याख्या :—(कृष्ण की तेरे प्रति विकलता को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे) काँटों के मध्य में कोई पुष्प प्रफुल्लित हो और भ्रमर (उसकी मनोरमता को देखकर) उसका सान्निध्य पाने के लिये व्याकुल हो परन्तु । पुष्प के काँटों से घिरे होने के कारण) वह उसका सान्निध्य पाने में असमर्थ है अर्थात् हे राधा ! तेरा सौन्दर्य प्रफुल्लित पुष्प की भाँति अवदात है, कृष्ण तुझसे मिलने के लिए अत्यन्त आतुर हैं लेकिन सामाजिक बन्धन, लोक लज्जा तथा परिजनों की उपस्थिति आदि व्यवधानों के कारण तेरे निकट नहीं आ पाते ।

वह कृष्ण-रूपी भ्रमर (अत्यन्त आकुल-व्याकुल होकर) सभी स्थानों पर अर्थात् चारों ओर भटकता हुआ चक्कर लगाता फिरता है, लेकिन हे मालतीरूपिणी राधिके ! तेरे बिना उसको किञ्चित् मात्र भी विश्राम नहीं मिलता । भाव यह है कि भ्रमर जिस प्रकार मालती

को अनन्य भाव से प्रेम करता है और उसके असान्निध्य में भँवराता रहता है उसी प्रकार कृष्ण भी राधिका को प्राणों की अतल निष्ठा के साथ प्रेम करते हैं और उसकी असम्पर्क-वेला में स्थान-स्थान पर भटकते फिरते हैं और उनके प्राणों को तनिक भी शान्ति नहीं मिलती।

वह भ्रमर बार-बार रसवन्ती मालती को ही (लालायित होकर) देखता है और अपने प्राणों की उपेक्षा करके अर्थात् कंटकों से बिंध कर प्राणान्त की सम्भावना को दृष्टिओझल करके (मालती के) रसपान करने के लिये आकाँक्षित है। भाव यह है कि कृष्ण अपने प्राणों को संकट में डालकर भी राधिका को प्राप्त करने के लिये सन्नद्ध हैं।

वह तो मधु जीवी अर्थात् मधु के आश्रय से जीवन-यापन करने वाला है और तू मधु (रस) की आगार है। (उसका मधु के अभाव में प्राणान्त हो सकता है) तुझे उसी मधु को संचित करके रखते हुए लज्जा नहीं आती। भाव यह है कि कृष्ण स्वभावत: रसिक हैं, यौवन-रस का उपभोग ही उनका जीवन है और राधा यौवन-रस की भरी हुई गगरी है। इस रसोभोग के विना कृष्ण का जीवित रहना असम्भव है, यह दर्शाकर दूती राधिका के मन को कृष्ण के प्रति स्नेहिल-सम्वेदना से भर देना चाहती है—उसे कृष्ण को अपने यौवन को दान कर देने की प्रेरणा देती है।

हे मालतीरूपिणी राधिके! तू अपने हृदय में गहराई से सोच-विचार कि उसके बध का दोष किसको लगता है अर्थात् तुझे ही लगेगा (क्योंकि उसका जीवन तो तेरे रस पर ही अवलम्बित है और यदि तूने इसमें कृपणता बरती तो निश्चय ही उसका प्राणान्त हो जायेगा। इस प्रकार तुझको ही उसकी मृत्यु का अपराध लगेगा)

विद्यापति कहते हैं कि दूती कहती है कि हे राधे! वह तो तब ही जीवित रहेगा जब वह तुम्हारे अधरों के अमृतरस का पान कर सके। अर्थात् तेरा अधर रस ही अमृत की भाँति उसे जीवन दे सकता है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'कंटक......बास' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

२. 'भमरा......उपेखि' में अप्रस्तुत प्रशंसा (अन्योक्ति अलंकार है।

३. 'पुन पुन' में पुनरोक्ति प्रकाश है।

४. 'अफर सुधारस' में रूपकालंकार है।

५. 'पावए पास', 'भमरा भेल' तथा 'मधु मने' में छेकानुप्रास की छटा है।

६. प्रस्तुत सम्पूर्ण पद में अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

७. इस पद में अकुंठित भाव से कृष्ण के प्रेमावेग का वर्णन हुआ है।

(५६)

आज पेखल नन्द किसोर।
केलि-विलास सबहु अब तेजल अह निसि रहत बिभोर।
जब धरि चकित बिलोकि बिपिन-तट पलटि आओलि मुख मोरि।।
तब धरि मदन मोहन तरु कानन लुटइ धीरज पुनि छोरि।
पुनि सोइ नयन जदि हेरबि पाओब चेतन नाह।।
भुजंगिनि दंसि पुनहि जदि दंसए तबहि समय विष जाह।
अब सुभ खन धनि मनिमय भूषन भूषित तन अनुपाम।।
अभिसरु बल्लभ हृदय बिराजहु जनि मनि कांचन-दाम।

शब्दार्थ :—सबहु-सब कुछ। तेजल-त्याग दिया। अह निसि-अहर्निशि। बिभोर-बेसुध। जब धरि-जब से। तब धरि-तब से। लुटइ धीरज पुनि छोरि-धैर्य छोड़ कर (पृथ्वी पर) लोटते हैं। सोइ नयन-उसी दृष्टि से। जदि-यदि। पाओब चेतन-चेतना पायेंगे। नाह-नाथ, श्रीकृष्ण। भुजंगिनि-सर्पिणी। दंशि-दंशित कर, डस कर। तबहि-उसी। जाह-जाता है। धनि-सुन्दरी। अभिसरु-अभिसार करो। बल्लभ-प्रियतम। मनि कांचन दाम-सोने की माला में नीलम मणि।

प्रसंग :—कृष्ण की दूती राधिका से कृष्ण की विरहाकुलता का हृदय-द्रावक वर्णन कर उसको कृष्ण के प्रति प्रणयोन्मुख करने की चेष्टा करती है। साथ ही वह कृष्ण के साथ अभिसार करने की भी प्रेरणा प्रदान करती है।

व्याख्या :—(हे राधिके !) आज मैंने नन्द के पुत्र कृष्ण को देखा था। (तुम्हारी अदर्शना-जनित पीड़ा के कारण) अब तो उन्होंने समस्त क्रीड़ाओं तथा विलास का अथवा रति क्रीड़ा-कौतुक का परित्याग कर दिया है। और अब वह दिन-रात अर्थात् समय की सम्पूर्णता में (तेरे ध्यान में) बेसुध रहते हैं।

हे राधा ! जब से तुमने वृन्दावन की सीमा पर कृष्ण को उनके रूप से मोहित होकर चकित दृष्टि से विलोका है और फिर मुँह मोड़ कर, लौट कर चली आई हो, तभी से मदन मोहन (कृष्ण) अथवा कामाहत कृष्ण धैर्य को त्याग कर वृक्षों के नीचे पृथ्वी पर धूलि में) लोटते फिरते हैं अर्थात् वे तुमसे मिलन-हेतु अत्यन्त विकल हैं।

यदि उसी चंचल-चकित दृष्टि से फिर से कृष्ण को देखोगी तभी प्रियतम नाथ चेतना प्राप्त करेंगे, क्योंकि कहा जाता है कि सर्पिणी किसी को एक बार दंशित कर ले तो जब वह फिर दंशित करती है तो उसी समय विष का प्रभाव विनष्ट हो जाता है। अर्थात् तुम्हारी दृष्टि ने एक बार कृष्ण के प्राणों को विरह की पीड़ा के विष से भर दिया है, यदि उसी दृष्टि से फिर देखो तब ही उसके प्राणों के पीड़ा की समाप्ति होगी।

हे सुन्दरी ! यह अत्यन्त शुभ घड़ी है, मणिमय आभूषणों से अपनी अनुपम देह को सुसज्जित कर (संकेत-स्थल पर जाकर) अभिसार करो और अपने प्रियतम के हृदय में सोने का माला में गुम्फित नीलम मणि की भाँति प्रतिष्ठित हो जाओ। अर्थात् जिस प्रकार सोने की माला में गुथा हुआ मणि सुशोभित लगता है उसकी प्रकार तुम स्वर्ण सी दीप्त अपनी देह-यष्टि में नीलममणि से श्यामाभ कृष्ण को धारण कर लो।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'आजु......विभोर' में प्रेयस् अलंकार है।

२. 'पुनि......जाह' में दृष्टान्त अलंकार है।

३. 'अभिसरु. ....दाम' में वाक्यार्थोपमा अलंकार का प्रयोग हुआ है।

(५७)

ए धनि कमलिनि सुन हित बानि ।
प्रेम करबि जब सुपुरुष जानि ।।
सुजनक पेम हेम समतूल ।
दहइत कनक दुगुन होई मूल ।।
टूटइत नहि टूट पेम अद्‌भूत ।
जइसन बढ़इ मृनाल क सूत ।।
सबहु मतंगज मोति नहिं मानि ।
सकल कंठ नहि कोयल बानि ।।
सकल समय नहिं रीतु बसंत ।
सकल पुरुष नारि नहिं गुनवंत ।।
भनइ विद्यापति सुन बरनारि ।
प्रेम क रीत अब बुझह बिचारि ।।

शब्दार्थः—धनि कमलिनि-पद्मिनी रमणी । हित बानी-हित की वाणी । पेम करित्र-प्रेम करना । सुपुरुष जानि-सज्जन अथवा सुपात्र जान कर । सुजनक-(सु+जन+क) सज्जन का । हेम समतूल-स्वर्ण के समतुल्य । दहइत-तपाने पर । कनक-स्वर्ण । दिगुन होइ मूल-द्विगुणित मूल्य का हो जाता है । टूटइत नहि टूट-तोड़े जाने पर भी नहीं टूटता है । जइसन-जिस प्रकार । मृनाल क सूत-मृणाल का सूत्र, कमल की डंठल तोड़ने पर निकलने वाला धागा । मतंगज मोति-गजमुक्ता । मानि-समझना चाहिए । कोइल बानि-कोकिल की काकली । रीतु-ऋतु । बुझए-समझो ।

प्रसंगः—प्रस्तुत पद में कृष्ण की दूती राधा को प्रेम-पात्र की उत्तम कसौटी बतलाती हुई सांकेतिक रूप में कृष्ण की सुपात्रता का द्योतन कर उसे उनके प्रति अनुरक्त होने की प्रेरणा देती है ।

व्याख्या :—हे पद्मिनी रमणी ! तू अपने हित की वाणी सुन—बात सुनो अर्थात् मैं जो कुछ कह रही हूँ वह तेरी हित की ही बात है । तुम सुपात्र अर्थात् व्यक्ति को सुलक्षणपूर्ण जान कर ही प्रेम करना । (क्योंकि व्यक्ति की सुलक्षणता को परखने के उपरान्त ही प्रेम करना चाहिए) ।

(सज्जन के प्रेम के रूप को समझाती हुई दूती कहती है कि) सज्जन का प्रेम स्वर्ण के समतुल्य होता है, जो प्राप्त किये जाने पर द्विगुणित मूल्य का अर्थात् बहुमूल्य हो जाता है। (इसी प्रकार सज्जन का प्रेम विरह की अग्नि की प्रतप्तता में अधिक शुद्धत्व को प्राप्त होता है अर्थात् उसमें वह और भी पुष्ट हो जाता है।

(सज्जन का) प्रेम ऐसा विचित्र होता है कि तोड़े जाने पर भी नहीं टूटते, वह कमल-नाल के तोड़े जाने से निकले धागे की तरह बढ़ता ही जाता है। अर्थात् प्रेम की सूक्ष्म तरलता मृणाल के सूत्रों की भांति प्रेमी और प्रमास्पद को जोड़े रखती है। भाव यह है कि सज्जन का प्रणय व्यववानों के उपस्थित होने पर अटूट रहता है, वह और भी पुष्ट हो जाता है।

सभी हाथियों के मस्तक में गजमुक्ता नहीं समझना चाहिए, सभी कंठों में कोकिल की काकली (सी मधुरता) नहीं होती और प्रत्येक समय (आह्लादकारिणी एवं अतुलित शोभा सम्पन्ना) वसन्त ऋतु नहीं होती अर्थात् मूल्यवान वस्तुएँ और क्षण हर स्थान और समय में उपलब्व नहीं होते, (इसी प्रकार) सभी नारियाँ और पुरुष भी गुण-शाली नहीं होते। (दूती का मन्तव्य यह है कि कृष्ण की प्रेम-पात्रता असंदिग्ध है, राधिका भी श्रेष्ठ सुन्दरी है और यौवन की मधु ऋतु भी उपस्थित है अतएव इन दोनों को परस्पर प्रेम में अनुबद्ध हो ही जाना चाहिए।)

विद्यापति कहते हैं कि दूती कहती है कि हे श्रेष्ठ सुन्दरी! सुनो, प्रेम की रीति को अब तुम (अपने मन में भली भाँति) विचार पूवक समझ लो। अर्थात् अन्य पुरुषों की तुलना में कृष्ण की प्रेम-पात्रता के सम्बन्ध में गम्भीरता पूर्वक विचार कर लो।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'ए धनि.............बानि' 'हेम समतूल' में लुप्तोपमा अलंकार है।

२. 'दहइत......मूल' में अप्रस्तुत प्रशंसा है।

३. 'टूटइत.........सूत' में वाक्यार्थोपमा अलंकार है।

४. 'सबहु.........गुनवंत' में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

५. विद्यापति ने 'सबहु मतंगज मोति नहि मान' में संस्कृत-उक्ति 'मौक्तिक न गजे' गजे का भावानुवाद कर दिया है।

६. नायिका-भेद में गुणानुसार स्त्री जाति के चार भेद माने जाते हैं—१. पद्मिनी २. चित्रणी ३. शंखिनी ४. हस्तिनी। इनमें सर्वोत्कृष्ट पद्मिनी है। इस पद की दूती द्वारा सम्बोधित 'धनि कमलिनि' नायिका भी पद्मिनी कोटि की नारी है।

॥ राधा की दूती ॥

(५८)

सुन मन मोहन कि कहब तोय।
मुगधिनि रमनि तुग्र लागि रोय॥
निसि दिन जागि जपए तुग्र नाम।
थर थर काँपि पड़ए सोइ ठाम॥
जामिनि ग्राध ग्रधिक जब होइ।
विगलित ल:ज उठए तब रोइ॥
सखिगन जत परबोधए जाय।
तापिनि ताप ततहि तत ताय॥
कह कवि-सेखर ताक उपाय।
रचइत तबहि रयनि बहि जाय॥

शब्दार्थ :—कि कहब तोय-तुम से क्या कहूँ। मुगधिनि-मुग्धा, प्रेमासक्ता। तुग्र लागि-तुम्हारे लिये। रोय-रोती है। सोइ ठाम-उसी स्थान पर। जामिनि-यामिनी, रात्रि। विगलित लाज-लाज त्याग कर। उठए तब रोइ-तभी रो उठती है। जत परबोधए-जाय। जितना प्रबोध देती हैं। तापिन-ज्वाला से प्रज्वलित। ततहि तत-उतना ही उतना। ताय-प्रज्वलित होती रहती है। ताक-उसका। रचइत-करते हुए। बहि जाय-बीत जाती है।

प्रसंग :—राधा की दूती कृष्ण से राधिका की विरहाकुलता-जनित पीड़ार्द्र दशा का वर्णन करती है।

व्याख्या :—हे (राधिका के मन को मोहने वाले) कृष्ण ! सुनो,

मैं तुम से (उस राधा की विरह-जर्जरित दशा के विषय में) क्या कहूँ अर्थात् उसकी पीड़ा सर्वथा अकथनीय है। वह मुग्धा रमणी (राधा) (प्रेमासक्त होकर) तुम्हारे लिये रोती रहती है।

(तुम्हारी स्मृति से दंशित होकर) वह दिन रात अर्थात् समय की समग्रता में जागकर निरन्तर तुम्हारे नाम का जाप करती रहती है और (पीड़ा की उत्तेजना से) थर-थर काँप कर उसी स्थान पर गिर पड़ती है।

रात्रि जब आधी से अधिक व्यतीत हो जाती है तब वह (कुटुम्बी जनों की) लज्जा का त्याग कर उठती है अर्थात् उसकी पीड़ा अमित है जो लाज तक का बन्धन नहीं मानती।

सखियाँ उसको जितना ही प्रबोधती हैं—सान्त्वना प्रदान करती हैं, वह विरहिणी विरह की ज्वाला से उतनी अधिक ही प्रज्वलित होने लगती है।

कविशेखर विद्यापति कहते हैं कि दूती कृष्ण से कहती है कि जब तक उसकी विरह की प्रतप्तता को प्रशमित करने का उपाय किया जाता है तब तक रात्रि ही बीत जाती है (और फिर वही अविरल पीड़ा का क्रम प्रारम्भ हो जाता है)

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'निसि दिन······तब रोइ' में प्रेयस् अलंकार है।

२. 'सखिगन ·····ताय' में सखियों के प्रबोधन के कारण होने पर भी पीड़ा दूर होने के कार्य की सिद्धि न होने के कारण विशेषोक्ति अलंकार है।

३. 'थर-थर' में वीप्सालंकार है।

(५६)

माधव ! कि कहब से विपरीत।
तनु-भेल जरजर भामिनि अंतर चित बाढ़ल तसु प्रीति ॥
निरस कमल-मुख, कर अवलंबइ, सखि माँझ वइसलि गोइ।
नयनक नीर थीर नहिं वाँधइ पंक कयल महि रोइ ॥
मरम क बोल बयन नहिं बोलए तनु भेल कुहु-सखि खीना।
अबनि ऊपर धनि उठए न पारइ धएलि भुजा धरि दीना ॥

तपत कनक जनि काजर भेल तनु अति भेल बिरह हुतासे ।
कवि विद्यापति मन अभिलासत कान्ह चलह तसु पासे ।।

शब्दार्थ :—कि कहब से विपरीत-उसकी बुरी दशा क्या कहें । जरजर-जर्जर, क्षीण । अन्तर चित-आभ्यान्तर से, भीतर मन में । तसु-उसका । निरस-नीरस, उदास । कर अवलम्बइ-हाथ के सहारे रखती है । बइसलि गोइ-छिपा कर बैठती है । नयनक नीर-अश्रु । थीर-स्थिरता, धैर्य । कयल-कर दी है । मरम क बोल-हृदय की बात । बयन नहिं बोलए-वाणी से नहीं बोलती । कुहु-ससि-अमा का चन्द्रमा । धएल भुजा धरि दीना-हाथ पकड़ कर संभालती हैं । तपत कनक-तपाए हुए स्वर्ण । हुतासे-अग्नि । चलह तसु पासे -उसके पास चलो ।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में राधा की दूती कृष्ण से विरह-विपन्ना राधा की रीगी-भीगी दशा का वर्णन कर उन्हें उसके पास जाने की प्रेरणा देती है ।

व्याख्या :—हे माधव ! मैं उस (विरह-निपीड़िता राधा) की बुरी दशा का कैसे वर्णन करूं ? अथवा मैं तुम से क्या कहूँ, उसकी (सारी अवस्था ही) उलटी है । (विरह के कारण) उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है, (लेकिन इसके साथ ही) उस सुन्दरी के आभ्यन्तर में (तुम्हारे प्रति) प्रेम बढ़ गया है अर्थात् प्रगाढ़ हो गया है । भाव यह है कि तुम्हारे सान्निध्य की वेला में ज्यों-ज्यों उसके हृदय में तुम्हारे प्रति प्रेम बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसका शरीर जर्जर होता जाता है । यही है उस रमणी की विपरीत अवस्था ।

वह अपने (लावण्य के) रस से हीन कमल-मुख को अपने हाथ का आश्रय देकर अपनी सखियों के बीच छिप कर बैठ गई है । भाव यह है कि अपने प्रियतम कृष्ण रूपी सूर्य के अदर्शन से कमलिनी की भाँति राधा का मुख निष्प्रभ हो गया है और मुरझा कर लटक गया है वह हाथ का अवलम्बन देकर उसे टिकाये हुए है, सखियों के समाज से भी असम्प्रक्त है—वह 'घन आनन्द मीत सुजान बिना सब ही सुख साज समाज टरे' की अनुभूति कर रही है । उसके नयनों का अश्रु-जल स्थिर होकर नहीं रह पाता । वह अविरल रूप से अश्रु-निर्झरण कर रही है जिसके कारण उसने पृथ्वी पर कीचड़ कर दी है ।

(उसकी पीड़ा अन्तरोन्मुखी है इसी कारण वह अपने हृदय

की मार्मिक कथा को वाणी से प्रगट नहीं करती अर्थात् वह 'छिपी ही रहेगी व्यथा, घुटे चाहे जितनी व्यथा' की प्रखरतम अनुभूति करती रहती है, जिसके कारण उसका शरीर अमावस्या के चन्द्रमा की भाँति अत्यन्त क्षीण हो गया है। अर्थात् वह अत्यन्त दुर्बल गात हो गई है और उसकी ज्योत्स्ना-धवल देह-काँति अमा-चन्द्र की (भाँति विरह की झुलसन की कालिमा में छिप गई है। (विरह-जनित दौर्बल्य के कारण) वह सुन्दरी पृथ्वी से अपने आप उठ भी नहीं पाती; सखियाँ ही उस दुःखिनी को भुजाओं का सहारा देकर उठाती हैं। भाव यह है कि राधिका नितान्त शक्तिहीन तथा वेसुध हो गई है।

प्रतप्त स्वर्ण की भाँति उसकी काँति-युक्त स्वर्ण काया विरह की अग्नि में झुलस कर काजल की भाँति श्यामल हो गई है। कवि विद्यापति मन में यही इच्छा करते हैं कि (दूती कृष्ण से कहे कि) कन्हैया उस (राधा) के निकट चलो।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'कमल-मुख' में रूपकालंकार है।

२. 'पंक कयल महि रोई' में अत्युक्ति है।

३. 'कहु-ससि' में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है।

४. 'अबनि……दीना' में अत्युक्तिपूर्ण वर्णन है।

५. 'तपत……हुलासे' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

६. 'विद्यापति ने शरीर की जर्जरता, अविरल अश्रु-निपातन, मौनालम्बन तथा क्षीणता के द्वारा विरहिणी राधा का अत्यन्त सजीव एवं करुणार्द्र चित्र अंकित किया है।

(६०)

लोटइ धरनि, धरनि धरि सोइ।
खने खन साँस खने खन रोइ॥
खने खन मुरछइ कंठ परान।
इथि पर की गति दैब से जान॥
हे हरि पेखलौं से वर नारि।
न जीवइ बिनु कर-परस तोहारि॥

केश्रो केश्रो जपए वेद दिठि जानि ।
केश्रो नवग्रह पुज जोतिश्र श्रानि ।।
केश्रो केश्रो कर धरि धातु विचारि ।
विरह विखिन कोइ लखए न पारि ।।

शब्दार्थ:—लोटइ-लोटती है। सोइ-सोती है। खने खन-क्षण-क्षण में। साँस-निःश्वास भरती है। मुरछइ-मूर्छित हो जाती है। कंठ परान-प्राण कठ तक श्रा जाते हैं। इथि पर-इसके उपरान्त। दैब से जान-देव ही जाने। पेखलौं-देखा। से-वह। न जीवइ-जीवित नहीं रहेगी। कर-परस- कर का स्पर्श। केश्रो-कोई। दिठि जानि-नजर लगी हुई समझ कर। पुज-पूजाते हैं। जोतिश्र-ज्योतिषी। श्रानि-बुला कर। धरि-धारण कर, पकड़ कर। धातु-नाड़ी। विरह-विखिन-विरह की दुर्बलता। कोई लखए न पारि-कोई नहीं समझ सकता।

प्रसंग:—राधा की दूती कृष्ण से राधा की विरहोद्भूत प्राण-दंशिका पीड़ा का मार्मिक वर्णन करती है।

व्याख्या:-(तुम्हारे विरह में सुध-बुध खोकर) वह राधा तो पृथ्वी पर लोटती है और पृथ्वी पर पड़ी हुई ही सोती है। अर्थात् वह चेतना-शून्य सी हो रही है। क्षण-क्षण में ही वह निःश्वासें भरने लगती है और क्षण-क्षण में ही वह रोने लगती है। तात्पर्य यह है कि वह उच्छ्वासों के साथ रुदन-रत है।

(पीड़ाधिक्य को न सह सकने के कारण) क्षण भर में ही वह मूर्छित हो जाती है और उसके प्राण कंठ तक श्रा जाते हैं अर्थात् वह मरणान्तक हिचकियाँ लेने लगती है। इसके उपरान्त उसकी क्या दशा होती होगी यह तो भगवान ही जानता है। (क्योंकि वह गहरी मूर्च्छना-समाधि में निमग्न हो जाती है—उसका शरीर निष्चेतन-सा हो जाता है।

हे (पीड़ा का हरण करने वाले हरि! मैंने उस श्रेष्ठ सुन्दरी को देखा है, वह तुम्हारे हाथों के स्पर्श के विना अब जीवित नहीं रह सकती। भाव यह है कि दूती कृष्ण को हरि नाम से सम्बोधित कर राधा की पीड़ा को हरने की प्रेरणा देती हुई कहती है कि तुम अपने मधुर कर-स्पर्श से राधिका को मृत्यून्मुखी होने से बचाश्रो।

(उसके इस मूर्छित विरहोन्माद को) वह जान कर कि उसे नजर लग गई है, कोई-कोई वेद मन्त्रों का पाठ करने लगती हैं और (उसकी इस दशा को बुरे ग्रहों का परिणाम मान कर उनको शान्त करने के उद्देश्य से) ज्योतिषी को बुलाकर कोई-कोई नवग्रहों की पूजा कर रही है।

(उसको भीषण रोग-ग्राग्रसित समझकर) कोई-कोई (सखी) उसका हाथ पकड़कर नाड़ी (नब्ज) का विचार कर रही है। (लेकिन कैसी बात है कि) कोई भी यह नहीं समझ पाता कि वह विरह के कारण इतनी क्षीण अथवा विक्षिप्ता हो रही है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'धरनि धरनि धरि' में वृत्यानुप्रास है।

२. 'खने खन.........रोइ' में वीप्सालंकार है।

३. 'खने खन मुरछइ..... जान' में प्रेयस् अलंकार है।

४. 'हे हरि..... तोहारि' में विनोदोक्ति है।

५. प्रस्तुत पद में विद्यापति ने ऊहाओं का प्रयोग किया है, किन्तु इसमें प्रयुक्त ऊहाएँ 'मजाक' की कोटि की नहीं हैं अपितु वे जीवन की गम्भीर संवेदना-भूमि पर आधृत हैं, उनमें शुद्ध कवित्व के परिदर्शन होते हैं।

६. प्रस्तुत पद में अंकित विरहिणी की चित्रणा के संदर्भ में 'भारतेन्दु' जी का निम्न वर्णन द्रष्टव्य है:—

"थाकी गति अंगन की, मति परि गई मन्द,
सूख झांझरी सी है कै देह लागी पियरान।
बावरी सी बुद्धि भई हाँसी काहू छीन लई,
सुख के समाज जित-तित लागे दूर जान॥
'हरीचन्द' कान्ह के बिरह में जग दुखमयौ
भयो, कछू और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैन हूँ अथाह लागे,
दूर प्राननाथ, अब प्राण लागे मुरझान॥

(६१)

लाखे तरुवर कोटिहिं लता जुवति कत न लेख ।
सब फूल मधु मधुर नहि फूलहु फूल बिसेख ।।
फुल भमर निदहु सुमर बासि न विसरए पार ।
जाहि मधुकर उड़ि उड़ि पड़ सेहे संसार क सार ।।
सुन्दरि अवहु वचन सुन ।
सबे परिहरि तोहि इछ हरि आपु सराहहि पुन ।।
तोहरे चिंता तोहरे कथा सेजहु तोहरे चाव ।
सपनहु हरि पुन पुन कए लए उठाए तोर नाव ।।
आलिंगन दए पाछु निहारए तोहि बिनु सून कोर ।
अकथ कथा आपु अवथा नयन तेजए नोर ।।
राहि-राही जाहि मुँह सुनि ततहि अप्पए कान ।
सिरि सिवसिंघ ई रस जानए कवि बिद्यापति भान ।।

शब्दार्थ:—लाखे-लाखों । कत न लेख-कितनी असंख्य । मधु-पराग, पुष्प रस । फूलहु फूल बिसेख-फूलों में भी कोई विशेष फूल होता है । निदहु-नींद में भी स्मरण करता है । वासि न बिसरए पार-सुगन्ध नहीं भूल पाता । मधुकर-भ्रमर । पड़-पड़ता है । सेहे-वही (फूल) । संसार क-संसार का । सबे परिहरि-सबको त्याग कर । इछ-इच्छा करते हैं । आपु-अपनी । सराहहि-सराहना करो । पुन-पुण्य । तोहरे-तुम्हारी । सेजहु-शैय्या पर भी । चाव-चाहना । पुन पुन कए-बार-बार । नाव-नाम । पाछु-पीछे । निहारए-देखते हैं । सुन-शून्य । कोर-अंक, गोद । अवथा-अवस्था । नोर-अश्रु जल । राहि राही-राधा-राधा । जाहि मुँह सुनि-जिसके मुख से सुनते हैं । ततहि-उसी ओर । अप्पए-अर्पित करते हैं ।

प्रसंग :—राधा की दूती कृष्ण के पास से लौट कर आई है, वहां उसने राधा के विरह में कृष्ण की असहनीय व्यथा देखी है, वह उसी की कथा राधा से कहती है ।

व्याख्या:—जिस प्रकार इस संसार में लाखों ही वृक्ष हैं और करोड़ों लताएँ हैं उसी प्रकार कितनी ही असंख्य रमणियाँ हैं । सारे ही पुष्प मकरन्द-युक्त माधुर्य से सम्पन्न नहीं होते । पुष्प में भी कुछ पुष्प (आमंत्रणा-पूर्ण मधुरिमा की) विशेषता से सुलसित होते हैं । जिस

पुष्प को भ्रमर उसके आकर्षण एवं सौन्दर्य में आमग्न होकर) स्वप्न में भी स्मरण करता है और उसकी (प्राणोन्मादक) सुगन्धि को भुला नहीं पाता तथा साथ ही जिस पर वह बार बार उड़ कर बैठता है वही पुष्प संसार का सार है। अर्थात् हे राधिके ! तुम भी उस विशिष्ट पुष्प की भाँति ही अनुपम यौवन-सुगन्धि तथा आमंत्रक आकर्षणमयता से सुशोभित हो, कृष्ण तुम्हारी रूपच्छवि को स्वप्नावस्था तक में विस्मरण नहीं कर पाते, तेरा जीवन सार्थक है।

हे सुन्दरी, तू अब भी मेरे बचनों को (ध्यान से) सुन। कृष्ण सब कुछ का अर्थात् अन्य रमणियों के प्रति अनुरक्तता एवं संसार के सुख-वैभव का परित्याग कर तेरी ही इच्छा करते हैं, तू अपने पुण्यों की सराहना कर।

(कृष्ण तेरे प्रति प्रगाढ़ प्रेम में डूबे हुए हैं तभी तो) वे (समय के प्रत्येक अणु में) तेरी ही चिन्तना करते हैं, वे सदैव तेरी ही (रूप-गुण की) कथा को (अत्यन्त भाव-विभोर होकर) कहते हैं और शैय्या पर भी (प्रणय-विदग्ध होकर) तेरी ही चाहना करते हैं। वे कृष्ण स्वप्न में बार-बार तेरा नाम ले उठते हैं अर्थात् तू उनकी जाग्रतावस्था तथा स्वप्नावस्था दोनों की ही प्रणय-रूपसि है।

(वे कृष्ण तेरे समाधि-सदृश्य ध्यान में उन्मादित से होकर) अपने आप ही आलिंगन देने लगते हैं (उन्हें भ्रम हो जाता है कि तुमको ही अपने आलिंगन में आबद्ध कर रहे हैं) किन्तु जब वह अपनी अंक को शून्य पाते हैं अर्थात् अपने बाहु-पाश में तुझे नहीं पाते। तो वे पीछे की दिशा में देखने लगते हैं। (कदाचित् उन्हें फिर भ्रम हो जाता है कि बाहु-पाश छुड़ा कर तू कहीं भाग तो नहीं गई।) (हे राधा !) उनकी (विरह-व्यथा की) कथा सर्वथा अकथनीय है। वह अपनी (विरह-विगलित) अवस्था पर विचार कर अपने नेत्रों से अश्रु जल का निर्झरण करने लगते हैं। भाव यह है कि कृष्ण राधा के विरह में प्राण-घातिनी पीड़ा का अनुभव कर रहे हैं।

(तेरे प्रति उनका अनुराग इतना सघन है कि) वह जिस किसी के मुख से 'राधा' 'राधा' नाम सुन पाते हैं, उसी की ओर अपने कान लगा देते हैं। तात्पर्य यह है कि कृष्ण आँखों से तो राधा को देखने में अवश हैं, इसीलिए वह कानों के माध्यम से ही राधा को ग्रहण करने के समुचित अवसर का पूरा लाभ उठाते हैं।

कवि विद्यापति कहते हैं कि राजा शिवसिंह इस रस को जानते हैं।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'लाखे......सार' में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

२. 'तोहरे चिता......कोर' में प्रेयस् अलंकार है।

३. प्रस्तुत पद में विद्यापति ने कृष्ण की प्रज्वलित पीड़ा की सफल अभिव्यक्ति की है। विद्यापति के कृष्ण की भाँति ही चण्डीदास के कृष्ण के लिए भी संसार राधामय है, राधा उनकी प्राण-चेतना की एकमेव सत्य है। कितनी करुणा से भरी हैं चन्डीदास की ये पँक्तियाँ :—

"गृह माझे राधा, कानने ते राधा, सकले राधारे देखि।
शयने भोजने गमने राधिका, राधिका सदाइ मति।"

॥ संकेत ॥

(६२)

कर धरु करु मोहे पारे, देव में अपरुब हारे, कन्हैया ॥
सखि सब तेजि गेली, न जानू कौन पथ भेली, कन्हैया ॥
हम न जाएब तुअ पासे, जाएब औघट घाटे, कन्हैया ॥
विद्यापति एहो भाने, गूजरि भजु भगवाने, कन्हैया ॥

शब्दार्थ :—कर धरु-हाथ ग्रहण। पारे-उस पार। देव-दूँगी। में-मैं। अपरुब हारे-अपूर्व हार। तेजि गेली-छोड़ कर चली गईं। कोन पथ भेली-किस मार्ग गईं। न जाएब तुअ पासे-तुम्हारे पास नहीं जाऊँगी। औघट घाट-निर्जन घाट। एहो-यह। भाने-कहते हैं। गूजरि-ग्वालिनी।

प्रसंग:—यह एक यमुना-तट का प्रीति की सांकेतिकता से भरा हुआ चलचित्रात्मक दृश्य है। सखियों से बिछुड़ी राधा की यमुना के तट पर कृष्ण से भेंट हो जाती है। नारियोचित व्यंग्य के माध्यम से राधा नाविक कृष्ण के सम्मुख अपने समर्पण को व्यक्त कर देती है।

व्याख्या :—हे कृष्ण ! कन्हैया, तुम (मेरा) हाथ ग्रहण कर मुझे उस पार कर दो, (इस उतराई के उपलक्ष्य में) मैं तुमको अपूर्व हार दूँगी। मेरी सारी सखियाँ मुझे (अकेला) छोड़ कर चली गई, मैं यह भी नहीं जानती हूँ कि वे किस पथ से गई हैं। [व्यंग्य-भूमि पर इन पँक्तियों का अर्थ इस प्रकार हो सकता है—हे कृष्ण ! (मैं तुम्हारे प्रति पूर्णरूप से समर्पिता हूँ अतः) तुम (मेरा) पाणि-ग्रहण कर मुझे (यौवन-रस की सरिता के) उस पार कर दो। इस उतराई के उपलक्ष्य में मैं तुम्हें (गलबाहों) का अद्वितीय हार दूँगी। (और हाँ सुन्दरछल से) सखियाँ मुझे नितान्त अकेली छोड़ गई हैं. वे किस पथ से गई हैं इसका मुझे कोई ज्ञान नहीं है। तात्पर्य यह है कि हम तुम दोनों इस बेला में सुरक्षित एकान्त में हैं।]

मैं तुम्हारे निकट नहीं जाऊँगी, हे कन्हैया ! मैं निर्जन घाट पर जाऊँगी। [[व्यंग्य-भूमि पर इसका भाव है कि तुम्हारे निकट इसलिए नहीं आऊँगी कि हो सकता है सखियां यहाँ देख लें, वे चली जरूर गई हैं, पर क्या पता वे नटखटपन के कारण यहीं कहीं लुक छिप गई हों। अतः मैं तो बिल्कुल ही निर्जन घाट पर जाऊँगी। (तुम वहाँ पर चलो, वहाँ हमारा मिलन निष्कण्टक तथा निर्बाध होगा।)]]

विद्यापति कहते हैं कि हे ग्वालिनी ! तू कृष्ण का भजन कर अथवा कृष्ण में मन लगा।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. प्रस्तुत पद में राधिका की रति-लालसा के पोषक तत्त्व के रूप में 'अवहित्थ' संचारी भाव होने के कारण प्रेयस् अलंकार है।

२. प्रस्तुत पद के भाव-सौन्दर्य को पूरी तरह हृदयंगम करने के लिए विद्यापति साहित्य के विद्वानों के निम्नलिखित मत द्रष्टव्य हैं:—

(अ) "स्त्रियों के हाथ पकड़ने का अधिकार केवल पति को है, किन्तु राधा स्वयं हाथ पकड़ने के लिए प्रार्थना कर आत्म-समर्पण करतीं है। माधव को गले का हार देकर गले का हार भी बनाना चाहती है। सखियों का साथ न होना और उनका अज्ञात पथ से जाना व्यंजना-वृत्ति के द्वारा सूचित करता है कि सखियों के आने की कोई सम्भावना नहीं है। यहाँ लोग आते जाते हैं, यह एकान्त स्थान नहीं है, यही कारण है कि आत्म-समर्पण करने पर भी मैं तुम्हारे पास

जाना नहीं चाहती हूँ। मैं अवघट घाट जा रही हूँ, वह निर्जन स्थान है। चलो, हम दोनों वहाँ एकान्त स्थान में क्रीड़ा करें।

—पं० शिवनन्द ठाकुर

(ब) "प्रस्तुत पद विद्यापति के उन पदों में से है, जिनमें मनोविज्ञान का सूक्ष्म-दर्शन होता है। नोक-झोंक के पर्दे में आत्म-समर्पण का तूफान उठता रहता है—'करु धरु करु मोहे पारे' सर्वथा आत्म-समर्पण का रूप है, यमुना के उस पार जाने की कोई बात यहाँ नहीं ढूँढ़ी जा सकती। 'सखि सब तेजि चलि गेली' —सखियां मुझे छोड़ कर चली गई—मैं ही उनकी परवाह क्यों करूँ। वह स्पष्ट शब्दों में निर्देश करती है कि उसे सखियों का अनुसरण नहीं करना है। जब मार्ग का ज्ञान नहीं तो अनुसरण कैसा? फिर भी—"हम न जाएब तुम पासे। जाएब औघट घाटो।" कहकर प्रेमी हृदय के लिए सुचतुरा नायिका व्यग्रता की भूमि में फेंक देती है। नोक-झोंक का रूप यहां इतना मोहक हो उठता है, जिसका वर्णन संभव नहीं, अनुभव भले शक्य हो। प्रेमिका प्रेमी के देखते-देखते कैसे औघट घाट जा सकती है, जाए भी तो प्रेमी उसका पल्ला कैसे छोड़ देगा—और दोनों साथ हीं औघट घाट पहुँचे तो उसे ही स्वर्ग समझिए, नन्दन कानन कहिए। प्रेम भरित हृदय को तो इस औघट घाट की ही अपेक्षा रहती है।"

—श्री कुमद विद्यालंकार

३. प्रस्तुत पद की समतुलना में मतिराम का निम्न कवित्त भी द्रष्टव्य है। इसमें लोक-जीवन के जीवन्त परिपार्श्व में नायिका नायक को अपने आत्म-समर्पण की व्यंजना करती है:—

आई हौं निपट सांझ गैया गई घर मांझ,
ह्यांते दौरि आई, मेरो काम कीजिए।
हौं तो हौं अकेली और दूसरो न देखियत,
बन की अंधियारी सों अधिक भय भीजिए॥
कवि 'मतिराम' मनमोहन सौं पुनि-पुनि,
राधिका कहति बात सांच कै पतीजिए।
कब की हौं हेरति न हेरे हरि पावत हौं,
बछड़ा हिरान्यौ सो हिराय नक दीजिए॥

(६३)

नाव डोलाव अहीरे, जिबइत न पाओब तीरे, खरनीरे लो।
खेबा न लेअए मोले, हँसि हँसि की दहु बोले, जिब डोले लो।।
किए बिके ऐलिहु आपे, बेढ़लिहु मोहि बड़ सापे, मोरे पापे लो।
करितहुँ परउपहासे, परिलिहुँ तन्हि विधि-फाँसे, नहिं आसे लो।।
न बूझसि अबुझ गोआरी, भजि रहु देव मुरारी, नहिं गारी लो।
कवि विद्यापति भाने नृप सिवसिंघ रस जाने नव कान्हे लो।।

शब्दार्थ :—डोलाब-चलाओ। जिबइत-जीवित। न पाओब तीरे-उस पार नहीं पहुँचूँगी। खर नीरे-प्रखर जल-धार। खेबा-उतराई। न लेअए मोले-मूल्य (दाम) के रूप में नहीं लेता। हँसि हँसि की दहु बोले-हँस हँस कर न जाने क्या बोलते हो। जिब डोले-प्राण प्रकम्पित हैं। किए-क्यों। विके ऐलिहु आपे-अपने आप बिकने आई। बेढ़लिहु-आ घेरा। बड़ सापे-भयंकर अभिशाप या सर्प। करितहुँ परउपहासे-दूसरों की हँसी करती थी। परिलिहुँ-पड़ गई। तन्हि-उसी से। विधि फाँसे-दुर्भाग्य के फेर में। गोआरि-ग्वालिन। नहिं गारी-गाली मत दे। नव कान्हे-युवक कृष्ण।

प्रसंगः—राधिका रसिक कृष्ण के साथ नाव पर बैठी है। कृष्ण हैं कि नौका चलाना भूलकर चँचल हो उठे। कृष्ण की रसमयता से घबडा कर लोक-लाज-भीरु राधिका अत्यन्त आकुल-व्याकुल होकर समझाने के स्वरों में कृष्ण से कहती है।

व्याख्याः—हे अहीर! नौका चलाओ। (सरिता के वक्ष पर खुले प्रकाश में यदि तुमने मेरे साथ कोई अकांड-कांड रचने का उपक्रम किया तो) मुझको किनारे तक जीवित नहीं पा सकोगे। (देख लो यहाँ बीचो बीच में) प्रखर जल-धारा प्रवाहित हो रही है। अर्थात् यदि तुमने मुझ से कुछ भी प्रीतिपूर्ण व्यवहार किया तो इस प्रखर जल-राशि में डूबकर प्राण त्याग कर दूँगी। (कृष्ण के असामान्य व्यवहार से आशंकित होकर राधिका सोचने लगती है कि) यह कृष्ण रुपए-पैसे के रूप में उतराई तो लेता नहीं और हँस हँस कर न जाने क्या कहता है, मेरे तो (मारे भय के) प्राण प्रकम्पित हो रहे हैं—पता नहीं जाने क्या होगा।

मैं अपने आप (अकेली ही तुम्हारे हाथ) बिकने क्यों आ गई, मेरे पापों के भयंकर अभिशाप ने मुझे घेर लिया है। पहले तो मैं दूसरी सखियों की (उनके तुम्हारे छल-छन्द में पड़ जाने के कारण) मजाक उड़ाया करती थी, (कदाचित्) उसी कारण मैं दुर्भाग्य के इस फन्द में फँस गई हूँ। भाव यह है कि राधिका कृष्ण के प्रति मोहासक्त होने के कारण उनके साथ नौका में बैठ तो गई, लेकिन नवीना होने के कारण वह सुरसिक कृष्ण की अल्हड़ता भरी छेड़-छाड़ से परेशान हो उठी और कृष्ण के प्रति अपने मन की मोहाविलता को दोष देने लगी। वह सोचने लगी कि यह कदाचित् इसी परिस्थिति में फँसी सखियां का उपहास उड़ाने का दण्ड है।

कवि विद्यापति कहते हैं कि अबूझ अर्थात् यौवन की रसमयता से अनजान ग्वालिनी! तू (कृष्ण की प्रणय-विदग्धता को) किञ्चित् मात्र भी नहीं समझती है तू भगवान श्रीकृष्ण का भजन कर (व्यर्थ ही) उन्हें गाली अथवा दोष क्यों दे रही है (दोष तो तेरे लावण्य युक्त यौवन का है न कि कृष्ण का) राजा शिवसिंह इस रस से अवगत हैं कि कृष्ण युवक हैं। अर्थात् युवा-हृदय कृष्ण यौवन-सम्पन्ना राधिका के प्रति रसमयतापूर्ण आचरण करेंगे ही।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. प्रस्तुत पद में 'त्रास', 'शंका' तथा दैन्य संचारियों के समन्वित प्रभाव से विद्यापति ने राधिका के हृदय की निरीहता का अत्यन्त चित्रात्मक परिचित्रण किया है। इस परिचित्रण की भूमि पर काव्य की मनोरमता, संगीत की मधुरता एवं नाट्य की अभिनयात्मकता का त्रिवेणी-संगम हुआ है।

२. इस पद में भावशवलता अलंकार का प्रयोग हुआ है।

३. इस पद की समतुलना में रसखान कवि का निम्न वर्णन भी दृष्टव्य है:—

"समझी न कछू अजहूँ हरि सौं,
ब्रज नैन नँचाइ-नँचाइ हंसैं।
नित सास की सारी उसांसिन सों,
दिनई दिन माइ की कांति नसै॥

चहुँ ओर ववा की सौं सोर सुनैं,
मन मेरेउ आवत रीस करौं ।
पै कहा करौं वा रसखान बिलोकि,
हियो हुलसैं, हुलसैं, हुलसैं ॥

(६४)

कुंज-भवन सयँ निकसलि रे, रोकल गिरिधारी ।
एकहि नगर बस माधव हे, जनि कर बटमारी ॥
छाडु कन्हैया मोर आँचर रे, फाटत नव-सारी ।
अपजस होएत जगत भरि हे, जनि करिअ उघारी ॥
संग क सखि अगुआइलि रे, हम एकसरि नारी ।
दामिनि आए तुलाएल हे, एक राति अँधारी ॥
भनहि विद्यापति गाओल रे, सुनु गुनमति नारी ।
हरि क संग किछु डर नहि हे, तोंहे परम गमारी ॥

शब्दार्थ:—सयँ-से । निकसलि-निकली । रोकल-रोक दिया । वस-बसते हैं, रहते हैं । जनि-मत । बटमारी-राहजनी । नव साड़ी-नई साड़ी । अपजस होएत-अपयश हो जायगा । जनि करिअ उघारी-नग्न मत करो । अगुआइलि-आगे गई । एकसरि-अकेली । दामिनि आए तुलाएल-बिजली भी चमकने लगी है । अँधारी-अंधकारपूर्ण । गाओल-गाते हैं । गुनमति-गुणवती । हरि क संग-हरि के साथ । किछु-कुछ भी । परम गमारी- परम मूर्खा ।

प्रसंग :—राधा कुंज-भवन से निकलती है कि कृष्ण उससे मधुमयी छेड़छाड़ करने लगते हैं । वह आक्रोश का बहाना करती है, उन्हें हटकती है लेकिन हटकने में ही संकेतपूर्ण मधुर व्यंजना के द्वारा कृष्ण को कामान्दोलित करने की चेष्टा भी करती है ।

व्याख्या :—राधिका कुंज-भवन से जैसे ही बाहर निकली कि कृष्ण ने उसका रास्ता रोक लिया । (अचानक मनचले कृष्ण को पाकर वह कहने लगी कि) हे माधव ! हम तुम दोनों ही एक ही नगर में अधिवास करते हैं, तुम इस प्रकार खुले खजाने राहजनी मत करो । अर्थात् हम दोनों को हर कोई यहाँ जानता है, मार्ग में प्रीति-रस की

क्रीड़ा से मेरी प्रतिष्ठा चली जायेगी, अतः ऐसा कोई भी कार्य मत करो जिससे कि तुम मेरी प्रतिष्ठा के लिए बटमार सिद्ध होओ। (राधा के इस कथन का भाव है कि छेड़-छाड़ के लिए एकान्त ही उपयुक्त होता ना कि सार्वजनिक मार्ग)

हे कन्हैया ! मेरा आँचल छोड़ दो (इसे मत खींचो) मेरी नवीन साड़ी फटी जा रही है। सारे संसार भर में मेरी अपकीर्त्ति फैल जायेगी, (अतः इस जन-बहुल मार्ग पर) मुझे उघाड़ो मत अर्थात् मुझे अपरिधानित मत करो।

मेरे साथ की सारी ही सखियाँ आगे बढ़ गई हैं, मैं (नितान्त) अकेली युवती हूँ। (आकाश में मेघ घिर आए हैं). और इस पर भी रात्रि अन्धकार-आच्छादित है। भाव यह है कि रात्रि का मेघाच्छादन, बिजली की कौंध, तथा रात्रि की अन्धकारपूर्णता के परिपार्श्व में अपने बिल्कुल अकेलेपन की बात कहकर अत्यन्त मीठे संकेत के द्वारा कृष्ण को कामान्दोलित करने का उपक्रम करती हैं।

विद्यापति कवि गाते हुए कहते हैं कि, हे गुणवती सुन्दरी ! सुनो, कृष्ण के सम्पर्क में तुझे किञ्चित् मात्र भी भय नहीं है। तू तो परम मूर्खा है (जो कृष्ण के रसमय सम्पर्क में भय की आशंका कर रही है।

साहित्यिक विश्लेषण—

१. प्रस्तुत पद में 'त्रास' संचारी भाव की व्याप्ति है। यह संचारी राधा की रति आकांक्षा का अंग है। इस कारण पूरे पद में 'प्रेयस्' अलंकार का प्रयोग बन पड़ा है।

२. इस पद में अंकित राधा अपनी बरजना को लज्जापूर्ण सीमा में ही कृष्ण को अपने समर्पण की स्वीकृति भी देती है। वास्तव में विद्यापति ने प्रस्तुत पद में स्वस्थ तथा माँसल श्रृंगार का चित्रण किया है। उन्होंने जीवन से स्वाभाविक रसमय प्रसंगों का चयन करके अपने काव्य को अनुपम मधुरता प्रदान की है। प्रस्तुत पद इसका उदाहरण है।

(६५)

तुअ गुन गौरव सील सोभाव।
सुनि कए चढ़लिहुँ तोहरि नाव ॥
हठ न करिअ कान्हु कर मोहि पार।
सब तहँ बड़ थिक पर उपकार ॥
आइलि सखि सब साथ हमार।
से सब भेलि निकहि विधि पार ॥
हमरा भेल कान्हु तोहरोअ आस।
ले अंगिरिअ ता न होइअ उदास ॥
भल मन्द जानि करिअ परिनाम।
जस अपजस दुइ रहत एक ठाम ॥
हम अवला कत कहव अनेक।
आइति पड़ले वुझिअ विवेक ॥
तोहँ पर नागर हम पर नारि।
काँप हृदय तुअ प्रकृति विचारि ॥
भनइ विद्यापति गावे।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन इ रस सकल से पावे ॥

शब्दार्थ :—सुनि कए-सुन कर। चढ़लिहुँ-चढ़ी, आरूढ़ हुई। तोहरि नाव-तुम्हारी नाव पर। करिअ-करो। तहँ-से। थिक-है। निकहि बिधि-भली प्रकार। तोहरोअ-तुम्हारी ही। जे-जिसको। अंगिरिऊ-अंगीकार करना, अपनाना। ता-उससे न। होइअ-मतहोओ। भल मन्द जानि-भला बुरा समझ कर। एक ठाम-एक ही स्थान पर। कत-कितना। अनेक-अधिक। आइति पड़ले-(मुसीबत के) आ पड़ने पर। बुझिए बिवेक-समझदारी की परीक्षा होती है। तोहँ-तुम। पर नागर-दूसरे के पति। तुअ प्रकृति-तुम्हारा स्वभाव।

प्रसंग :—राधा यमुना-पार जाने के उद्देश्य से कृष्ण की नौका में अकेली बैठी है, कृष्ण उसे तंग करने लगे, वह अपनी लज्जा की रक्षा के हेतु उनसे ऐसा न करने का आग्रह करने लगी।

व्याख्या ;—हे कृष्ण ! मैं तुम्हारी गुणशीलता (सामाजिक) गरिमा एवं सदाचारी स्वभाव (वाले व्यक्तित्व को) सुनकर ही तुम्हारी

नौका पर आरूढ़ हुई थी। हे कन्हैया! अब व्यर्थ ही हठ अर्थात् छेड़-छाड़ मत करो, मुझे उस पार पहुंचा दो। (क्योंकि संसार में) सबसे महान् (कार्य) परोपकार है। भाव यह है कि मुझे सगौरव उस पार पहुँचा दो।

मेरे साथ जो अन्य सहेलियाँ आईं थीं, वे सब तो भली प्रकार पार हो गईं। अर्थात् उनसे तो तुमने कोई छेड़खानी नहीं की। आखिर मुझको ही क्यों तंग कर रहे हो। हे कृष्ण! (इस बीच नदी के) मुझे अब केवल तुम्हारी ही आशा है अर्थात् तुम ही मुझे उस पार लगा सकते हो। (हे कृष्ण!) जिस कार्य को अर्थात् मुझे पार उतारने के कार्य को अंगीकार कर लिया है, उससे उदासीन तो मत होओ। भाव यह है कि मुझे भी अन्य सखियों की भाँति पार उतार दो।

(हे कृष्ण!) तुम जो कार्य करो, उसके भले-बुरे के परिणाम पर विचार करलो, क्योंकि यश और अपयश इस संसार में एक ही स्थान पर अर्थात् साथ-साथ निवास करते हैं अर्थात् यदि तुमने मुझे सकुशल पार पहुँचा दिया तो तुम कीर्ति के भागी बनोगे, नहीं तो अपकीर्ति के। मैं (शक्तिहीन) नारी अधिक क्या कह सकती हूँ। समय आ पड़ने पर ही समझदारी का परीक्षण होता है। अथवा जब मुसीबत आ पड़ती है तो सुबुद्धि भी आ जाती है। (इसीलिए मैं तुम से, नारी होकर भी, भले बुरे की सोचने की बात कह पा रही हूँ)

(देखो कितनी मुसीबत की घड़ी समुपस्थित है) तुम तो पर-पुरुष हो और मैं दूसरे की पत्नी हूँ, तुम्हारा (काम-चंचल) स्वभाव का विचार कर मेरा हृदय प्रकम्पित हो रहा है। (पता नहीं तुम कौन सा कांड रच दो।)

विद्यापति गा कर कहते हैं कि रूपनारायण शिवसिंघ राजा इस रस को प्राप्त करेंगे।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. प्रस्तुत पद में When women say 'no', it means 'yes'. के सिद्धान्त की चरितार्थता पाई जाती है। राधिका भी कृष्ण के प्रीति-रस में पगी है, लेकिन लज्जा के मारे वह रति के विषय में स्पष्ट हाँ भी कैसे कर सकती है। इसीलिए वह 'नाहीं' के द्वारा अपनी रति-विषयक स्वीकृति देती है। यह वह व्यंग्य के माध्यम

से करनी है। व्यंग्य के आधार पर हम प्रस्तुत पद का अर्थ इस प्रकार कर सकते हैं :–

"हे कृष्ण मैं तुम्हारे शील-स्वभाव तथा गुण-गौरव की प्रशंसा सुनकर (तुम्हारे प्रति आकर्षित होकर ही) तुम्हारी नौका पर चढ़ी हूँ। हे कृष्ण ! तुम (नदी के बीचों बीच में ही छेड़-छाड़ की) हठ मत करो, मुझे नदी के पार करो (वहाँ निर्जन स्थान में हम निर्बाध रूप से प्रणयरस में आमग्न हो सकेंगे) संसार में परोपकार सबसे बड़ कर है अर्थात् तुम नदी पार उतार कर मेरे साथ उपकार ही करोगे। हे कृष्ण ! मुझे तो तुम्हारी ही आशा है तुमने मुझे अंगीकार कर लिया है अब मेरे प्रति कभी उदासीन मत होना। परिणाम की दृष्टि से भला-बुरा सोच कर ही कोई कार्य करना चाहिए। यश और अपयश दोनों एक साथ रहते हैं अर्थात् प्रेम करने के बाद सुन्दरता से उसे निबाहने में यश की प्राप्ति होती है अन्यथा अपयश की। मैं तो (सामाजिक बन्धन में जड़ित) अबला नारी हूँ। विपत्ति में पड़ कर ही बुद्धि की परीक्षा होती है। (कहीं तुम इस सार्वजनिक स्थान में ही अविवेक सम्मत कार्य मत कर बैठना, इससे अपयश की ही प्राप्ति होगी, क्योंकि) तुम अन्य नारी के पति हो, और मैं अन्य पुरुष की पत्नी। तुम्हारी (उद्दंड) प्रकृति का विचार करके मन काँप रहा रहा है। अर्थात् तुम तो रसिक शिरोमणि हो, इस बात का विचार ही कहाँ करोगे कि मैं किसी अन्य की परिणीता हूँ। इसी कारण मेरा हृदय कम्पन का (मधुर) अनुभव कर रहा है।

१. इस पद में चित्रित नायिका 'मध्या' कोटि की है।

२. 'हठ......उपकार' तथा 'हम अबला.........बिवेक' में अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

३. इस पद में 'वितर्क' संचारी तथा प्रेयस् अलंकार का प्रयोग हुआ है।

॥ सखी का व्यंग्य ॥

(६६)

अंबर वदन झपावह गोरी।
राज सुनइछिअ चाँद क चोरी॥

घर घर पहरि गेल अछ जोहि।
अबही दूखन लागत तोहि॥

कतए नुकाएब चाँद क चोर ।
जतहि नुकाओब ततहि उजोर ।।

हास सुधारस न करु उजोर ।
बनिक-धनिक धन बोलब मोर ।।

अधर क सीम दसन कर जोति ।
सिंदुर क सीम बैसाओलि मोति ।।

भनइ विद्यापति होइ निरसंक ।
चाँदहु काँ थिक भेद कलंक ।।

शब्दार्थ :—अम्बर-आँचल । बदन-मुख । झपावह-छिपाओ । सुनइछिअ-सुना गया है । पहरि-प्रहरी । गेलि अछ जोहि-उसे खोज कर गये हैं । अबहि-अब । दूखन-दोष । लागत तोहि-तुझे लग जायगा । कतए नुकाएब-कहाँ छिपाओगी । चांद क चोर-चाँद को चोरी । जतहिं-जहाँ । ततहि-वहाँ । उजोर-प्रकाश । हास-सुधारस-हास्य रूपी अमृत रस । बनिक-बनिक-धनी व्यापारी । धन वोलब मोर-मेरा धन है ऐसा कहेंगे । सीम-सीमा, निकट । दसन-दाँत । वैसाओलि मोति-मोती बिठा रखे हैं । होइ-होओ । निरसंक-निःशंक । थिक - है ।

प्रसंग :—नायिका की सखी नायिका से उस के रूप-लावण्य का वर्णन व्यंग्योक्ति की रूप में करती है ।

व्याख्या :—हे गोरी ! तुम अपने आँचल से मुख को आवृत कर लो, सुना गया है कि राजा के यहाँ चन्द्रमा की चोरी हो गई है । प्रहरियों (राज्य कर्मचारियों) को घर घर में (चाँद को) खोजने के लिए भेजा गया है, तुम्हें (अकारण ही) चन्द्रमा को चुराने का दोष लग जायगा । अर्थात् तुम्हारा मुख चन्द्रमा की भाँति शीतल धवलिमा-युक्त है कहीं राज्य-प्रहरी उसी को चन्द्रमा समझ कर तुझे अपराधी न समझ लें ।

(कोई छोटी-मोटी चोरी की बात होती तो छिप भी जाती लेकिन) तू इस चाँद की चोरी को कहाँ छिपा कर रखेगी, जहाँ छिपाओगी वहीं प्रकाशिमा फैल जायगी । भाव यह है कि नायिका के मुख का चन्द्रोपम सौन्दर्य आँचल-आवृत होने पर भी नहीं छिप सकेगा, वह नायिका अपना मुख छिपाने को जहाँ-जहाँ जायगी वहाँ-वहाँ ही उसकी छवि का प्रकाश विकीर्ण होने लगेगा ।

(कदाचित् नायिका सखी के कुतूहल-भरे शब्दों को सुन कर हँस पड़ी, इस पर उसकी सखी रसपूर्ण भंगिमा से फिर कहने लगी (हे सुन्दरी !) तुम अपनी अमृतरस के समान हास्य से (ज्योत्स्ना की भाँति) प्रकाश मत करो, नहीं तो, तुम्हारे अधरों के समीप शुभ्र दन्त-ज्योति को सिन्दूर में जड़ित मुक्ता समझ कर, धनी व्यापारी कहने लगेंगे कि यह उनका धन है। भाव यह है कि सुन्दरी नायिका के रक्तिम अधरों के मध्य दीपित शुभ्र दन्त-पंक्ति मुक्ताओं का भ्रम व्युत्पन्न कर रही है।

विद्यापति कहते हैं कि सखी कहती है कि हे सुन्दरी ! (तुम चाँद की चोरी के अपवाद से निःशंक हो जाओ, (क्योंकि चाँद और तेरे श्वेतिमापूर्ण मुख में एक अन्तर है और वह यह कि) चाँद में कलंक है और तेरी मुखच्छवि निष्कलंक है अर्थात् तेरा मुख चन्द्रमा से अधिक चारु है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'अम्बर······चोरी' में अत्युक्तिपूर्ण वर्णन हुआ है।

२. 'हास-सुधारस' में रूपकालंकार है।

३. 'अधर····· मोति' मे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा तथा भ्रान्तिमान अलंकारों का संकर हुआ है।

४. 'भनइ......कलंक' में व्यतिरेक अलंकार है।

५. सम्पूर्ण पद में व्यंग्यार्थ का सौन्दर्य है।

६. प्रस्तुत पद मे नायिका के रूप की लावण्यातिशय की चमत्कारिल व्यंजना हुई है।

(६७)

साँझ क बेरि उगल नव ससधर।
भरम विदित सविताहू ॥
कुंडल चक्र तरास नुकाएल ।
दूर भेल हेरथि राहू ॥
जनु बइससि रे बदन हाथ लाई।
तुअ मुख चंगिम अधिक चपल भेल,
कति खन धरब नुकाई ॥
रक्तोपल जनि कमल बइसाओल,
नील नलिनि दल ताहू ।

तिलक कुसुम तहु माझु देखिकहु,
भमर आवथि लहु लहू ॥
पानि-पलब-गत अधर-बिंब-रत,
दसन-दाड़िम बिज तोरे ।
कीर दूर भेल पास न आवए,
भौंह धनुहि के भोरे ॥

शब्दार्थ:—साँझ क बेरि-सन्ध्या की वेला में । ससधर-शशिधर, चन्द्रमा । भरम विदित-भ्रम हुआ । तरास-त्रास । नुकाएल-छिप गया । दूरभेल-दूर हो गया । हेरथि-देखकर ।जन बइससि-मत बैठो । बदन हाथ लाई-मुख पर हाथ लगा कर । चंगिम-सुन्दर । कति खन-कब तक। नुकाई-छिपा कर । रक्तोत्पल-लाल कमल, हाथ का उपमान । कमल-मुख का उपमान । नील नलिनि दल-नील कमल की पँखुड़ियाँ, आँखों को उपमान । तिलक कुसुम-तिल का पुष्प । तहु माझु-उसके मध्य लहू लहू-धीरे धीरे । पानि-पलब-गत-पल्लब के समान हाथ । अधर-बिम्ब-रत-ओष्ठ बिम्बफल के समान लाल हैं । दाड़िम बिज-अनार के दाने । कीर-तोता । धनुहि-धनुष । भोरे-भ्रम से ।

संदर्भ—नायिका की सखी नायिका से उसके रूप का चमत्कार पूर्ण शैली में वर्णन करती है ।

व्याख्या:—(सूर्यास्त के समय अभिसार के उद्देश्य से नायिका घर से निकली तो उसका चन्द्रमा-सा चारु उज्ज्वल मुख ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो) सन्ध्या की वेला में नवीन (निष्कलंकित) चन्द्रमा का उदयन हुआ हो, जिसके (कारण अस्तागामी सूर्य भी भ्रम में पड़ गया (कि यह नवीन चन्द्र मेरे अस्त होने से पूर्व ही कैसे उदित हो गया ।) भाव यह है कि नायिका के मुख के अनिन्द्य सौन्दर्य के समक्ष सूर्य भी आश्चर्यान्वित हो जाता है । उस नायिका के कुण्डलरूपी सुदर्शन-चक्र से भयभीत होकर राहु छिप गया है और वह दूर से ही (ललक भरी दृष्टि से उसके मुख-चन्द्र को अवलोकता है उसे ग्रासता नहीं ।) भाव यह है कि नायिका के केश भली प्रकार गुम्फित हैं, वे उसके मुख-कमल पर छाये हुए नहीं हैं ।

(हे सुन्दरी !) हथेली पर तुम मुख को स्थित कर मत बैठो । (इस भंगिमा के कारण) तुम्हारे सुन्दर मुख की शोभा अत्यन्त चंचल हो उठी है, इसको तुम कब तक छिपा कर रखोगी । भाव यह है कि

सुन्दरी की यह मुद्रा अत्यन्त आकर्षक है जो रूप-लिप्सु रसिक जनों से छिपाई नहीं जा सकती। रक्तिम हथेली पर आधारित श्वेतिमायुक्त मुख, नीली आँखों के सहित ऐसा दृश्य उपस्थित करता है कि मानो लाल कमल पर श्वेत कमल प्रतिष्ठित कर दिया गया हो और उसमें नील कमल की पँखुड़ियाँ सुशोभित हों और उनके (नील कमल-दल रूपिणी आँखों के) मध्य में तिल के फूल (पुतलियां) हों अथवा तिलक रूप पुष्प (पुष्पित) हो, जिसको देखकर (लट रूपी) भ्रमर धीरे-धीरे (रस-पान के उद्देश्य से) उसके पास आता है। भाव यह है कि नायिका का मुख इन्द्रधनुषी सौन्दर्य से मण्डित है।

(हे सुन्दरी) तुम्हारी हथेलियाँ किसलय दल की भाँति (रक्ताभ तथा कोमल) हैं, ओष्ठ बिम्बाफल के समान (रक्तिम) हैं तथा तुम्हारी दन्त-पंक्ति अनार के दानों के समान (सुन्दर तथा स्वच्छ) है। (नासिका रूपी) शुक (किसलय दल, बिम्बाफल तथा अनार के दानों के प्रति लालायित तो है लेकिन) भौंह रूपी धनुष के भ्रम के कारण दूर ही स्थित है (इनके) पास नहीं आता है।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. प्रस्तुत पद में राधिका के मुख के सौन्दर्य-चित्रण में विद्यापति ने परम्परित उपमानों का ही प्रयोग किया है।

२. 'साँझक........राहु' में अत्युक्ति तथा भ्रम का सन्देह संकर है।

३. 'तुअ मुख चंगिम अधिक भेल' में अतिशयोक्ति अलंकार है।

४. 'रक्तोपल .. बइसाओल' में उत्प्रेक्षा अलकार है।

५. 'नील..... ताहू' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

६. 'तिलक......लहु' में रूपक और भ्रम का संकर है।

७. 'पानि-पल्लव-गत' तथा 'अधर बिंब-रत लुप्तोपमा अलंकार है।

८. 'कीर..... भोरे' में भ्रान्तिमान अलंकार है।

(६८)

बड़ कौसलि तुअ राधे ।
किनल कन्हाई लोचन आधे ।।
ऋतुपति-हटवए नहि परमादी ।
मनमथ मधथ उचित मूलवादी ।।
द्विज-पिक लेखक मसि मकरंदा ।
काँप भमर-पद साखी चंदा ।।
बहि रति-रंग लिखापन माने ।
श्री सिवसिंघ सरस कवि भाने ।।

शब्दार्थ:—बड़ कौसलि-अत्यन्त चतुर । किनल-क्रय कर लिया, मोल ले लिया । लोचनआधे-अर्धनिमीलित दृष्टि, आधी चितवन से । ऋतुपति-हटवए-वसंत रूपी व्यापारी । नहि परमादी-प्रमादी नहीं है, बुद्धिमान । मनमथ-कामदेव । मधथ-मध्यस्थ, दलाल । उचित मूलबादी-उचित मूल्यांकन करने वाला है । द्विज-पिक लेखक-कोकिल रूपी ब्राह्मण लेखक हैं । मसि-स्याही । काँप-कलम । साखी-साक्षी । बहि-बहीखाता । लिखापन माने-मान की लिखावट ।

प्रसंग:—वसन्त की मादक पृष्ठभूमि में राधा ने अर्धनिमीलित दृष्टि से कृष्ण को देखकर ही उन्हें अपने प्रति समर्पणशील कर लिया । सखी उसकी कुशलता की प्रशंसा करती है ।

व्याख्या:—राधिके ! तुम (काम-केलि) में अत्यन्त चतुरा हो । तुमने अपनी दृष्टि के अर्धनिमीलन अर्थात् उन्माद भरी तिरछी चितवन से ही कृष्ण को क्रय कर लिया—उन्हें अपना दास बना लिया । भाव यह है कि कृष्ण जैसे चित चोर को आधी दृष्टि से देख भर लेने पर उन्हें कामार्त्त कर देना रसमयी चतुरता नहीं है तो और क्या है ।

(राधा की कुशलता में प्रकृति भी अपना योगदान देती है ।) तुम्हारे द्वारा किए गए इस (प्रेम) व्यापार में वसन्त रूपी व्यापारी बना, जो कि प्रमादी नहीं है अर्थात् वसन्त की रसमयी और क्रियाशील प्रेरणा से ही कृष्ण तेरे प्रति समर्पित हुए । (इसके अतिरिक्त) मन को मंथित कर देने वाला कामदेव उचित मूल्यांकन करने वाला मध्यस्थ बना । भाव यह है कि कामदेव ने तुम्हारे एक ही प्रेम-विदग्ध कटाक्ष

के प्रतिमूल्य में कृष्ण को तुम्हारे प्रति समर्पणशील कर दिया। इस प्रकार उसने तुम्हारे कटाक्ष का उचित मूल्यांकन किया।

तुम्हारे इस व्यापार में अन्य प्राकृतिक उपादानों ने भी सहयोग प्रदान किया। कोकिल रूपी ब्राह्मण ने लेखक का कार्य सम्पन्न किया, मधु की स्याही बनी, भ्रमर के चरण लेखनी बने और चन्द्रमा ने साक्षी दी। रति क्रीड़ा की बही में मान की लिखावट में यह सौदा लिपि-बद्ध हुआ। भाव यह है कोकिल की कामोद्दीपक स्वरिमा, पराग-कणों की सुगन्धि, भ्रमर की पुष्प-रस लेने की अनुगुंजनपूर्ण भंगिमा, चन्द्रमा की काम-लालसा उद्दीप्त करने वाली ज्योत्स्ना और तिस पर राधा का मान इन सबने मिलकर कृष्ण के हृदय को मथ-मथ दिया और फिर क्या था काम-क्रीड़ाएं होने लगी, इन क्रीड़ाओं के बही खाते में ही कृष्ण के समर्पण की गाथा लिखी गई।

विद्यापति कवि कहते हैं कि राजा श्री शिवसिंह बड़े रसिक हैं।

साहित्यक विश्लेषण.—

१. 'बड़ कौसलि... आधे' में पर्यायोक्ति तथा विनिमय का संकर समुपस्थित है।

२. 'ऋतुपति......माने' में सांगरूपक अलंकार की नियोजना हुई है।

३. श्री कुमुद विद्यालंकार ने इस पद में समासोक्ति अलंकार की व्याप्ति भी मानी है।

(६६)

कंचन गढ़ल हृदय हथिसार।
ते थिर थंभ पयोधर भार॥
लाज सिकर धर हठकए गोए।
आनक बचन हलह जनु कोए॥
दूर कर अगे सखि चिंता आन।
जौवन-हाथि करिए अवधान॥
मनसिज मदजल जओ उमताए।
धरिहसि पिअतग आँकुस लाए॥

जावे न सुमत तावे अगोर ।
मुसइत मनिहसि मानस चोर ।।
भन विद्यापति सुन मतिमान ।
हाथि महत नब के नहिं जान ।।

शब्दार्थ:—कंचन गढ़ल-स्वर्ण निर्मित । हथिसार-हस्थिशाला । ते-वह । सिकर-श्रृंखला । गोए-छिपाकर । आनक-अन्य के । हलह जनु कोए-कभी खोल न दो । अगे-हे । आन-अन्य । जौवन-हाथि-यौवन रूपी हाथी । करिए अवधान-चौकसी रखो । मनसिज-कामदेव । मदजल-हाथी के गंडस्थल से टपकने वाला प्रस्वेद (पसीना) । जओ उमताए-यदि उन्मत्त हो । धरहसि-पकड़े रहो । पिअतग आँकुस-प्रियतम रूपी अँकुश । जावे-जब तक । सुमत-होश-हवास । तावे-तब तक । अगोर-सम्हाल कर । मुसइत-खोल देगा, चुरा लेगा । मनिहसि-मना करना । मानस चोर-मन रूपी चोर । महत-प्रमत्त ।के-कौन ।

प्रसग:—प्रस्तुत पद में दूतिका राधिका की यौवन की उन्मत्तता का वर्णन कर उसे कृष्णोन्मुखी होने की प्रेरणा देती है ।

व्याख्या:—(हे सुन्दरी ! तुम्हारे उन्मत्त यौवन रूपी हाथी को बाँधने के निमित्त) तुम्हारी हृदय रूपी हस्थिशाला स्वर्ण-विनिर्मित है । उसमें पुष्ट उरोज रूपी स्तम्भों को स्थित किया गया है । (उस यौवन-हस्थि को) तुम लज्जारूपिणी श्रृंखला से दृढ़ता पूर्वक छिपाकर रखो, और (हाँ, सखि ! कृष्ण के अतिरिक्त) किसी अन्य के (प्रेम) बचनों को सुन कर इस (यौवन-हस्थि) को खोल मत देना । भाव यह है कि उन्मत्त यौवन सुन्दरी के हृदयों में निवास करता है और वह उसके उरोजों में निबद्ध होता है लजा की श्रृंखलाओं में जकड़ा होने के कारण यौवन उन्मत्त और शील-विरोधी आचरण नहीं कर पाता ।

हे सखी ! तुम अन्य समस्त चिन्ताओं का परित्याग कर केवल यौवन रूपी हाथी की चौकसी करो जब यह यौवन रूपी हाथी कामदेव रूपी मदजल से (अत्यधिक) उन्मत्त हो जाए तो उसे प्रियतम रूपी अंकुश से वश में करे रखना । अर्थात् जब तुम्हारे हृदय में यौवन की उद्दाम तरंगें प्रवहमान होने लगें और काम-भावना से तुम्हारा यौवन अत्यधिक उन्मत्त हो जाए तब (बहक कर

किसी अन्य पुरुष को अपना यौवन अर्पित न करके अपने प्रियतम से ही उसको अंकुशित करना—उन्हें ही अपना यौवन सौंप देना ।

जब तक उसे (यौवन रूपी हाथी को) सुमति न आवे अर्थात् जब तक उसकी उद्दामता परिशमित न हो जावे, तब तक उसे सम्हाल कर रखना, नहीं तो मन रूपी चोर मना करने के बावजूद भी उसे खोल देगा । अथवा मन रूपी चोर उसे (चुरा कर) खोलने की कोशिश करे तो उसे मना कर देना । भाव यह है कि मन चंचल चोर के समान है इससे बचा कर ही यौवन को रखना चाहिए ।

विद्यापति कहते हैं कि दूती नायिका से कहती है कि बुद्धि-शालिनी ! सुनो. नव यौवन ही हाथी है, इससे कौन अवगत नहीं ।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. सम्पूर्ण पद में सांगरूपक अलंकार है ।

२. 'मनसिज.........लाए' में समासोक्ति अलंकार की व्यंजना है ।

३. 'भन नहि जान' में अपन्हुति अलंकार है ।

४. मुसइत ....चोर' की व्याख्या श्री कुमुद विद्यालंकार इस प्रकार की है—"यदि मानस रूपी हस्थिशाला में कोई चोर हो जाय और इस यौवन रूपी हाथी को चुराने लगे तो उसे तुम रोकना ।" इस अर्थ में 'अर्थापत्ति' अलंकार का सौन्दर्य है किन्तु हमारे मत में यह अर्थ अधिक समीचीन नहीं है, क्योंकि इससे पूरे पद में प्रयुक्त सांगरूपक अलंकार को थोड़ी सी क्षति पहुँचती है ।

॥ अभिसार ॥

(७०)

चन्दा जनि उग आजु क राति ।
पिआ के लिखिअ पठाओब पाति ।
साओन सयँ हम करब पिरीति ।
जत अभिमत अभिसार क रीति ॥
अथवा राहु बुझाएब हँसी ।
पिवि जनि उगलह सीतल ससी ॥

कोटि रतन जलधर तोहें लेह।
आजु क रयनि घन तम कए देह॥
भनए विद्यापति सुभ अभिसार।
भल जन करथि पर क उपकार॥

शब्दार्थ:—जनि-मत। आजुक-आज की। पिया के-प्रियतम के पास। लिखिअ-लिखकर। पठाओब-भेजूंगी। पाति-पत्रिका, चिट्ठी। साओन सँय-श्रावण मास से। करब-करती हूँ। पिरीति-प्रीति, प्रेम। जत-जितने। अभिमत-वाँछित। बुझाएब हँसी-हँसी समझोगे। पिवि जनि उगलह-पीकर उगल मत देना। कोटि रतन-असंख्य रत्न। रयनि-रात्रि। देह-दो। करथि-करते हैं। पर क-दूसरों का।

प्रसंग:—नायिका कृष्णाभिसारिका है। वह अपने प्रियतम के पास संकेत-स्थल पर जाने के लिए व्यग्र है। जाते हुए उसे कोई देख न ले, इसीलिए वह चन्द्रमा, राहु और मेघ से रात्रि को तमाच्छादित करने की प्रार्थना करती है।

व्याख्या:—हे चन्द्र ! तुम आज रात्रि में (अपनी ज्योत्स्ना को बिखेरते हुए) उदित मत होना (क्योंकि) मैं प्रियतम के पास (उनको अभिसार के हेतु संकेत-स्थल पर पहुँचने की सूचना देने वाला) पत्र भेज रही हूँ। अर्थात् आज मैं प्रियतम के पास जाऊँगी। अतः हे चन्द्रमा ! तुम आज निकलना नहीं।

श्रावण मास से मैं प्रेम करती हूँ, क्योंकि इस मास में अभिसार के लिए वाँछित जितनी भी रीतियाँ हैं वे सब पाई जाती हैं। भाव यह है कि श्रावण मास अभिसार के लिए अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसी मास में नारी-हृदय में अदमनीय काम-भावना का ज्वार उठता है वह अभिसार की आकाँक्षा से उद्वेलित होने लगती है और प्रकृति भी रात्रियों में सघन अन्धकार के आच्छादन के द्वारा उसे सहयोग देती है।

(यदि चन्द्र तुमने मेरी प्रार्थना अस्वीकार कर दी तो) मैं मुस्कराकर राहु को समझकर कह दूंगी कि तुम इस शीतल चन्द्रमा को आग्रसित कर लो और फिर इसे उगलना नहीं। (इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—हे राहु ! तुम हँसी समझोगे (मैं तुमसे निवेदन करती हूँ कि) तुम इस शीतल चन्द्रमा को आग्रसित कर

उगल मत देना) भाव यह है कि नायिका पूर्णिमा की रात्रि को अभिसार के लिए जाना चाहती है, तभी वह राहु से चन्द्रमा को पूर्ण रूप से आग्रसित करने की प्रार्थना करती है, क्योंकि चन्द्र ग्रहण तो पूर्णिमा को ही पड़ता है।

हे जलद ! मैं तुमको करोड़ों–असंख्य रत्न (उपहार-स्वरूप) प्रदान करूंगी। तुम (कृपा कर के) आज की रात्रि को अन्धकाराच्छिन्न कर दो।

विद्यापति कहते हैं कि नायिका कहती है कि अभिसार (अवश्य-ही) शुभ होगा, क्योंकि सत्पुरुष दूसरों का उपकार ही करते हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'पिवि जनि उगलह सीतल ससी' में 'सीतल' विशेष अभिप्राय से उपयुक्त विशेष्य है। अतः यहां परिकरांकुर अलंकार है।

२. 'कोटि देह' में 'औत्सुक्य' संचारी का संचरण पाया जाता है। इसमें 'दैन्य' एवं 'औत्सुक्य' दोनों संचारियाँ नायिका के रति भाव की अंग हैं। अतः यहां 'भावशवलंता अलकार पाया जाता है।

३. 'भनए... ..उपकार' में अर्थान्तिरन्यास अलंकार की शोभा है।

४. 'चन्दा.........राति' में नायिका की कामार्त्तता की करुणार्द्र व्यंजना हुई है।

५. सम्पूर्ण पद में नायिका के दैन्य को क्रमोत्तर विकास के तीन चरण इस प्रकार हैं:—

(अ) चन्द्रमा से सामान्य प्रार्थना।

(ब) चन्द्रमा को अपने मार्ग से हटाने के लिए उसके शत्रु राहु की शरण जाना। साथ ही वह राहु को चन्द्र की 'शीतलता' भी ज्ञापित करती है, ताकि वह उसे काफी देर तक निगले रह सके।

(स) मेघ को 'कोटि रतन' की उत्कोच (रिश्वत) का प्रलोभन देना।

(७१)

गगन अब घन मेह दारुण, सघन दामिनि झलकई ।
कुलिस पातन सबद झनझन, पवन खरतर बलगई ॥
सजनी आजु दुरदिन भेल ।
कत हमर नितांत अगुसरि, संकेत कुँजहि गेल ।
तरल जलधर बरखि झर झर, गरज घन घनघोर ।
साम नागर एकले कइसन, पंथ हेरए मोर ॥
सुमरि मझु तनु अबस भेल जनि अथिर थर थर काँप ।
इ मझु गुरजन नयन दारुण घोर तिमिरहि झाँप ॥
तुरित चल अब किए बिचारत, जीवन मझु अगुसार ।
कबीसेखर बचन अभिसर, किए से विघिन बिथार ॥

शब्दार्थ—घन मेह-घने बादल, या घनघोर वर्षा । दारुण-भयोत्पादक । दामिनि-बिजली । झलकई-चमकती है । कुलिस पातन-वज्रपात । खरतर-प्रखरतर, अत्यन्त द्रुत गति से । बलगई-सनसनाते हुए चलती है । नितांँत अगुसरि-बहुत पहले ही । संकेत कुँजहि-पूर्व निश्चित कुंज में । गेल-चले गए । तरल-चंचल । बरिख-वर्षा करता है । साम-कृष्ण । एकले-अकेले ही । कइसन-किस प्रकार । पंथ हेरए-बाट जोहते होंगे । सुमरि-स्मरण करके । मझु-मेरा । तनु-शरीर । अबस-बेचैन, हताश । अथिर-अस्थिर । इ-इस पर । मझु गुरुजन-मेरे गुरुजनों की । घोर तिमिरहि झाँप-सघन अंधकार छा गया है । तुरित-त्वरित, शीघ्र । अगुसार-आगे । अभिसर-अभिसार करो । किए-क्या । से-उन । बिघिन-विघ्न । बिथार-विस्तार ।

प्रसंग :—भीषण वर्षा हो रही है । अभिसारिका संकेत-स्थल पर जाने को व्यग्र हो उठी, क्योंकि उसे विश्वास है कि उसका भावन वहाँ उसी की प्रतीक्षा में होगा । इन्हीं अन्तर्बाह्य परिस्थितियों का परिचित्रण नायिका सखी से करती है ।

व्याख्या :—इस समय आकाश में बादल आच्छादित हैं, भीषण वर्षा हो रही है साथ ही बिजली घनघोर शब्द करती हुई चमक रही है, बिजली के कड़कने और गिरने से ऐसा लग रहा है कि जैसे) वज्रों का निपातन हो रहा हो, जिससे कारण 'झन-झन' की (महाभीषण) ध्वनि

हो रही है, पवन सनसनाती हुई भीषण वेग से चल रही है। अर्थात् महा भयानक तूफान है। हे सखि! सचमुच ही आज बुरा दिन अथवा भयंकर वर्षा का दिन समुपस्थित हो गया है। (मुझे विश्वास है कि इन व्यवधानों के होते हुए भी) मेरे स्वामी बहुत पहले ही संकेत-स्थल पर पहुँच गये होंगे। अर्थात् कृष्ण की मेरे प्रति प्रीति इतनी पूर्ण एवं आवेगिल है कि प्रकृति का यह कोप भी उन्हें संकेत-स्थल पर जाने से न रोक सका होगा।

(हे सखी!) चंचल (तूफानी) बादल झड़ी बाँध कर बरस रहे हैं, बादल (प्राणों को दहला देने वाली) घनघोर गर्जना कर रहे हैं। (इस भीषण, तूफानी और भीगी स्थिति में तो प्रेमी पुरुष नारी के सम्पर्क के लिए अत्यन्त व्यग्र हो उठता है मेरे अभाव में वहाँ) मेरे चतुर (प्रियतम) कृष्ण किस प्रकार मेरी बाट जोहते होंगे। अर्थात् वह मेरी प्रतीक्षा में पीड़ा की सघनतम अनुभूति कर रहे होंगे।

(कृष्ण की व्यग्रता का) स्मरण करके मेरा शरीर बेचैन होकर थर-थर काँप रहा है। (अथवा मेरा स्मरण कर वह कृष्ण व्याकुल होंगे और उनका शरीर थर-थर प्रकम्पित होगा।) इधर मेरे बड़े बूढ़ों की की कठोर दृष्टि मेरे ऊपर है और (बाहर) घनघोर अन्धकार प्रतिच्छायित है। अर्थात् अन्दर-बाहर दोनों तरफ ही दुर्धर्ष व्यवधान हैं।

(नायिका सखी से कहती है, अब तू (मेरे साथ ही) तुरन्त चल दे, (क्योंकि) मेरे जीवन-प्राण आगे हैं। अर्थात् जब कृष्ण संकेत-स्थल पर पहुँच ही गए हैं तो फिर तो हर स्थिति में वहां चलना ही होगा।

कविशेखर विद्यापति कहते हैं कि (राधे! तुम अभिसार करो। उन विघ्न-बाधाओं को सोचने से क्या लाभ होगा?

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'झन–झन' में वीप्सा अलंकार है।

२. 'गरज घन घनघोर' में ध्वन्यार्थ व्यंजना प्रयुक्त है।

३. पूरे पद में वर्षाकाल के भयोत्पादक वातावरण की सजीव चित्रणा हुई है।

४. विद्यापति के इस वर्णन की प्रेरणा पर भक्त कवि चण्डीदास ने भी राधिका के अभिसार की बाधाओं का वर्णन किया

है। चण्डी कवि की अभिसारिका राधा भी विद्यापति की राधा की ही भाँति भीषण वर्षाकाल में कृष्ण से मिलने को व्यग्र है। विद्यापति के इस पद की तुलना में चण्डीदास का निम्न पद विशेष रूप से दृष्टव्य है:—

"सइ, कि आर बलिब तोरे।
अनेक पुन्यफले, से हेन बन्धुया, आसिया मलल मोरे।
ए घोर रजनी, मेघ घटा बंधू केमने आइल बाटे,
आँगिनार माझे, बंधुया तितिछे, देखिया परान फाटे।
घरे गुरुजन ननदी दारुन, विलम्बे बाहिर होइ—नु,
आहा मरि-मरि, संकेत करि कत ना यातना दिनु।
बंधूर पिरीति आरति देखिया मोर मन हेन करे,
कलंकेर डालि माथाय करिया, आनल भेजाई घरे।
आपनार दुख सुख करि माने आमार दुखे ते दुखी,
चण्डीदास कहे, कानुर पिरीति शुनिया जगत् सुखी।

निःसन्देह विद्यापति की अपेक्षा चण्डीदास की प्रेमोन्मादिनी राधा अधिक गम्भीर पीड़ा से दंशित हैं।

(७२)

रयनि काजर बम, भीम भुजंगम, कुलिस परए दुरबार।
गरज तरज मन, रोस बरिस घन, सँसअ पड़ अभिसार।।
सजनी बचन छड़इत मोहि लाज।
होएत से होअ बरु सब हम अंगिकरु साहस मन देल आज।।
अपन अहित लेख कहइत परतेख हृदय न पारिअ ओर।
चाँद हरिन बह राहु कबल सह पेम पराभव थोर।।
चरन वढ़िल फनि हित मानलि धनि नेपुर न करए रोर।
सुमुखि पुछओ तोहि सरुप कहसि मोहि पिनेह क कत दुर ओर।।
ठामहि रहिअ घुमि, परस चिन्हिअ भुमि, दिग मग उपजु संदेह।
हरि हरि सिब सिब तावे जाइअ जिब जावे न उपजु सिनेह।।
भनइ विद्यापति सुनह सुचेतनि गमन न करह बिलब।
राजा सिवसिंघ रूपनरायण सकल कला अवलंब।।

शब्दार्थ :—रयनि-रात्रि। काजर बम-काजल (अन्धकार)

उगलती है । भीम-भयंकर । भुजंगम-सर्प । कुलिस-वज्र । दुरवार, दुर्वार, घातक । तरज-भयभीत करता है । रोस-रोष, क्रोध । संसअ-संशय, सन्देह । छड़इत-छोड़ते हुए । होएत से हाेअ बरु-जो होना है सो होवे । अंगीकरु-अंगीकार करूँगी । लेख-समझ कर । परतेख-प्रत्यक्ष । ओर-अन्त । बह-धारण करना । कवल-ग्रास । सह -सहन करता है । पराभव-पराजय । थोर-थोड़ा । बेढ़लि-लिपट गया । फनि-सर्प । हित मानलि-अच्छा माना । धनि-सुन्दरी । नेपुर-नूपुर । रोर-शब्द । सुमुखि-सुवदनी । पुछओ-पूछती हूँ । तोहि-तुमसे । सरुप-सत्य । पिनेह-स्नेह । कत दुर ओर-अंत कहाँ पर है । ठामहि-स्थान पर । परस-स्पर्श कर । चिन्हिअ भुमि-भूमि पहचानती है । दिग-दिशा । मग-रास्ता । ताबे-तब तक । जाइअ जिव-प्राण चले जायें । सुचेतनि-बुद्धिमती । गमन-चलने में । करह-करो । अवलम्ब-आश्रय ।

प्रसंग:—अन्धकारमयी रात्रि, प्रभंजनी प्रकृति, भीषण वर्षा, लेकिन अभिसारिका नायिका को तनिक भी परवाह नहीं है । साहस बटोर कर वह अपनी सखी के साथ चलने का उपक्रम कर रही है । यह पूरा दृश्य ही प्रस्तुत पद में सजीव रूप में अंकित हुआ है ।

व्याख्या :—(अभिसार के लिए प्रस्तुत नायिका जब बाहर प्रकृति का प्रकोप देखती है तो विचार करती है कि रात्रि काजल के समान घोर अन्धकार को उगल रही है, मार्ग में भयंकर सर्प हैं और (बिजली के रूप में) घातक वज्र गिर रहा है, (बादल) गर्जना करके मन को त्रसित कर रहे हैं । (इन भीषण बाधाओं के कारण अभिसार में संशय उपस्थित हो गया है अर्थात् ऐसा लगता है कि मैं प्रियतम के पास न जा सकूंगी ।

हे सखी ! मुझे (प्रिय कृष्ण को संकेत-स्थल पर पहुँचने के) बचन-को भंग करने में लज्जा का अनुभव हो रहा है । अब चाहे जो कुछ हो अर्थात् यह प्रकृति वर्षा के स्थान पर अब प्रलय का ही वर्षण क्यों न करे, मैं उस सब कुछ को ही अगीकार करूँगी क्योंकि आज मैंने मन में (अदम्य) साहस संचित कर लिया है । भाव यह है कि नायिका प्रियतम के दिए गए बचन को निभाने के लिए मृत्यु तक को स्वीकार करने के साहस से सम्पन्न है ।

(प्रेम-भावना से आन्दोलित होने पर हृदय अपने अहित को अहित समझने की चेतना से बंचित हो जाता है, क्योंकि चन्द्रमा हरिण

को (उससे अत्यधिक प्रेम के कारण अपने हृदय में) धारण किए रहता है और राहु द्वारा आग्रसित किया जाना सहन करता है। प्रेम में पराजय थोडी ही होती है। भाव यह है नायिका कृष्ण को दिए गए वचन रूपी हिरन को अवश्य धारण करेगी, चाहे प्रकृति की क्रुद्ध परिस्थितियों के राहु द्वारा उसका प्राण चन्द्र कवलित ही क्यों न हो जाय। वह अपने इस विश्वास में अडिग है कि प्रेम विघ्न बाधाओं के सम्मुख हार नही मानता।

(ऐसा विचार कर वह नायिका चल दी, बीहड़ पथ में जब उसके) चरणों से सर्प लिपट जाता है तो वह सुन्दरी अपनी भलाई ही मानती है क्योंकि पायल के सर्पावृत्त हो जाने से नूपुर निःशब्द हो गए। इस प्रकार सर्पों को नायिका ने अपना सहायक माना (और माने भी क्यों न ? उसने चुगलखोर नूपुरों का मुंह जो बन्द कर दिया।)

अभिसार के लिए बिल्कुल बावली नायिका से उसके साहस पर आश्चर्य-विमुग्ध होकर दूती पूछती है कि) हे सुन्दरी ! मैं तुमसे पूछती हूँ, सत्य बता कि स्नेह की सीमा का अन्त कहाँ पर है। अर्थात् तेरे स्नेह की अन्तिम सीमा-स्वरूप तेरा प्रियतम किस स्थल पर खड़ा तेरी प्रतीक्षा कर रहा है।

(परन्तु घटाटोप अन्धकार छाए होने के कारण कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता इस कारण) वह नायिका घूम फिर कर उसी स्थान पर आ जाती है, पृथ्वी को टटोल-टटोल कर ही मार्ग को पहचानती है। उसे दिशाओं और अपने मार्ग तक के विषय में पूर्ण सन्देह हो गया है। (अपनी इतनी असहाय अवस्था में उच्छ्वसित होकर कहती है कि) हे प्रभु ! हे शिव ! जब तक (हृदय में) प्रेम उत्पन्न न हो, तब ही तक प्राणों को जीवित रखो। भाव यह है प्रेमोदय से पूर्व ही प्राणान्त हो जाने से विरह की दंशनकारी पीड़ा का अनुभव तो नहीं करना पड़ता है।

विद्यापति कहते हैं कि (सखी कहती है कि) हे बुद्धिमती ! सुनो, (अभिसार के लिए जाने में) विलम्ब मत करो। रूपनारायण राजा सब कलाओं के आश्रयभूत हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'रजनि काजर बम' में पर्यायोक्ति का प्रयोग हुआ है।

२. 'होएत ....आज' में नायिका के रति-भाव में 'साहस' और धृति' पोषक तत्त्व के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। अतः यहाँ 'प्रेयस्' अलंकार है।

३. 'चाँद .....थोर' में दृष्टान्तालंकार तथा अर्थान्तिरन्यास अलंकार का संकर है।

४. 'ठामहि.........संदेह' में विपादन अलंकार है।

५. 'हरि हरि सिव सिव' में वीप्सालंकार है।

६. पूरे पद में स्वभावोक्ति अलंकार है।

७. पूरे पद में रात्रि के अन्धकारातिशय की व्यंजना के साथ अत्यन्त भयंकर वातावरण की सफल चित्रणा हुई है।

(७३)

आज पुनिम तिथि जानि मोयँ अएलिहुँ,
उचित तोहर अभिसार
देह जोति ससि किरन समाइति,
के विभिनावए पार ।।
सुन्दरि अपनकु हृदय विचारि।
आँख पसारि जगत हम देखलि,
के जग तुअ सम नारि ।।
तोहें जनि तिमिर हीत कए मानह,
आनन तोर तिमिरारि।
सहज विरोध दूर परिहरि धनि,
चलु उठि जतए मुरारि ।।
दूती वचन हीत कए मानल,
चालक भेल पंचबान ।
हरि अभिसार चललि वर कामिनी।
विद्यापति कबि भान ।।

शब्दार्थ :—पुनिम तिथि-पूर्णिमा की तिथि। मोयँ अएलिहुँ-मैं आई हूँ। तोहर-तुम्हारा। देह-जोति-शरीर की कान्ति। समाइति-

समा जायगी । के विभिनावए पार-कौन विभिन्न कर सकता है। अपनुक-अपने । पसारि-फैला कर । तुअ सम-तुम्हारे समान । जनि-मत। हीत-हितैषी । कए मानह-क्यों मानती है । आनन-मुख । तिमरारि-अन्धकार का शत्रु अर्थात् चन्द्रमा है । सहज विरोध-स्वाभाविक विरोध अथवा लज्जा । परिहरि-परित्याग कर। जतए-जहाँ । चालक भेल पंचबान-कामदेव प्रेरक हुआ । चललि-चल दी । बर-श्रेष्ठ ।

प्रसंग :—पूर्णिमा की रात्रि में कृष्ण की दूती नायिका से अभिसार के हेतु चलने को कहती है, ज्योत्स्ना-प्रकाश के कारण नायिका कुछ हिचकती है । इस पर सखी पूर्णिमा की रात्रि की अभिसारोपयुक्तता बतलाती हुई नायिका से कहती है ।

व्याख्या :—आज पूर्णिमा की तिथि जान कर ही मैं (तुम्हारे निकट) आई हूँ । आज की ज्योत्स्ना-धवल रात्रि तुम्हारे अभिसार के लिए उपयुक्त है । (यह जगत भर में फैली ज्योत्स्ना तेरे लिए अनुकूल ही सिद्ध होगी, क्योंकि) तुम्हारे शरीर की (चन्द्रिका-शुभ्र) कान्ति चन्द्रमा की किरणों में सामाहित हो जायगी, जिसके कारण कोई भी तुम्हें चन्द्रिका से भिन्न करके नहीं देख सकता है। भाव यह है कि नायिका का श्वेत वर्ण चन्द्रिका की श्वेतिमा में इतना घुल-मिल जायगा कि उसे अभिसार के हेतु जाते हुए कोई भी देख नहीं सकेगा—नायिका की देह और ज्योत्स्ना का पूर्ण एकीकरण जो हो जायगा ।

हे सुन्दरी ! अपने हृदय में विचार तो करो, (कि मेरा कथन युक्तियुक्त है कि नहीं ।) आँखें फैला कर अर्थात् भली भाँति परख कर मैंने सम्पूर्ण संसार में देखा, तुम्हारे समान संसार में कौन स्त्री है अर्थात् कोई नहीं । तात्पर्य यह है कि तुम अद्वितीय सुन्दरी हो ।

तुम अन्धकार को अपना हितैषी मित्र मत समझो (क्योंकि) तुम्हारा मुख तो अन्धकार का शत्रु है अर्थात् चन्द्रमा के तुल्य प्रकाशवान है। अर्थात् तुम अन्धकारमयी अमावस्या की रात्रि को अभिसार के लिए उपयुक्त मत समझो, क्योंकि उसमें जब अभिसार के हेतु जाओगी तो चन्द्रमा के समान प्रकाशित अपने मुख के कारण पकड़ ली जाओगी। इस प्रकार अन्धकार तुम्हारे लिए किञ्चित् मात्र भी अनुकूल सिद्ध न होगा । इसलिए हे सुन्दरी ! तुम अपनी (नारी सुलभ) स्वाभाविक लज्जा का पूर्ण परित्याग कर, जहाँ कृष्ण हैं वहाँ चलो ।

(नायिका ने) उसके अर्थात् दूती के वचनों को सुनकर समझा, और (इन बचनों को सुनकर) कामदेव भी प्रेरक हुआ अर्थात् वह कामातुर हो गई। कवि विद्यापति कहते हैं कि वह श्रेष्ठ सुन्दरी कृष्ण से संकेत-स्थल में मिलने के लिए चल दी।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'देह–जोति......पार' में मीलित अलंकार पाया जाता है। कतिपय टीकाकारों ने इस पँक्ति में उन्मीलित अलंकार माना है, किन्तु 'देह-जोति' तथा 'ससि किरन' में पूर्ण अभिन्नता के कारण यहाँ 'मीलित' अलंकार की ही व्याप्ति है।

२. 'आँख.........नारि' में अर्थापत्ति और असम अलंकार की संसृष्टि हुई है।

३. 'तिमिरारि' में रूपकालंकार की व्यंजना हुई है।

४. इस पद में शुक्लाभिसारिका नायिका का चित्रण हुआ है। इसके साथ ही बिहारी की निम्नलिखित शुक्लाभिसारिका भी दृष्टव्य है:—

'जुबति जोन्ह में मिल गई, नैकु न परति लखाइ।
सौंधन के डोरन लगी, अली चली संग जाइ।

(७४)

माधब करिअ सुमुखि समधाने।
तुअ अभिसार कएलि जत सुन्दरि कामिनि करए के आने॥
बरसि पयोधर धरनि बारि भर रएनि महाभय भीमा।
तइओ चलिलि धनि तुअ गुन मन गुनि तसु साहस नहिं सीमा॥
देखि भवन भिति लिखल भुजगपति जसुमन परम तरासे।
से सुवदनि कर झपइत फनि मनि बिहसि आइलि तुअ पासे॥
निअ पहु परिहरि आइलि कमलमुखि परिहरि निअ कुल गारी।
तुअ अनुराग मधुर मद मातलि किछु न गुनलि बरनारी॥
ई रस-रसिक बिनोदक बिन्दक सुकबि विद्यापति गावे।
काम पेम दुहु एक मत भए रहु कखने केए न करावे॥

शब्दार्थ :–करिग्र-करो । सुमुखि-सुन्दर । समधाने-समाधान करो, सन्तुष्ट करो । जत-जितना । के-कौन । ग्रान-ग्रन्य । पयोधर-बादल । धरनि-पृथ्वी । बारि-जल । रएनि-रात्रि । भीम-भयंकर । तइग्रो-इस पर भी । मन गुनि-मन में स्मरण करके । तसु-उसके । सीमा-ग्रन्त । भिति-भित्ति, दीवाल । लिखल-ग्रंकित । भुजगपति-शेषनाग । जसुमन-जिसका मन । तरासे-त्रसित, भयभीत । सुबदनी-सुमुखी । झपइत-ढाँकते हुए । फनि मनि-सर्प की मणि । बिहसि ग्राइलि-हँसती हुई ग्राई है । निग्र-ग्रपने । पहु-पति । परिहरि-छोड़कर । कुल गारी-कुल का गौरव । मातलि-प्रमत्त । किछु न गुनलि-कुछ भी नहीं समझती है । विनोदक-विनोद का । बिन्दक-ज्ञाता । दुहु-दोनों । कखन-कब । केए-क्या ।

प्रसंग :—राधा संकेत-स्थल पर ग्रा गई है। उसकी सखी उसके प्रेम-प्रभूत साहस का वर्णन करते हुए कृष्ण से उसकी मनचीती करने का ग्राग्रह करती है ।

व्याख्या :—हे माधव ! सुन्दरी राधा को सन्तुष्ट करो। तुमसे ग्रभिसार करने के लिए उस सुन्दरी ने जितना कुछ भी किया है उसे क्या दूसरी स्त्री भी कर सकती है ? ग्रर्थात् जिस प्रकार बिषम परिस्थितियों में कष्ट उठा कर राधिका तुमसे मिलने ग्राई, कोई ग्रन्य सुन्दरी नहीं ग्रा सकती ।

मेघों ने (ग्रनवरत) वर्षा से पृथ्वी को जल से भर दिया है। (घटाटोप ग्रन्धकार के ग्राच्छादन से) रात्रि भयंकर रूप से ग्रत्यन्त भयावनी हो गई, तब भी वह सुन्दरी तुम्हारे गुणों का ग्रपने में ध्यान करती हुई तुम्हारे पास चली ग्राई है, (सचमुच) उसका साहस ग्रसीम है। भाव यह है कि तुम्हारे प्रेम ने ही उसे ग्रसीम साहस प्रदान किया है।

ग्रपने घर की दीवाल पर ग्रंकित शेषनाग (के चित्र) को देखकर जिस रमणी का मन ग्रत्यन्त त्रसित हो जाता था, वही सुमुखी (तुम्हारे प्रेम में विह्वल होकर) इस समय (पैरों में लिपटे) सर्प की मणि को ग्रपने हाथ से ढँक कर, हँसती हुई तुम्हारे पास चली ग्राई है। ग्रर्थात् उसका साहस तो देखो कि ग्रपने ग्रभिसार की गोपनीयता की रक्षा के लिए उसने सर्प-दंशन की बिल्कुल भी चिन्ता न करके उसके मणि-प्रकाश को हाथ से ढँक दिया। कितना उत्कट प्रेम है उसका तुम्हारे प्रति ?

(हे कृष्ण !) उस कमलवदनी श्रेष्ठ सुन्दरी ने तुम्हारे प्रेम रूपी मधुर मद से उन्मत्त होकर किसी भी बात की कुछ भी चिन्ता न की और अपने पति का परित्याग कर तथा साथ ही अपने कुल-गौरव को तिलाञ्जलि देकर तुम्हारे पास चली आई। भाव यह है कि राधा का प्रेम इतना उन्मत्तता पूर्ण है कि उसने सतीत्व के यश-अपयश तक की चिन्ता नहीं की।

विद्यापति कवि गाते हुए कहते हैं कि सखी कृष्ण से कहती है कि तुम इस प्रेम-रस के रसज्ञ तथा (इस रस की क्रीडाओं के) विनोद को जानने वाले हो। काम और प्रेम जब दोनों एक मत हो जाते तो हैं तब किससे क्या नहीं कराते हैं। अर्थात् काम और प्रेम की समन्वित शक्ति मनुष्य को उन्मत्त बना देती, उसको पूर्णतया असहाय बना देती है।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'तुअ······आने' में अर्थापत्ति अलंकार है।

२. 'बरसि······सीमा' में अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन हुआ है।

३. 'देखि······' में पर्यायोक्ति की व्यंजना हुई है।

४. 'कमलमुखि' में उपमेयलुप्तोपमा अलंकार है।

५. 'अनुराग-मधुर मद' में रूपकालंकार है।

६. 'से सुवदनि ···तुअ रासे' पंक्ति का अर्थ-सौन्दर्य श्री राजनाथ शर्मा ने इस प्रकार दिया है—

"नायिका सर्प-मणि लेकर इसलिए चली थी कि वर्षा में यदि दीपक लेकर चलती तो वह बुझ जाता मगर सर्प-मणि के बुझ जाने का कोई भय नहीं था। उसने उसे हाथ से इसलिए ढक रखा था जिससे उसका प्रकाश उसके मुख पर न पड़ कर नीचे के पथ को ही आलोकित करता रहे" किन्तु हमारे मत में मार्ग देखने के लिए भी मणि का प्रयोग असंभव है, क्योंकि अभिसारिका अपने अभिसार की गोपनीयता के लिए पूर्ण अन्धकार की बाँछा करती है। विद्यापति के अन्य पदों की भी यही मूल भ वना है।

७. इस पद में सुचित्रित नायिका परकीया है।

८. प्रस्तुत पद में कवि ने उपयुक्त शब्दों की सहायता से अत्यन्त जीवन्त वातावरण की सृष्टि की है।

॥ मिलन ॥

(७५)

सुन्दरि चललिह पहुघर ना । चहु दिस सखि सबकर धर ना ॥
जाइइत लागु परम डर ना । जइसे ससि कांप राहु डर ना ॥
जाइतहि हार टुटिए गेल ना । भूखन वसन मलिन भेल ना ॥
रोए रोए काजर दहाए देल ना । अदकँहि सिंदुर मिटाए देल ना ॥
भनइ विद्यापति गाओल ना । दुख सहि सहि सुख पाओल ना ॥

शब्दार्थ :—चललिहु-चली । पहु-पति । चहु दिस-चारों ओर । कर धर-हाथ पकड़े हुए हैं । जाइतहु-जाते हुए । लागु-लगता है । ससि-चन्द्रमा । जाइतहि-जाते ही । टुटिए गेल-टूट गया । दहाए देल-दहा देना, बहा देना । अदकँहि-आतंक से ही ।

प्रसंग :—यह एक जीवन का अत्यन्त मधुर, तरल और लाज-भरा चित्र है । सुन्दरी प्रथम बार पति-गृह जा रही है, डरी हुई है, उसकी रस-प्रवण सखियाँ उसे मदद पहुँचा रही हैं । इस पद में नायिका के भय का अत्यन्त मुखर चित्रण हुआ है ।

व्याख्या :—सुन्दरी आज (प्रथमबार) अपने पति के घर अर्थात् केलि-भवन में चली । (वह जाने में संकोच कर रही है लेकिन) सखियाँ उसे सब ओर से घेरे हैं. वे सब उसके हाथों को पकड़े हुए हैं अर्थात् उसको घेर बटोर कर प्रिय-भवन की ओर लिए जा रहीं हैं । (उस बेचारी केलि-रस से अनजान नवीना) को वहाँ जाते हुए अत्यन्त डर लग रहा है, जैसे राहु के भय से चन्द्रमा काँप रहा हो । भाव यह है कि नायिका इस आशंका से कि केलि-भवन में जाने क्या होगा काँप रही है ।

(सखियों के साथ जोर-जबर्दस्ती करके) जाते हुए उसके गले का हार भी टूट गया और साथ ही उसके आभूषण एवं वस्त्र अर्थात् श्रृंगार-सज्जा भी मलिन पड़ गई । (भय के कारण) रो-रो कर उसने अपनी आँखों का सारा काजल बहा दिया अर्थात् वह निरन्तर अश्रु-निर्झरण कर रही थी । इतना ही नहीं उसने तो आतंकित होकर (कि कहीं वह मंगल बिन्दु के कारण अत्यधिक सुन्दर न प्रतीत हो) सिन्दूर (के तिलक) तक को मिटा दिया ।

विद्यापति गाते हुए कहते हैं कि सखियाँ कहती हैं कि हे सुन्दरी तू ! दुख सह-सह कर ही सुख पायगी अथवा उसने दुख सह-सह कर ही सुख पाया ।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'जाइतहु······राहु डरना' में वाक्यार्थोपमा अलंकार है।

२. 'दुख······पाओल ना' में विनिमय अलंकार है ।

३. कतिपय समालोचकों ने इस पद में आध्यात्मिकता के परिदर्शन किए हैं । लेकिन यह पद तो विशुद्ध शृंगार का पद है। इसमें प्रथम-समागम से लाज-भीता तरुणी का ही चित्र अंकित हुआ है।

४. पूरे पद में 'भय' संचारी की व्याप्ति है ।

॥ छलना ॥

(७६)

कुसुम तोरए गेलहुँ जाहाँ । भमर अधर खंडल ताहाँ ॥
तेँ चलिएलिहुँ जमना तीर। पबन हरल हृदय चीर ॥
ऐ सखि सरूप कहल तोहि । आनु किछु जनि बोलसि मोहि ॥
हार मनोहर बेकत भेल । उजर उरग संसअ लेल ॥
ते धसि मजूर जोड़ल झाँप । नखर गाड़ल हृदय काँप ॥
भन विद्यापति उचित भाग । बचन पाटब कपट लाग ॥

शब्दार्थ :—तोरए-तोड़ने के लिए । गेलहुँ जाहाँ-जिस स्थान पर गई । भमर-भ्रमर । खंडल-खंडित कर दिया, दंशित कर दिया । ते-वहां से । चलिएलिहुँ-चली आई । हरल-हटा दिया । हृदय क चीर-आँचल । सरूप कहल तोहि-तुझ से सत्य कहती हूँ । बोलसि-बोलो । वेकत भेल- दिखलाई दी । उजर उरग-उज्ज्वल सर्प । संसअ लेल-संदेह होने लगा । जोड़ल झाँप-झपट पड़ा । नखर गाड़ल-नख गढ़ा दिए । पाटब-पटुता । कपट लाग-कपट के लिए ।

प्रसंग :—नायिका अभिसार के उपरान्त लौटती है, उसका सारा वेष अस्त-व्यस्त है। उसके इस वेष पर सखियां व्यंग्य के वाण छोड़ती हैं, जिनसे बचने के लिए वह अपनी सफाई देती हुई कहती है।

व्याख्या :—मैं जहाँ पुष्प तोड़ने गई थी वहाँ भ्रमर ने मेरे अधरों को दंशित कर दिया है। अर्थात् भौंरे ने मेरे फूल की पँखुड़ी के समान रक्ताभ अधरों को भूल से काट लिया है, तुम व्यर्थ ही इसे प्रियतम-अंकित दन्त-क्षत समझ रही हो।

वहाँ से मैं यमुना के तट पर चली गई और पवन ने मेरे आंचल का हरण कर लिया अर्थात् तेज पवन मेरे आंचल को उड़ा कर ले गई। हे सखी ! मैंने तुझ से (यह सब) सत्य ही कहा है, तुम मुझ से व्यंग्य से भरे) अन्य बचन मत कहो। भाव यह है कि तुम मेरे वचनों पर विश्वास करो।

(जब पवन द्वारा मेरे आंचल का हरण कर लिया गया तब) वक्षस्थल पर पड़ा हुआ सुन्दर (मुक्ता) हार व्यक्त हो गया अर्थात् प्रगट हो गया, उस मुक्ता-हार में श्वेत सर्प की भ्रान्ति के वशीभूत होकर मयूर उस पर झपट पड़ा और जिसके कारण मेरे वक्ष में नख-क्षत हो गया और जिसके कारण मेरा हृदय प्रकम्पित हो रहा है।

विद्यापति कहते हैं कि (सखी कहती है हे सखी !) कपट को छिपाने के हेतु वाक्चातुरी का होना उचित ही है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'हार······काँप' में भ्रान्तिमान अलंकार है।

२. सम्पूर्ण पद में स्वभावोक्ति अलंकार की व्याप्ति है।

३. 'हरल हृदय', 'सखि सरूप' और 'उजर उरग' में छेकानुप्रास है।

४. छलना प्रेम का मधुर सत्य है। जीवन के मधु गोपन व्यापारों को प्रेमी जन कंजूस के धन की भाँति छिपा कर रखते हैं, जब पारखी निगाहों द्वारा वे पकड़े जाते हैं, तो प्रेमी-जन उन्हें तरह-तरह के बहानों से छिपाने का उपक्रम करते हैं। कविगण काव्य-चारु भाषा में इस उपक्रम का वर्णन करते हैं। विद्यापति की इस छलना की समतुलना में कवि 'ग्वाल' का निम्न वर्णन द्रष्टव्य है :—

"तुम कैसे आईं, मैं तो दधि बेचि आवत ही
नाहर निकसि आयौ बन बजमारे तें।
वा ने मैं न देखी मैं अचकि भजी चपकी सी,
धँसी मैं करीर की कुटी में डर मारे तें।
'ग्वाल' कवि वेंदी गई, छरा फँस्यो, आंगी चली,
छिदे ये कपोल, देखौ अति उरझारे तें।
आस ही न जीवन की राम ने बचाय राखी,
मरि के बची हौं सास, धरम तिहारे तें।"

(७७)

खरि नरि-वेग भासलि नाई। धरए न पारथि वाल कन्हाई ॥
ते धसि जमुना भेलहुँ पार। फुटल वलआ टूटल हार ॥
ए सखि ए सखि न बोल मंद। विरस बचन बाढ़ए दुख दंद ॥
कुंडल खसल जमुना माँझ। ताहि जोहइत पड़लि साँझ ॥
अलक तिलक तेँ बहि गेल। सुध सुधाकर बदन भेल ॥
तटिनि तट न पाइअ वाट। ते कुच गड़ल कठिन काँट ॥
भन विद्यापति निअ अपसाद। वचन कओसल जितिअ बाद ॥

शब्दार्थ :—खरि-प्रखर। नरि वेग-नदी की धारा। भासलि-बह गई। नाई-नाव। धरए न पारथि-सम्हाल न सके। ते-इसलिए। धसि-घुस कर। भेलहुँ-हुई, की। बलआ-वलय, कँगन, चूड़ी। मंद-बुरी बात। विरस-कठोर। दंद-द्वन्द, झगड़ा। खसल-खिसक गए, गिर गए। माँझ-मध्य। ताहि जोहइत-उसको ढूँढ़ते हुए। पड़लि-हो गई। अलक-आलक्त, महाबर। तिलक-टीका। सुध-निष्कलंक। तटिनि-सरिता। वाट-मार्ग। कुच-उरोज। कठिन-तीक्ष्ण। काँट-काँटे। निअ अपसाद-अपनी पराजय। वचन कओसल-बचन कौशल। जितिअ बाद-बहस जीत ली।

प्रसंग :—नायिका अभिसार से लौटी है। उसके देर से आने तथा शृंगार-सज्जा की अस्तता-व्यस्तता के कारण सखियाँ चुटकी लेती हैं। वह इन दोनों बातों को अपनी बचन-चातुरी से छिपाती हुई कहती है।

व्याख्या :—(मैं कृष्ण के साथ नाव पर आरूढ़ थी कि) नदी की प्रखर धारा में नौका बह गई और बालक कृष्ण के सम्हाले न सम्हल सकी । इसलिए मैं यमुना में घुस कर अर्थात् तैर कर पार हुई, जिसके कारण मेरी चूड़ियाँ फूट गईं और हार (भी) टूट गया है । अर्थात् मेरी यह चूड़ियाँ और हार रति-क्रीड़ा में नहीं टूटे हैं ।

हे सखी ! कोई बुरी बात मत बोलो अर्थात् मुझ पर अभिसार कर चुकने का मिथ्यारोपण मत करो, क्योंकि कठोर बातों से झगड़ा बढ़ जाता है । अर्थात् यदि तुम ऐसी लाँच्छनाएँ लगाओगी तो हमारे मध्य कटुता ही बढ़ेगी । यमुना की बीच धार में मेरा कुण्डल गिर पड़ा जिसको ढूँढते हुए सन्ध्या हो गई । (तुम बेकार ही समझ रही हो कि मैं इतने देर गए कृष्ण के पास से आ रही हूँ ।)

(और यह जो महावर का तिलक मिट गया है उस पर तुम्हारी यह शंका कि यह रति-केलि के कारण मिटा है निर्मूल है, क्योंकि) जल में प्रवेश करने से ही मेरे महावर का टीका धुल गया और मुख निष्कलंक चन्द्रमा के समान (उज्ज्वल) हो गया । इसके पश्चात् जब मैं नदी के तट पर आई तो (सन्ध्या के अन्धकार हो जाने के कारण) मुझे मार्ग ही नहीं मिलता था इसलिए मैं भटक कर जंगल में घुस गई और मेरे उरोजों में तीक्ष्ण कांटे चुभ गए हैं । भाव यह है कि नायिका अपनी चतुरता से अनेक प्रसंगों का विधान करके अपने रति-चिह्नों को छिपाने की भरपूर चेष्टा कर रही है ।

विद्यापति कहते हैं कि (सखियाँ कहती हैं कि हे सखी !) तूने बहस में या तर्क-वितर्क में अपनी पराजय को बचन की चातुरी से जीत लिया ।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'बाल कन्हाई' में परिकरांकुर अलंकार है ।

२. 'सुध ·····भेल' में अधिकतद्रूपरूपक अलंकार हे ।

३. सम्पूर्ण पद में मिथ्याध्यवसित की व्याप्ति है ।

(७८)

ननदी सरूप निरूपह दोसे।
बिनु बिचार बेभिचार बुझाओबह सासू करतन्हि रोसे॥
कौतुक कमल नाल सयँ तोरल करए चाहल अवतंसे।
रोष कोष सयँ मधुकर आओल तेंहि अधर करु दंसे॥
सरबर घाट बाट कंटक तरु देखहि न पारल आगू।
साँकरि बाट उबटि कहु चलिलिहुँ ते कुच कंटक लागू॥
गरुअ कुंभ सिर थिर नहि थाकए तें उधसल केस पास।
सखि जन सयँ हम पाछे पड़िलहुँ ते भेल दीघ निसास॥
पथ अपबाद पिसुन परचारल तथिहुँ उतर हम देला।
अमरख चाहि धैरज नहि रहले तें गदगद सर भेला॥
भनइ बिद्यापति सुन बर जौवति ई सभ राखल गोई।
ननदी सयँ रसरीति बढ़ाबह गुपत बेकत नहि होई॥

शब्दार्थ :—सरूप निरूपह दोसे-क्या सत्य ही दोष-निरूपण करती हो, अथवा स्वरूप देखकर ही दोषारोपण करती हो। बिनु विचार-बिना सोचे बिचारे। बेभिचार-व्यभिचार। बुझओबह-समझाओगी। करतन्हि रोसे-क्रोधित होंगी। कौतुक-खेल-खेल में। नाल-मृणाल। सयँ से। अवतंसे-कर्णफूल। कोष-कमल के मध्य भाग से। करु दंसे-दंशित कर लिया। सरबर-सरोवर। बाट-मार्ग। पारल-सकी। आगू-आगे। साँकरि-संकीर्ण। उबटि कर चलिलिहुँ-बचकर चली। ते-इसलिए। गरुअ-भारी। कुंभ-घड़ा। थिर नहि थाकए-स्थिर नहीं रह सका। उधसल-खुल गए, अस्त व्यस्त हो गए। पाछे पड़िलिहुँ-पीछे रह गई। दीघ निसास-गहरे निःश्वास। अपबाद-कलंक। पिसुन-दुष्ट-जन। परचारल-प्रचारित किया, फैलाया। तथहुँ-वहाँ भी। उतर-उत्तर अमरख-अमर्ष, क्रोध। सर स्वर। ई सभ-इस सबके। राखल गोई-छिपा कर रखो। बढ़ाबह-बढ़ाओ। गुपुत बेकत नहि होई-गुप्त बात प्रकट नहीं होगी।

संदर्भ :—नायिका सरोवर पर जल भरने गई। वहाँ उसकी नायक से भेंट गई। बस क्या था, दोनों प्रीति-रस में डूब गए, जिसके कारण नायिका का अंग-प्रत्यंग क्षत-विक्षत और शृंगार-सज्जा अस्त-व्यस्त हो गई। इस दशा में जब वह घर लौटी तो ननद ने उस

पर सरोवर-तट पर उपपति से रस-निमज्जन करने का आरोप लगाया। इस पर नायिका वाक्चातुर्य से अपनी ननद को समझाती है।

व्याख्या :—हे ननद ! क्या तू सत्य ही मुझ पर दोषारोपण कर रही है अथवा तुम (मेरे इस अस्त-व्यस्त) स्वरूप को देख कर ही मुझ पर दोषारोपण करती हो। यदि बिना सोचे विचारे ही व्यभिचार की बात मेरी सास को समझाओगी तो वह मुझ पर क्रोधित होंगी।

(वास्तव में बात यह है कि) कौतुक के वशीभूत होकर मैंने कर्णफूल बनाने के लिए ज्यों ही कमल के नाल को तोड़ा, त्यों ही कमल-कोष से क्रोधित भ्रमर निकला और उसने मेरे अधरों को दंशित कर दिया अर्थात् तू व्यर्थ ही मेरे अधरों के दंशन को प्रिय-दन्त-दंशन समझ रही है।

और यह जो मेरा वक्ष-स्थल खुरेंचा हुआ है सो यह प्रिय के नख-क्षत के कारण नहीं, वरन् इसकी कहानी भी बड़ी मुसीबत से भरी हुई है। (बात यह हुई कि) सरोवर के तट का मार्ग (जहाँ कि मैं जल भरने गई थी) कांटेदार वृक्षों से भरा था (और वह इतना घना था कि) मुझे आगे का कुछ भी दृष्टिगोचर न हुआ। मार्ग बहुत संकीर्ण था, हालांकि मैं बहुत बचकर चली लेकिन मेरे उरोज कंटक-बिद्ध हो ही गए।

(इसके अतिरिक्त) मेरे सिर पर (पानी से भरा) भारी घड़ा था जिसके कारण सिर स्थिर नहीं रह सका. इसीलिए मेरी वेणी खुल गई – केश राशि बिखर गई। (भारी घड़ा शीश पर होने कारण) मैं सखियों से पीछे रह गई, (अतः उनके समीप पहुँचने के उद्देश्य से मुझे काफी तेज चलना पड़ा जिस कारण) मेरी निःश्वासें गहरी हो गई।

(मुझे इस प्रकार अस्त-व्यस्त वेष में अकेली तेजी से आते हुए देखकर) मार्ग में दुष्ट-जनों ने (मेरे विषय में) कलंक प्रचारित किया, वहाँ भी मैंने उनको) उत्तर दे दिया। उन दुष्टों के दोषारोपण से उत्पन्न क्रोध से मेरा धैर्य जाता रहा अर्थात् मैं क्रोध में अत्यधिक उत्तेजित हो गई जिसके कारण मेरी वाणी गद्गद् हो गयी अर्थात् मेरी वाणी भर्राई हुई है।

विद्यापति कहते हैं हे श्रेष्ठ युवती ! सुनो, यदि तुम अपनी इन सब (रस-रहस्य की) बातों को गोपनीय रखना चाहती हो तो अपनी

ननद से प्रेम की रीति बढ़ाओ तभी तुम्हारी (रति-क्रीड़ा सम्बन्धी) गुप्त बातें प्रकट नहीं होंगी।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. सम्पूर्ण पद में स्वभावोक्ति अलंकार है।

२. 'बिनु बिचार बोभिचार बुझओवह' में वृत्यानुप्रास तथा 'कौतुक कमल', 'कुच कंटक' तथा 'पिसुन परचारल' में छेकानुप्रास की छटा है।

(७९)

जाहि लागि गेलि ताहि कहाँ लइलि हे
ता पति बैरि पितु कहाँ।
अछलि हे दुख सुख कहह अपन मुख
भूपत गमओलह जहाँ॥
सुन्दरि कि कए बुझाओब कंते।
जन्हिका जनम होइत तोहे गेलिहु
अइलि हे तन्हिका अंते॥
जाहि लागि गेलिहु से चलि आएल
तें मोयँ धाएल नुकाई।
से चलि गेल ताहि लए चललिहुँ
तैं पथ भेल अनेनाई॥
संकर बाहन खेड़ि खेलाइत
मेदनि वाहन आगे।
जे सभ अछलि संग से सब चललि भंग
उबरि अएलहुँ अति भागे॥
जाहि दुइ खोज करइछथि सासुन्हि
से मिलु अपना संगे।
भनइ विद्यापति सुन बर जोबति
गुपुत नेह रति रंगे॥

शब्दार्थ :—जाहि लागि-जिसके लिए। गेलि-गई। ताहि-उसे कहाँ लाइलि-कहाँ लाई। ता पति बैरि पितु-उसके (जल के) पति (समुद्र) का शत्रु (अगस्त्य) का पिता अर्थात् घड़ा। कहाँ-कहाँ है।

अछलि-थी । कहह अपन मुख-अपने मुख से कहो । गमाओलह-गवां दिए । कि कए-क्या करके, कैसे । बुझाओब-समझाओगी । जन्हिका जन्म-जिस (दिन) का जन्म (प्रातः काल) । तन्हिका अन्ते-उसके अन्त में अर्थात् सन्ध्या को । जाहि लागि गेलहु-जिस (जल) के लिए गई थी । से चलि आएल-वह (वर्षा) चली आई । तें-इसी कारण । मोयँ-मैं । धाएल नुकाई-दौड़ कर छिप गई । से-वह (वर्षा) । ताहि तए-उस (जल) को लेकर । चललिहुँ-चली । भेल-हुआ । अनेआई-अन्याय । संकर बाहन खेड़ि-बैलों का झुण्ड । खेलाइत-खेल रहे थे । मेदनि बाहन-पृथ्वी का वाहन अर्थात् सर्प । जे सभ अछलि-जो सब (सखियाँ) थीं । भंग-तितर-वितर । उबरि-बचकर । अति भागे-बड़े भाग्य से । जाहि दुइ-जिन दो अर्थात् जल और घड़ा । खोज करइछथि-खोज करती है । से मिलु आपन संगे-वे अर्थात् जल वर्षा के जल में समाहित हो गया और घट पृथ्वी की मिट्टी में मिल गया । गुपुत नेह-गुप्त स्नेह । रति-रंगे-रति-क्रीड़ा ।

प्रसंग :—नायिका प्रातःकाल ही घड़ा लेकर जल लेने गई, दिन भर गायब रही, लौटी शाम को वह भी खाली हाथ । हितैषिणी सखियों ने उससे पूछा कि अपने इस असामान्य व्यवहार का पति के सामने स्पष्टीकरण किस प्रकार देगी । इस पर चतुर नायिका ने अपने प्रसंग-विधान-चातुर्य से सखियों तक की शंकाओं का समाधान कर दिया ।

व्याख्या :—(साखियाँ नायिका से पूछती हैं) जिस (जल) को लेने के लिए तुम (पनघट) गई थीं, वह (जल) तुम कहाँ लाई और उस जल के पति (समुद्र) के शत्रु अगस्त्य का पिता अर्थात् घड़ा कहाँ है ? हे सखी तुम जहाँ थी और जहाँ (प्रिय से रति-रंग में आमग्न होने के कारण) तुमने अपने आभूषण तक खो दिए हैं, वहाँ के सुख-दुःख (की कथा) को अपने मुख से सुनाओ । भाव यह है कि सखियाँ स्वय भी उससे मधु-गोपन-व्यापारों की कथा का रस लेना चाहती हैं ।

(नायिका की बहानेबाजी पर सखियाँ कहती हैं कि हमतो तेरी बात सच मान लेती हैं लेकिन) हे सुन्दरी ! तुम अपने पति को क्या कहकर समझाओगी ? जिस (दिन) का जन्म होते ही अर्थात् सुबह पौ फटते ही तू गई थी और अब उस (दिन) के अन्त होने पर अर्थात् सन्ध्याकाल में लौट कर आई है । अर्थात् दिन भर की कार-

गुजारी को प्रियतम पति को कैसे-कैसे करके समझाओगी, वह हम जैसे सीधे सोंठ से तो हैं नहीं।

(सखियों के आक्षेप का निराकरण करती हुई नायिका कहती है कि) मैं जिस जल को लेने गई थी वह ही चला आया अर्थात् वर्षा आ गई। इस कारण मैं भाग कर छिप गई। जब वह अर्थात् वर्षा चली गई तो मैं उसे अर्थात् जल को लेकर चली। परन्तु मार्ग में बड़ा अनर्थ हो गया।

(मार्ग में) शंकर के वाहनों अर्थात् साँडों का झुण्ड खेल रहा था अर्थात् लड़ रहा था और आगे सर्प भी था। (इस कारण) जो सब सखियाँ संग में थीं वे सब तितर-बितर होकर भाग गईं, किसी तरह बड़े भाग्य से ही मैं बच कर आई हूँ।

सास जिन दो वस्तुओं की अर्थात् घड़े और जल की खोज करती हैं, वे तो अपने-अपने संग के तत्त्वों में मिल गईं। भाव यह है कि जल वर्षा के जल में समाहित हो गया और मिट्टी का घड़ा धरती की मिट्टी में मिल गया।

कवि विद्यापति कहते हैं कि (सखियाँ कहती हैं कि) हे श्रेष्ठ सुन्दरी, सुनो, गुप्त प्रेम में रति-क्रीड़ा करने में अत्यन्त आनन्द आता है।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'ता पति बैरि में पितु कहाँ' में पर्यायोक्ति अलंकार है।

२. इस पद में भूत-गुप्ता दिवाभिसारिका नायिका का अंकन हुआ है।

३. 'जाहि दुइ······ संगे' में पदार्थों का अपने मूल तत्त्वों में समाहित होने के दार्शनिक सिद्धान्त की छाया है।

४. यह पद दृष्टकूट शैली का है। इस कोटि के पदों में बौद्धिक चमत्कार की प्रधानता मात्र होती है। वास्तव में इनमें रस के सहज उद्रेकन का नितान्त अभाव होता है।

५. नवयुवतियाँ आपस में अपने जीवन के रति-प्रसंगों की चर्चा व्यंगपरक भाषा में करते हुए अत्यधिक आनन्द का अनुभव करतीं हैं। ऐसी ही एक चर्चा 'साहित्यदर्पण' में उद्धृत इस वर्णन में है:—

'सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं
यातोऽस्ताचलमौलिम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः।
आश्चर्यं तव सौकुमार्यभमितः क्लान्तासि येनाधुना
नेत्रद्वन्दममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ।

॥ मान ॥

(८०)

अरुन पुरब दिसा बितलि सगरि निसा गगन मगन भेल चंदा।
मूंदि गेल कुमुदिनि तइओ तोहर धनि मूंदल मुख अरविंदा ॥
चाँद बदन कुबलय दुहु लोचन अधर मधुरि निरमान।
सगर सरीर कुसुम तोंए सिरजल किए दहु हृदय पखान ॥
अस कति करह कंकन नहिं पहिरह हार हृदय भेल भार।
गिरि सम गरुअ मान नहिं मुँचसि अपरुब तुअ बेबहार ॥
अवगुन परिहरि हेरअ हरषि धनि मानक अवधि बिहान।
राजा सिवसिंघ रूपनरायण कवि विद्यापति भान ॥

शब्दार्थ :—अरुन-लाल। पुरब दिसा-पूर्व दिशा। बितलि सगरि निसा-सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत हो गई। मगन भेल-तिरोहित हो गया। मूंदि गेलि-संकुचित हो गई। तइओ-तब भी। अरबिंदा-कमल। बदन-मुख। कुबलय-कमल। मधुरि-मधुरी नाम का एक पुष्प विशेष। निरमान-निर्मित हैं। तोए-तेरा। सिरजल-बनाया। किए दहु-जाने क्योंकर। पखान-पाषाण। अस कत करह-ऐसा क्यों करती हो। पहिरह-पहनती हो। गिरि-पर्वत। गरुअ-भारी। मुंचसि-छोड़ती हो। अपरुब तुअ बेबहार-तुम्हारा व्यवहार अपूर्व है। परिहरि-परित्याग कर। हेरह-देखो। मानक-मान का। बिहान-समाप्त हो गई, (प्रातःकाल)

प्रसंग :—नायिका रूठी हुई है, नायक सारी रात उसकी मनुहार करता रहा, यहाँ तक कि प्रभात हो गया और नायिका थी कि रूठी ही रही। इस पर नायक उसकी रूप-माधुरी की प्रशंसा से भरे मनुहार के स्वरों में कहता है।

व्याख्या :—(हे सुन्दरी !) पूर्व दिशा लाल हो गई (मनुहार

करते-करते) सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत हो गई और (अब तो) चन्द्रमा भी आकाश में तिरोहित गया। (प्रभात होने के कारण) कुमुदनी भी संकुचित हो गई, हे सुन्दरी, तब भी तुम्हारा मुख-कमल (अभी तक) मुंदा हुआ है—प्रफुल्लित नहीं हुआ है। भाव यह है कि जब कुमुदनी रूपिणी अन्य रूपसियाँ शोभा विहीन हो गई हैं और जब प्रिय-सूर्य नायिका के कमल-मुख के समीप ही स्थित है तब तो उसको मान का त्याग करके अवश्य ही प्रफुल्लित होना चाहिए।

(हे सुन्दरी !) तुम्हारा (ज्योत्स्ना-धवल) मुख चन्द्रमा से, (स्निग्ध आभा वाले) नेत्र कमल से तथा (यौवन-रक्तिम) अधर मधुरी के लाल पुष्प से निर्मित हैं (इसके अतिरिक्त) तुम्हारी सम्पूर्ण देह-यष्टि-कोमल तथा सुगन्धित) कुसुमों द्वारा सर्जित है। अर्थात् तुम्हारे शरीर के अंग-प्रत्यंग तथा सम्पूर्ण शरीर ही प्रकृति के कोमल तत्त्वों से विनिर्मित है। न जानें क्यों कर तुम्हारा हृदय पाषाण है। भाव यह है कि नायिका का हृदय भी शरीर के समान ही कोमल होना चाहिए था, लेकिन इसके विपरीत उसका हृदय अत्यन्त कठोर है। तभी तो नायक पूरी रात मनुहार करता रहा—गिड़गिड़ाता रहा और नायिका का हृदय है कि पसीजने का नाम तक नहीं लेता।

(हे सुन्दरी !) तुम ऐसा क्यों करती हो, तुम कंगन भी नहीं पहनतीं और हृदय पर (क्या) हार भी भार-स्वरूप हो गया है अर्थात् तुमने आभूषणों को भारी समझ कर उतार फेंका है। तुम्हारा व्यवहार भी अपूर्व अर्थात् विचित्र है, कारण, तुमने (अभी भी) पर्वत के समान मान का परित्याग नहीं किया है। भाव यह है कि नायिका कोमल है और कोमलाँगी का, जो कि आभूषणों तक को उनकी बोझिलता के कारण धारण करने में असमर्थ है, पर्वत के समान भारी मान को धारण करना सचमुच ही आश्चर्यजनक व्यवहार है।

हे सुन्दरी ! (मान के) अवगुण का परित्याग कर, हर्षित होकर मेरी ओर देखो। अब तक (जब कि मैं तुम्हारे चरणों पर अपना सब कुछ अर्पित कर रहा हूँ) तुम्हारे मान का काल समाप्त हो गया अथवा मान की अवधि प्रातःकाल तक ही होती है।

कवि विद्यापति कहते हैं कि रूपनारायण राजा शिवसिंह ऐसा कहते हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'मुख-अरबिंदा' में रूपक अलंकार है।

२. 'चाँद······पखान' में अतिशयोक्ति अलंकार है।

३. 'गिरि सम गरुअ मान' में उपमालंकार का सौन्दर्य है।

४. अबगुन······बिहान' में अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

५. 'तइओ तोहर', 'मूंदल मुख', 'सगर सरीर', 'हार हृदय', 'भेल भार' तथा 'हेरह हरखि' में छेकानुप्रास और 'कत करह कंकन' में वृत्यानुप्रास का सौन्दर्य लक्षित होता है।

(८१)

सजनी अपद न मोहिं परबोध।
तोड़ि जोड़िअ जहाँ गाँठ पड़ए तहाँ तेज तम परम विरोध॥
सलिल सनेह सहज धिक सीतल ई जानए सब कोई।
से यदि तपत कए जतने जुड़ाइअ तइऔ बिरत रस होई॥
गेल सहज हे कि रिति उपजाइअ कुल-ससि नीली रंग।
अनुभबि पुन अनुभवए अचेतन पड़ए हुतास पतंग॥

शब्दार्थ :—अपद-अनुचित रूप में। परबोध-प्रबोध, समझाओ। तोड़ जोड़िअ-तोड़ कर फिर जोड़ना। तेज-प्रकाश। तम-अन्धकार। परम विरोध-अत्यधिक विपरीतता। सलिल-जल। सनेह-स्नेह। थिक-है। तपत-प्रतप्त होने पर। कए जतने-कितने ही प्रयत्नों से। जुड़ाइअ-शीतल किया जाय। तइऔ-तब भी। बिरत रस-रसहीन। कि रिति उपजाइअ-किसी भी रीति से उत्पन्न किया जाय। कुल-ससि-कुल-गौरव रूपी चन्द्रमा। अनुभबि-एक बार अनुभव करके। पुन-फिर से। अनुभवए-अनुभव करता है। अचेतन-अज्ञानी। हुतास-अग्नि। पतंग-शलभ।

प्रसंग :—सखी मानवती नायिका को समझा-बुझा कर मान त्यागने को कहती है, लेकिन नायिका का मान स्थिर है। वह अपने प्रिय के विश्वासघात से अत्यन्त क्रुद्ध होकर व्यथाभूरित स्वरों में अपनी सखियों से कहती है।

व्याख्या :—हे सखी ! अनुचित बात के लिए मुझे मत समझाओ अर्थात् नायक ने मेरी निष्ठा और समर्पण के साथ विश्वास-घात किया है और तुम उससे ही अनुराग बढ़ाने को कह रही हो; यह तो नितान्त अनुचित बात है। (और सखी एक बात और भी है) जहाँ तोड़ कर जोड़ा जाता है वहाँ गाँठ अवश्य पड़ जाती है, अर्थात् प्रीति से भरा हृदय जब एक बार टूट जाता है तो फिर दुबारा उसे जोड़ भले ही लो लेकिन दिल में गाँठ तो पड़ ही जाती है। (भाव यह है गाँठ पड़ी प्रीति कसक और पीड़ा ही देती है।) प्रकाश और अन्धकार में आत्यान्तिक विरोध है अर्थात् जिस प्रकार ये दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते उसी प्रकार मैं और कृष्ण भी अब साथ-साथ नहीं रह सकते—मै प्रेम के प्रकाश से मंडित हूँ और कृष्ण विश्वासघात के अन्धकार से युक्त हैं।

यह सब कोई जानता है कि स्निग्ध सलिल स्वाभाविक रूप से शीतल है और यदि एक बार वह प्रतप्त हो जाए, फिर उसे शीतल करने के कितने ही प्रयत्न करो, तो भी वह रस अर्थात् आस्वाद हीन ही रहता है। (ठीक इसी प्रकार प्रेम भी स्वाभाविक रूप से प्राणों को शीतलता प्रदान करने वाला है, यदि यह एक बार भी विश्वासघात से प्रतापित हो जाता है तो फिर दुबारा उसमें अनेकानेक प्रयत्नों के करने पर भी पहले सी स्वाभाविक शीतलता नहीं आ सकती)।

(हे सखी !) यदि कुल-मर्यादा रूपी चन्द्रमा में अपयश के नीले रंग का धब्बा लग जाय, तो गई हुई स्वाभाविक प्रतिष्ठा को किसी भी रीति से उत्पन्न नहीं किया जा सकता। भाव यह है कि विश्वासघात करके नायक ने मेरी कौटुम्बिक गरिमा को कलंकित कर दिया है, अब वह मुझ से कितनी भी प्रीति करे, मेरा गया गौरव तो फिर से पाया नहीं जा सकता। एक बार (प्राणों को प्रज्ज्वलित करने वाली पीड़ा की) अग्नि को अनुभव करके अज्ञानी शलभ ही उस अग्नि का फिर से अनुभव करता है अर्थात् मैं ऐसी मूर्खा नहीं हूँ जो नायक के विश्वासघात की अग्नि को फिर से अनुभव करने को तत्पर होऊँ।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'कुल-ससि' में रूपक अलंकार है।

२. 'तहाँ तेज तम' तथा 'सलिल सनेह सहज' में वृत्यानुप्रास

और 'जोड़िअ जहाँ', 'जतने जुड़ाइअ' तथा 'अनुभवए अचेतन' में छेकानुप्रास की छटा है।

३. सम्पूर्ण पद में दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग हुआ है।

४. इस पद में चित्रित नायिका का मान अत्यन्त भयावह है। ऐसे मान में प्रणय-नाट्य का पटाक्षेप हो जाता है।

(८२)

अखिल लोचन तम ताप विमोचन उदयति आनन्द कन्दे।
एक नलनि-मुख मलिन करए जदि इथे लागि निन्दह चंदे॥
सुन्दरि बूझलि तुअ प्रति भाति।
गुन गन तेजि दोष एक घोषसि अंत अहीरनि जाति॥
सकल जीब-जन जीब समीरन मन्द सुगन्ध सुसीते।
दीपक जोति परस जदि नासए इथे लागि निन्दह मारुते॥
स्थावर जङ्गम कीट पतंगम सुखद जे सकल सरीरे।
कागद-पत्र परस जओं नासए इथे लागि निन्दह नीरे॥
खन खन सकल कुसुम मन तोषए निसि रहु कमलनि संगे।
चम्पक एक जइओ नहिं चुम्बए इथे लागि निन्दह भृंगे॥
पाँच-पाँच गुन दस गुन चौगुन आठ दुगुन सखि माँझे।
विद्यापति कान्ह आकुल तो बिनु विषाद न पावसि लाजे॥

शब्दार्थः—अखिल लोचन-सम्पूर्ण सृष्टि। तम ताप विमोचन-अन्धकार और गर्मी को नष्ट करने वाला। आनन्द कन्दे-आनन्द का मूल। नलिनि-कमलिनी। मलिन करए-संकुचित करता है। जदि-यदि। इथे लागि-इसीलिए। निन्दह-निन्दा की जाय। बूझल तुअ प्रतिभाति-तेरी बुद्धि को समझ लिया। गन-समूह। तेजि-छोड़ कर। घोषसि-घोषणा करती हो। अन्त-आखिरकार। जीब-जन-प्राणी। जीब-प्राण। समीर-पवन। सुसीते-सुशीतल। स्थावर जङ्गम-जड़-चेतन। परस-स्पर्श। जओ-यदि। नासए-नष्ट कर देता है। खन खन-क्षण-क्षण में। तोषए-सन्तोष प्रदान करता है। निसि-रात्रि। जइओ-यदि। नहिं चुम्बए-चुम्बन नहिं करता। भृंगे-भ्रमर। पाँच ·· आठ दुगुन-५ × ५ = २५ × १० = २५० × ४ = १००० × ८ = ८००० × २ = १६००० । माँझे-मध्य। विषाद-दुःख। पावसि-पाती हो, अनुभव करती हो। लाजे-लज्जा।

प्रसंग :—अपने प्रति कृष्ण के उपेक्षा-पूर्ण व्यवहार के कारण राधिका कृष्ण से रूठी हुई है। इस पर सखियाँ कृष्ण को अनेक गुणों से सम्पन्न बतलाते हुए राधिका को प्रताड़ित करती हैं।

व्याख्या:—हे सखी ! सम्पूर्ण सृष्टि के अन्धकार एवं ताप को विनष्ट करने वाला आनन्द का निधान चन्द्रमा, यदि केवल एक कमलिनी के मुख को ही संकुचित कर देता है, तो क्या इसीलिए चन्द्रमा की निन्दा करना चाहिए अर्थात् नहीं। भाव यह है कि किसी के अनेक गुणों को विस्मृत कर उसके एक ही दोष को प्रमुखता नहीं देनी चाहिए। कृष्ण तो सम्पूर्ण सृष्टि को आनन्द देने वाले देव हैं, यदि वे क्षणेक को तुझे दृष्टि से ओझल कर भी देते हैं तो इसी कारण तुझे उनके प्रति निन्दा और उपेक्षा का भाव नहीं रखना चाहिए।

हे सुन्दरी ! हमने तुम्हारी बुद्धि को (पूरी तरह) समझ लिया है अर्थात् तुम नितान्त मूर्ख हो। तू अपने प्रिय कृष्ण के अनेक गुणों का परित्याग कर—उन्हें दृष्टि से ओझल कर, उनके केवल एक ही दोष (कि कृष्ण पर-स्त्री अनुरागी हैं) की घोषणा करती फिरती है। आखिरकार तू ग्वालिनी ही ठहरी। अर्थात् तू गुण-सम्पन्न कृष्ण का उचित रूप से मूल्याँकन करना क्या जाने।

शीतल-मन्द-सुगन्धित पवन समस्त प्राणियों की प्राण है। यदि उसके स्पर्श मात्र से दीप-शिखा बुझ जाती है तो क्या इसीलिए पवन की निन्दा करनी चाहिए ? अर्थात् नहीं।

जड़-चेतन, कीड़े-मकोड़े अर्थात् सब भूतों को और प्राणी मात्र के शरीरों को सुख प्रदायक जल यदि कागज के पत्र को बिनष्ट कर देता है तो क्या इसीलिए उसकी निन्दा की जानी चाहिए ? अर्थात् कदापि नहीं।

भ्रमर क्षण-प्रतिक्षण समस्त पुष्पों के मन सन्तुष्ट करता है अर्थात् उनको अपने मधु-गुंजन से आनन्दित करता है यदि वह एक चम्पा के पुष्प का ही चुम्बन नहीं करता अर्थात् उसको अपने मधु गुंजन का आनन्द प्रदान नहीं करता, तो क्या मात्र इससे ही भ्रमर की निन्दा करनी चाहिए ? अर्थात् नहीं।

(इस सारी दृष्टान्त-माला का भाव यह है कि कृष्ण समस्त गोपिकाओं के अनुरंजक अधिदेव हैं दूसरों को आह्लादित करने के

मध्य वह राधिका की उपेक्षा कर भी दें तो केवल इतने से ही राधिका को कृष्ण से कुपित होकर मान नहीं करना चाहिए।)

राधिके ! (मैं मानती हूँ कि) कृष्ण सोलह हजार सखियों के मध्य रहते हैं, फिर भी वह तुम्हारे अभाव में व्याकुल हैं, (इससे) तू दुःख और लज्जा का अनुभव नहीं करती। अर्थात् तू ही कृष्ण की एक मात्र आह्लादिनी शक्ति है, अतएव तुझे इस प्रकार मान नहीं करना चाहिए।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'अहीरनि' में साभिप्राय विशेष्य के प्रयोग होने के कारण परिकरांकुर अलंकार है।

२. 'खन-खन' में वीप्सालंकार है।

३. 'पाँच......दुगुन' में क्लिष्टत्व तथा दृष्टकूटपदत्व दोष है।

४. 'विद्यापति .... लाजे' में पर्यायोक्ति का प्रयोग हुआ है।

५. इस पद में स्थान-स्थान पर आनुप्रासिक छटा विद्यमान है।

६. सम्पूर्ण पद में दृष्टान्त अलंकार की व्याप्ति है।

(८३)

एत दिन छलि नब रीति रे। जल मीन जेहन पिरीति रे।।
एकहि बचन बीच भेल रे। हँसि पहुँ उतरो न देल रे।।
एकहि पलँग पर कान रे। मोर लेख दूर देस भान रे।।
जाहि बन केओ नहि डोल रे। ताहि बन पिया हँसि बोल रे।।
धरब योगनिया के भेस रे। करब मैं पहुँक उदेस रे।।
भनइ विद्यापति मान रे। सुपुरुष न कर निदान रे।।

शब्दार्थ:—एत दिन-इतने दिन। छलि-थी। मीन-मछली। जेहन-जैसी। पिरीति-प्रीति। एकहि बचन-एक ही बात। बीच-अन्तर, मन मुटाव। भेल-हो गया। पहुँ-प्रियतम। उतरो न देल-उत्तर नहीं दिया। लेख-लिए। भान-मालूम होना। केओ-कोई भी। डोल-आता

४. नायिका कृष्ण को 'पहु' कह कर सम्बोधित करती है। अतः इस पद की नायिका स्वकीया है।

(८४)

की हम साँझक एक सरि तारा भादव चौठिक ससी।
इथि दुहु माझ कश्रोन मोर श्रानन जे पहु हेरसि न हँसी ॥
साए साए कहह कहह कन्हुँ कपट करह जनु कि मोर भेल श्रपराधे।
न मोय कबहुँ तुश्र श्रनुगति चुकलिहुँ बचन न बोलल मंदा।
सामि समाज पेम श्रसुरंजिए कुमुदिनि सन्निधि चंदा ॥
भनए विद्यापति सुन बर जौबति मेदनि मदन समाने।
राज सिवसिंघ रूपनारायण लखिमा देइ रमाने ॥

शब्दार्थ :—की-क्या। साँझक-सन्ध्या के। एकसरि-एकाकी। भादब चौठिक ससी-भादौं के शुक्ल पक्ष के चतुर्थी का चन्द्रमा। इथि दुहु-इन दोनों। साए-सखी। कहह-कहो। कपट करह जनु-कपट न करें। कि-क्या। मोर-मेरा। भेल-हुश्रा। श्रनुगति चुकलिहुँ-श्राज्ञा मानने से चूकी हूँ। मंदा-कठोर। सामि-स्वामी। श्रनुरंजिए-निभाया है। सन्निधि-सान्निध्य में। मेदनि-पृथ्वी। मदन-कामदेव।

प्रसंग :—मान के कारण कृष्ण राधिका की नितान्त उपेक्षा कर रहे हैं, वह उसके मुख को देखते तक नहीं। इस उपेक्षा से दंशित होकर राधा अपनी सखी से कृष्ण के प्रति अपने एकनिष्ठ प्रेम की ज्ञापना करती है, साथ ही उससे कृष्ण को मना लाने का श्राग्रह भी करती है।

व्याख्या ;—[हे सखी!] क्या मैं सन्ध्याकालीन एकाकी तारे के समान (श्रदर्शनीय हूँ श्रथवा भादौं के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी के चन्द्रमा के समान श्रशुभ) हूँ? इन दोनों वस्तुश्रों में से मेरा मुख किसके समान है जिस के कारण मेरी प्रियतम पति उसको प्रसन्न होकर नहीं देखते। श्रर्थात मेरा मुख कौन सी कालिमा से युक्त है जो प्रिय मेरी श्रोर उन्मुख नहीं होते।

हे सखी! कृष्ण से जाकर कहो कि वह (मेरे प्रति) छलपूर्ण व्यवहार तो न करें, मुझ से क्या श्रपराध हुश्रा है। श्रर्थात् मुझ

निरपराधिनी को वह उपेक्षा की असह्य पीड़ा क्यों दे रहे हैं ? (उनसे मेरी ओर से पूछना कि) मुझ से तुम्हारी आज्ञा मानने में कभी चूक नहीं हुई है और न ही मैं ने कभी उनसे कठोर बचन ही बोला है। भाव यह है कि मैं सदैव ही उनके प्रति मृदु भाषी एवं समर्पणपूर्ण रही हूँ।

मैंने तो समाज में भी अर्थात् सब के समक्ष भी स्वामी को अपने प्रेम से अनुरंजित किया है और मैं उनके सान्निध्य को पाने की उसी प्रकार आकाँक्षिणी रही हूँ जिस प्रकार कि कुमोदिनी चन्द्रमा के लिए आकाँक्षिणी रहती है। भाव यह है कि मेरी प्रीति कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ है और वह मेरे आह्लादक देव हैं।

विद्यापति कहते हैं कि (सखी कहती है कि) श्रेष्ठ सुन्दरी ! सुनो, कृष्ण पृथ्वी पर कामदेव के समान हैं अथवा तू चिन्ता न कर पृथ्वी पर कामदेव का संचरण हो रहा है। भाव यह है कि निश्चय ही कृष्ण भी काम-प्रेरित होकर तेरे सौन्दर्य के प्रति उन्मुख होंगे।

रूपनारायण राजा शिवसिंह लखिमा देवी के पति हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'की······ससी' में उपमालंकार है।

२. 'साए साए' में वीप्सालंकार है।

३. 'सामि······चंदा' में दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग हुआ है।

४. 'कहह कहह कन्हु कपट करह' में वृत्यानुप्रास तथा 'सामि समाज' और 'मेदिनि मदन' में छेकानुप्रास की छटा है।

५. जनश्रुति के अनुसार सन्ध्या काल के एकाकी तारे को देखना अपशकुन माना जाता है। यदि उसका दर्शन हो जाए तो इस मंत्र का पाठ कर उसके दर्शन से उत्पन्न दोष का परिहार कर लिया जाता है :—

"एका तारा मया दृष्टा द्वितीया नैव दृश्यते।
सर्वदोषपरीषाय शारदायै नमोस्तु ते।।"

६. भाद्र शुक्ल चतुर्थी का दर्शन भी अशुभ माना जाता है। पौराणिक कल्पना है कि इस तिथि को चन्द्रमा ने अपनी गुरु पत्नियों के साथ संभोग किया था। यही कारण है यदि भूल से इस तिथि को

चन्द्रमा दिखलाई दे जाता है तो चन्द्रमा पर ईंट पत्थरों की वर्षा की जाती है।

॥ बसन्त ॥

(८५)

नाचहु रे तरुनी तेजह लाज। आएल बसन्त ऋतु वनिकराज ॥
हस्तनि चित्रिनि पदुमिनि नारि। गोरि सामरि एक बूढ़ि बारि ॥
बिबिध भाँति कएलन्हि सिंगार। पहिरल पटोर गिम झूलहार ॥
केओ अगर चंदन घसि भरि कटोर। ककरहु खोइँछा करपुर तमोर ॥
केओ कुमकुम मरदाब आँग। ककरहु मोतिअ भेल छाज माँग ॥

शब्दार्थ :—नाचहु-नाचो। सेजहु-छोड़ कर। आएल-आ गया। वनिकराज-श्रेष्ठ व्यापारी। हस्तनि चित्रिनि पदुमिनि नारि-काम-शास्त्र में परिगणित नारियों के भेद इनमें कवि ने शंखिनी नायिका को छोड़ दिया है। सामरि-श्यामल। बूढ़ि-वृद्धा। बारि-नवयुवती। कएलन्हि-किया। पटोर-रेशमी वस्त्र। गिम-ग्रीवा, कंठ। केओ-किसी ने। घसि-घिस कर। ककरहु-किसी के खोइँछा-मुँह में डाला है। करपुर-कपूर। तमोर-ताम्बूल पान। कुमकुम केशर। मरदाब-मर्दन कराती हैं। मोतिअ-मुक्ता। छाज-सुशोभित हैं। माँग-सीमंत में।

प्रसंग :—वसन्त विद्यापति की आन्तरिक चेतना का मधुर सत्य है। उसका वे हृदय के सम्पूर्ण उच्छ्वासों से स्वागत करने को कटिबद्ध दीखते हैं। यही कारण है कि वे युवति-मात्र को विगत लाज होकर वसन्त का स्वागत करने की प्रेरणा देते हैं!

व्याख्या :—हे तरुणियों! ऋतुराज वसन्त श्रेष्ठ व्यापारी के रूप में आगया है. लज्जा का परित्याग कर नृत्य करो। अर्थात् आत्मा के थिरकते हुए उल्लास से रस श्रेष्ठ वणिक् का स्वागत करो। पद्मिनी, चित्रणी तथा हस्तिनी नारियाँ और गौर वर्णा, श्यामल, वृद्धाएँ तथा नवयुवतियाँ जितनी स्त्रियाँ है—इन सबने अपने को अनेक प्रकार के शृंगार से सुसज्जित कर लिया है। सबने ही रेशमी परिधान धारण कर लिए हैं और उनके कंठों में मुक्तामाल झूल रही है। भाव यह है कि वसन्त के स्वागत में प्रत्येक सुन्दरी सुवेषित होकर नृत्य-रत

हैं। यही कारण है कि उनके गले में पड़ी मोती की मालाएँ भी हिल्लोरित हो रही हैं।

किसी (सुन्दरी) ने अगर चन्दन घिसकर (अपने शरीर को प्रलेपित करने के उद्देश्य से) कटोरा भर लिया है तो किसी ने कर्पूर और ताम्बूल (पान) अपने मुँह में डाला है अथवा किसी ने खोइँछा में कर्पूर और ताम्बूल रख लिया है। कोई अपने शरीर में केशर का मर्दन कराती है और किसी के सीमंत में मुक्ता भली प्रकार से सुशोभित हो रहे हैं।

साहित्यक विश्लेषण.—

१. 'बसन्त रितु बनिकराज' में रूपकालंकार है।
२. 'हस्तिनि ·· बारि' में अनुप्रास की छटा है।
३. 'बिबिध··· माँग' तक स्वभावोक्ति अलकार है।
४. सम्पूर्ण पद मे माधुर्य गुण की व्याप्ति है।

(८६)

दखिन पवन बह दस दिस रोल। से जनि बादी भासा बोल॥
मनमथ काँ साधन नहिं आन। निसराएल से मानिन मान॥
माइ हे सीत-बसंत बिबाद। कओन बिचारब जय अवसाद॥
दुह दिसि मधय दिबाकर भेल। दुजबर कोकिल साखी देल॥
नब पल्लब जय पत्रक भाँति। मधुकर माला आखर पाँति॥
बादी तह प्रतिबादी भीत। सिसर बिंदु हो अन्तर सीत॥
कुन्द कुसुम अनुपम बिकसंत। सतत जीत बेकताओ बसंत॥
बिद्यापति कबि एहौ रसभान। राजा सिबसिंघ एहो रस जान॥

शब्दार्थ :—दखिन पवन-मलयानिल। रोल-शब्द करता है। से-वह। जनि-मानो। बादी-अभियोग लगाने वाला, मुद्दई। भासा-भाषा। मनमथ काँ-कामदेव के पास। आन-अन्य। निसराएल-निकाल दिया। माननि मान-मानवती का मान। माइ-सखि। सीत-शीत। बिबाद-संघर्ष। कओन-कौन। बिचारब-विचार करे, निर्णय करे, अथवा मानता है। जय अबसाद-जय-पराजय। दुह दिसि-दोनों ओर

से। मवथ-मध्यस्थ। दिबाकर-सूर्य। दुजबर-पक्षी-श्रेष्ठ। साखी-साक्षी, गवाही। जय पत्रक-निर्णायक पत्र। माला-श्रेणी। आखर पाँति-अक्षरों की पँक्तियाँ। वादी-मुद्दई, वसन्त। तह-से। प्रतिबादी-मुद्दालह, शीत-काल। भीत-भयभीत। अन्तर-छिप गया। कुन्द कुसुम-सफेद फूल विशेष। अनुपम-अपूर्व। बिकसंत-प्रफुल्लित हो उठे। सतत-निरन्तर। बेकताओ-व्यक्त करते हैं, घोषणा करते हैं।

प्रसंग:—प्रस्तुत पद में विद्यापति ने वसन्त की विजय की अनुपम गाथा का चित्रण किया है।

व्याख्या :—दशों दिशाओं में मलयानिल (मधुर) शब्द करता हुआ प्रवहमान है, मानो वह वसंत रूपी वादी की भाषा बोल रहा हो। तात्पर्य यह है कि शीतल-मन्द-सुगन्धित पवन के संचरण की मधुर ध्वनि वसन्त की ही भाषा है, और यह भाषा वह शीतकाल रूपी प्रतिवादी के विरूद्ध ही बोल रहा है। कामदेव के पास इस दक्षिण पवन के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है, उसने इसी के आश्रय से मानवती नायिकाओं के हृदय से मान निकाल दिया अथवा इसी से उसने मानिनिओं के मान को नीरस कर दिया है। भाव यह है कि वसन्तकालीन मलयज के स्पर्श मात्र से कामनियों के हृदय में अदमनीय कामाकाँक्षा जाग्रत हो जाती है, फिर उनके हृदय में मान का निवास कैसे हो सकता है, वे मान त्यागने को स्वत: ही विवश हो जाती हैं।

हे सखी! शीत तथा वसन्त में संघर्ष हो गया है। इस संघर्ष की जय-पराजय का निर्णय कौन करे। अथवा दोनों में से कोई भी जय पराजय नहीं स्वीकारता है। दोनों पक्षों का मध्यस्थ अर्थात् निर्णायक सूर्य बना और द्विज-श्रेष्ठ कोकिल ने (वसन्त के पक्ष में) साक्षी दी। भाव यह है कि सूर्य की उष्णता ही शीत और वसन्त के विवाद की निर्णायक होती है और कोकिल की हृदयों में हूक उठाने वाली कूक ही शीत के विरुद्ध साक्षी होती है।

(तरुओं पर विकसित) नूतन किसलय दल वसन्त के जय-पत्र के समान हैं और उन पर अनुगुञ्जित भ्रमर-पंक्तियाँ (उस जय-पत्र पर लिखे हुए) अक्षरों के समान हैं। अर्थात् भ्रमर-गुञ्जित नव किसलय दल वसन्त की विजय की घोषणा करते हैं। इस प्रकार वसन्त के विजय-पक्ष को देखकर वादी वसन्त से प्रतिवादी शीत भयभीत होकर ओस-कणों में समाहित हो गया। भाव यह है कि वसन्त की विजय से

विलज्जित होकर शीत ने तुहिन कणों की शरण ले ली अर्थात् अब वसन्त के प्रभाव-स्वरूप शीतलता केवल ओस-कणों में ही रह गई है।

कुन्द के श्वेत पुष्प अपूर्व रूप से प्रफुल्लित हो रहे हैं मानो वे वसन्त की निरन्तर विजय को व्यक्त कर रहे हों। अर्थात् कुन्द के श्वेत पुष्प वसन्त के विजय-ध्वज जैसे प्रतीत हो रहे हैं।

कवि विद्यापति इस (वसन्त के सौन्दर्य) रस का वर्णन करते हैं और राजा शिवसिंह इस रस को जानते हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'दखिन..... बोल' में उत्प्रेक्षा अलंकार का सौन्दर्य है।

२. 'नव पल्लव जय पत्रक भाँति' में उपमालंकार है।

३. 'मधुकर ...पाँति' में लुप्तोपमा है।

४. 'बादी····· सीत' में पर्यायोक्ति अलंकार है।

५. 'कुन्द······बसंत' में फलोत्प्रेक्षा अलंकार की कल्पना है।

६. 'दह दिस', 'मानिन मान', 'दुह दिसि' 'कुन्द कुसुम' तथा 'बेकताओ बसंत' में छेकानुप्रास की छटा है।

७. सम्पूर्ण पद में साँगरूपक की नियोजना हुई है।

८. वसन्त की मलय पवन नारी-हृदय को काम-भावना से उन्मथित कर देती है। इस विषय में कवि 'पराग' की निम्न पँक्तियाँ दृष्टव्य :—

मन्द पवन चलती है, आली,
सिहरन का दुख भार।
कह दे मैं प्रियतम की त्यागी,
रोके मधु संचार।

(८७)

अभिनव कोमल सुन्दर पात। सबारे बने जनि पहिरल रात॥
मलय पवन डोलए बहु भाँति। अपन कुसुम रस अपने माति॥
देखि देखि माधब मन हुलसंत। बिरिंदाबन भेल बेकत बसंत॥

कोकिल बोलए साहर भार। मदन पाओल जग नव अधिकार ।।
पाइक मधुकर कर मधुपान। भमि भमि जोहए मानिनि मान ।।
दिसि दिसि से भमि विपिन निहारि। रास बुझावए मुदित मुरारि ।।
भनइ विद्यापति इ रस गाव। राधा माधव अभिनव भाव ।।

शब्दार्थ :—अभिनव-नवीन। पात-पत्ते। सबारे-सम्पूर्ण। बने-वन ने। पहिरल-पहन लिए हों। रात-रक्तिम, लाल। डोलए-दोलायमान है। माति-प्रमत्त होकर। माधव-बसन्त, कृष्ण। हुलसंत-उमंगित होना, हुलसित होना। बिरिंदाबन-वृन्दावन। बेकत-व्यक्त। साहर भार-सहकार (आम)-की डाल पर। पाइक-दूत। भमि भमि-घूम-घूम कर। जोहए-ढूँढता है। बिपिन-वन। मुदित-आह्लादित।

प्रसंग :—प्रस्तुत पद में विद्यापति ने वसन्त का मोहक, मधुर एवं गतिशील चित्रांकन किया है।

व्याख्या :—(वसन्त के आगमन के कारण वृक्षों में) सर्वत्र ही नवीन कोमल तथा सुन्दर पत्ते सुशोभित हो रहे हैं, जिन्हें देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सम्पूर्ण वन ने रक्तिम वर्ण के वस्त्रों को धारण कर लिया हो। शीतल, मन्द और सुगन्धित मलयानिल अनेक प्रकार से दोलायमान है अर्थात् कभी वह किसी लतिका से अठखेली करता हुआ बहता है, कभी किसी कुसुम को हिल्लोरित कर प्रवाहित होता है और कभी नव कोंपलों को अपने चुम्बन से सिहराता हुआ आगे बढ़ जाता है—वह अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करता हुआ डोल रहा है और वह पुष्पों के रस का पान कर स्वयं ही प्रमत्त हो रहा है। अथवा पुष्प अपने ही रस से अपने आप में मस्ती में भरे हुए हैं अर्थात् अपनी-अपनी डालियों पर मस्ती में भर कर झूम रहे हैं। भाव यह है कि वसन्तागम के कारण सम्पूर्ण वन-प्रान्तर ही उल्लास की थिरकनों में थिरक रहा है।

वसन्त के इस उल्लास-लास-भरे दृश्य को अवलोक कर मन अत्यन्त आह्लादित हो रहा है। अथवा कृष्ण का मन अत्यधिक हुलसित हो रहा है; क्योंकि वृन्दावन में वसन्त की अपूर्व शोभा व्यक्त हो गई है अर्थात् वृन्दावन मधु-ऋतु की सौन्दर्य-माधुरी से सुलसित हो गया है। आम्र-मंजरी पर कोकिल कूक रही है। कोकिल की काम-संचारिणी कूक ऐसी प्रतीत रही है कि मानो वह यह कह रही हो कि कामदेव ने

नवीन रूप से सारे संसार पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया है।

(कामदेव का दूत) भ्रमर मधुपान करता है और चारों ओर घूम-घूम कर वह खोजता फिरता है कि कहीं कोई मानवती मान किए तो नहीं बैठी है। भाव यह है कि वसन्त-ऋतु में भ्रमर की मधु अनुगुंजन से नारी-हृदय में काम-भावना अत्यन्त प्रबल हो जाती है और वे मान को त्याग कर यौवन-रस के पान हेतु तत्पर हो जाती हैं।

कृष्ण (वसन्त की शोभा से श्रृंगारित) वन को देखकर चतुर्दिक भ्रमण कर रहे हैं तथा उल्लास में भर कर रास-लीला करने का संकेत कर रहे हैं।

विद्यापति इस रस का गायन करते हुए कहते हैं कि राधा एवं कृष्ण अत्यन्त नूतन प्रेम-भाव में आमग्न हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'अभिनव······रात' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

२. 'देखि-देखि,' 'भमि भमि,' तथा 'दिसि दिसि' में वीप्सालंकार है।

३. 'कोकिल·········मान' में रूपक तथा उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है।

४. 'माधब मन', 'बेकत बसंत', 'मानिनि मान' तथा मुदित मुरारि' में छेकानुप्रास है।

५. प्रस्तुत पद में वसन्तश्री का संश्लिष्ट चित्रण हुआ है। इसी सम्बन्ध में कवि 'पराग' का वसन्त-वर्णन भी दृष्टव्य है:—

> 'तुम देते लतिका को मधु, पुष्पों को हास,
> भ्रमरों को गुन-गुन-गुञ्जन, मलयज को लास,
> तरुओं को कोमल किसलय का करते दान,
> धरती को शाद्वल सा पिनहाते परिधान।'

(८८)

चल देखए जाऊ ऋतु बसंत। जहाँ कुंद कुसुम केतकि हसंत॥
जहाँ चंदा निरमल भमर कार। जहाँ रयनि उजागर दिन अंधार॥
जहाँ मुगधलि माननि करएमान। परिपथिहि पेखए पचबान॥
भनइ सरस कबि कंठहार। मधुसूदन राधा बन-बिहार॥

शब्दार्थ:—देखए-देखने । जाऊ-चलें । हसंत-प्रफुल्लित हैं । निरमल-स्वच्छ । कार-श्यामल । रयनि-रात्रि । उजागर-उज्ज्वल । अंधार-अन्धकारपूर्ण । मुगधलि-मुग्धा नायिका । परिपंथहि-शत्रु, विरुद्ध आचर णकरने वाला । पेखए-देखता है । पंचबान-कामदेव ।

प्रसंग :—वसन्त की मादक शोभा से प्रभावित होकर विद्यापति सकल जनों को वन-प्रान्तरों में जाकर वासन्तिक छवि के दर्शन करने की प्रेरणा देते हैं ।

व्याख्या :—चलो, वसन्त ऋतु की शोभा को वन-कान्तारों में देख आएँ । जहाँ कुन्द और केतकी के पुष्प प्रफुल्लित हैं, जहाँ स्वच्छ चन्द्रमा (के ज्योत्स्ना-धवल प्रकाश) से रात्रियाँ उज्ज्वल हैं अर्थात् रात्रियाँ चन्द्रिका-स्नात हैं, और जहाँ श्यामल भ्रमरों के आधिक्य के कारण दिन में भी अन्धकार का प्रतिच्छायन हो रहा है । भाव यह है कि चतुर्दिक विकसित पुष्पों के ऊपर इतने भ्रमर मडराते रहते हैं कि धरती पर दिन में ही अन्धकार छाया रहता है । जहाँ अर्थात् वसन्त की उन्मादक श्री के मध्य केवल (यौवन रस से अनजान) मुग्धा नायिका ही मान करती है और कामदेव उसे अपने शत्रु के रूप में देखता है । भाव यह है कि जिस प्रकार शत्रु पर साँघातिक आक्रमण किया जाता है उसी प्रकार कामदेव मुग्धा नायिकाओं पर आक्रमण करके उनके मान को भंग कर देता है—वे भी इस ऋतु में कामान्दोलित हो जाती हैं ।

कवि श्रेष्ठ विद्यापति रसमयी वाणी में कृष्ण के वन-विहार करने का वर्णन करते हैं ।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'केतकि हंसत' में मानवीकरण का प्रयोग हुआ है ।

२. 'जहाँ........अंधार' में तद्गुण अलंकार का सौन्दर्य दर्शित होता है ।

३. 'कुंद कुसुम केतकि' तथा 'परिपंथिहि पेखए पंचबान' में वृत्यानुप्रास और 'मुगधलि माननि' तथा 'बन-बिहार' में छेकानुप्रास का सौन्दर्य है ।

(८९)

नव बृन्दाबन नव नव तरुगन,
नव नव बिकसित फूल।
नब बसन्त नबल मलयानिल,
मातल नब अलि कूल ।।
बिहरइ नबल किसोर।
कालिंदी-पुलिन कुंज बन शोभन,
नब नब प्रेम - बिभोर ।।
नबल रसाल-मुकुल-मधु मातल,
नब कोकिल कुल गाय।
नबजुबती गन चित उमताअई,
नब रस कानन धाय ।।
नब जुबराज नबल बर नागरि,
मीलए नब नब भाँति।
निति निति ऐसन नब नब खेलन,
बिद्यापति मति माति ।।*

शब्दार्थ :—नब-नवीन। नबल-नूतन। मातल-प्रमत्त। अलि-कुल-भ्रमरों का समुदाय। बिहरइ-विहार कर रहे हैं। शोभन-सुन्दर। बिभोर-बेसुध। रसाल-मुकुल-आम की मंजरी। गाय-गाते हैं। चित-चित्त। उमताअई-उन्मत्त हो जाता है। मीलए-मिलते हैं। नब नब भाँति-नवीन नवीन ढँग से। निति निति-नित्य नित्य। माति-उन्मत्त।

प्रसंग :—विद्यापति की कल्पना में वसन्त नव यौवन का मादक पर्व है। इस पर्व की बेला में उन्हें समस्त प्रकृति ही अभिनव सौन्दर्य में आमग्न दीखती है।

व्याख्या :—(वसन्तागमन के कारण) वृन्दावन नवीन प्रतीत हो रहा है, उसमें (नव कोंपलों से सुशोभित) नए नए वृक्ष लगे हैं तथा अनेक प्रकार के नूतन-नूतन पुष्प प्रफुलित हैं। वसन्त नवीन है, और मलयज भी नूतन है और भ्रमरों का समुदाय भी उन्मत्त हो रहा है।

---

*यह पद परीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है।

भाव यह है कि मधुऋतु के आगमन के कारण समस्त वन-प्रान्तर नवीनता के सौन्दर्य से मण्डित हो रहा है।

इस नूतन प्राकृतिक सृष्टि में सुन्दर कुंजों के वन में, अभिनव प्रेम में विभोर होकर यमुना के तट पर नवयुवक कृष्ण विहार कर रहे हैं। भाव यह है कि वासन्तिक प्रेरणा से कृष्ण प्रेम-लीलाओं में रत हैं।

नवीन कोकिलाओं का समूह नवीन आम्र-मंजरी की (सुगन्ध से) उन्मत्त होकर गायन कर रहा है। (इस कोकिल गान से) नव-युवतियों का मन उन्मत्त हो जाता है और वे नवीन रस की आकाँक्षा में वनों में दौड़ी जाती हैं अथवा नवीन यौवन-रस विपिन में प्रधावित है। भाव यह है कि वसंत के अभिनव वातावरण से नारी-हृदयों में कामोद्रेकन हो रहा है।

नवल युवक श्रेष्ठ (श्री कृष्ण) तथा अभिनव श्रेष्ठ सुन्दरी (राधिका) दोनों नए नए ढंगों से मिल रहे हैं। विद्यापति कहते हैं कि प्रतिदिन ही इस प्रकार की (रति) क्रीड़ाओं की अभिनवता के कारण राधा-कृष्ण अपने हृदयों को उन्मत्त किए हुए हैं।

साहित्यिक बिश्लेषण :—

१. 'नब नब' में वीप्सालंकार है।

२. 'नबल······गाय' में अतिशयोक्ति अलंकार है।

३. 'नब रस कानन धाय' में मानवीकरण का सौन्दर्य लक्षित होता है।

४. इस पद की भाषा की प्रशंसा श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इन शब्दों में की है इस "पद में शब्द-माधुर्य की मनोहारिणी छटा है और उसे पढ़ते समय कवि के लिए दी गई 'अभिनव जयदेव पदवी की सार्थकता तुरंत स्पष्ट हो जाती है।" विद्यापति के इस पद की तुलना में जयदेव का निम्न वसन्त-वर्णन द्रष्टव्य है।

"ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुंजकुटीरे॥
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहि जनस्य दुरन्ते॥

॥ बिरह ॥

(६०)

माधव तोहें जनु जाह बिदेस ।
हमरा रंग रभस लएजएवह, लएवह कौन सनेस ॥
बनहिं गमन करु होएति दोसर मति बिसरि जाएब पति मोरा ।
हीरा मनि मानिक एको नहिं माँगव फेरि माँगब पहु तोरा ॥
जखन गमन करु नीर नयन भरु देखहु न भेल पहु ओरा ।
एकहि नगर बसि पहु भेल परवस कइसे पुरत मन मोरा ॥
पहु संग कामिनि बहुत सोहागिनि चंद निकट जइसे तारा ।
भनइ विद्यापति सुन बर जौबति अपन हृदय धरु सारा ॥

शब्दार्थ—जनु जाह-मत जाओ । रंग रभस-आमोद-प्रमोद । लएजएबह-ले जाओगे । लएवह-लाओगे । कौन सनेस-सन्देश, उपहार । होएति-हो जाती है । दोसर मति-दूसरी बुद्धि । बिसरि जाएब-भूल जायेंगे । मोरा-मुझको । फेरि माँगब-लौटना मांगती हूँ । पहु-पति । जखन-जिस क्षण । पहु ओरा-पति की ओर । परबस-दूसरे के वशीभूत । कइसे-किस प्रकार । पुरत-सन्तुष्ट । सारा-धैर्य ।

प्रसंग :—नायक विदेश-गमन के लिए उद्यत है । 'नायक के आँखों के ओझल होने से कितने बज्र गिरेंगे इन कोमल प्राणों पर' इसकी कल्पना मात्र से नायिका अत्यन्त व्यथित हो जाती है और नारियोचित लज्जा को एक ओर रखकर नायक से न जाने का आग्रह करती है ।

व्याख्या:—हे माधव ! तुम विदेश मत जाओ । अपने जाने के साथ ही तुम मेरे आमोद-प्रमोद अथवा प्रेम की क्रीड़ाओं को अपने साथ ही ले जाओगे । अर्थात् तुम्हारे बिना मेरा सारा जीवन ही प्रेम की उल्लसित अभिलाषाओं से रहित हो जायगा । परन्तु वहाँ से मेरे लिए उसके बदले में कौन सा उपहार लाओगे ? अर्थात् तुम्हारे जाने से जो रिक्तता मेरे जीवन में आ जायगी उसे तुम्हारा कोई सा भी उपहार नहीं भर सकेगा ।

बन में जाते ही अर्थात् विदेश चले जाने पर तुम्हारी दूसरी ही बुद्धि हो जायगी, और हे प्रियतम ! तुम मुझको विस्मृत कर दोगे ।

भाव यह है कि नायिका 'दृष्टि से ओझल दिमाग से ओझल' के सिद्धान्त के कारण आशंकित है कि कहीं उसका पति भी विदेश जाकर उसे अपने मन की अनुराग-भूमि से उतार न दे।

(हे मेरे प्रियतम !) मैं हीरा, मणि और माणिक्य इनमें से एक भी वस्तु नहीं मांगती हूँ, मैं केवल तुम्हारा प्रत्यागमन (वापिसी) मांगती हूँ। अर्थात् तुम्हारा लौटना ही मेरे लिए अमूल्य धन पाना है। इस धन के अतिरिक्त मैं अन्य कोई धन नहीं मांगती।

(राधा के आग्रह को कृष्ण ने ठुकरा दिया और वे चले ही गए। जाने की बेला में नायिका की जो करुण एवं असहाय स्थिति हो गई उसका वर्णन करती हुई वह अपनी किसी सखी से कहती है कि) जिस क्षण मेरे प्रियतम ने गमन किया, उस समय मेरे नेत्र अश्रु-जल-आपूरित हो गए, जिसके कारण मैं अपने प्रियतम की ओर देख भी न पाई। अर्थात् नेत्रों को अश्रु-जल से भरे होने के कारण उनमें प्रियतम का रूप-जल न समा सका। जब एक ही नगर में रहता हुआ भी मेरा प्रिय दूसरे के वशीभूत हो गया है, तब मेरा मन कैसे सन्तोष धारण करे। भाव यह है कि नायिका से उसका प्रिय, अन्य सुन्दरी के प्रति रूपासक्त होकर, अत्यन्त विमुख हो गया है। इस स्थिति में उसका मन सन्तुष्ट भी कैसे हो सकता है।

प्रियतम के सान्निध्य में ही नारी अत्यन्त सौभाग्य से सुशोभित रहती है। उसकी यह शोभा उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार कि चन्द्रमा के समीप स्थित तारे की शोभा होती है। अथवा मेरे प्रियतम के सान्निध्य में अनेक सुहागिनि नारियाँ हैं, जैसे कि चन्द्रमा के निकट (चतुर्दिक) तारागण। भाव यह है कि नायिका विचार करती है कि कृष्ण तो अनेक रमणियों के मध्य व्यस्त हैं, अतः उनको उसका अभाव खलेगा नहीं।

विद्यापति कहते हैं कि श्रेष्ठ सुन्दरी ! सुनो, तुम अपने मन में धैर्य धारण करो। भाव यह है कि कृष्ण तुम्हारी मनोकामना अवश्य ही पूरी करेंगे।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'हमरो.........सनेस' में अर्थापत्ति अलंकार है।

२. 'बनहि......मोरा' में अतिशयोक्तिपूर्ण कथन है।

३. 'पहु संग......तारा' में उपमालंकार है।

४. सम्पूर्ण पद में वितर्क और विरक्ति भावों की व्याप्ति है। इनकी यह व्याप्ति स्थायी भाव रति की अंग है। अतः इस पद में भावशवलता अलंकार है।

५. इस पद में उल्लखित कृष्ण धीर ललित नायक हैं।

(६१)

लोचन धाए फेधाएल हरि नहि आएल रे।
सिब सिब जिबओ न जाए आसे अरुझाएल रे।।
मन करे तहाँ उडि जाइअ जहाँ हरि पाइअ रे।
पेम परस-मनि जानि आनि उर लाइअ रे।।
सपनहु संगम पाओल रंग बढ़ाओल रे।
से मोरा बिहि बिघटाओल निंदओ हेराएल रे।।
भनइ विद्यापति गाओल धनि धइरज धर रे।
अचिरे मिलत तोहि बालमु पुरत मनोरथ रे।

शब्दार्थः—धाए-दौड़ते-दौड़ते। फेधाएल-थक गये। आएल-आए। जिबओ न जाए-जीवित नहीं रहा जाता। अरुझाएल-उलझा हुआ। तहाँ-वहाँ। जाइअ-चली जाऊँ। पाइअ-पाऊँ। पेम परसमनि-प्रेम की पारसमणि। उर लाइअ-हृदय से लगा लूँ। संगम-मिलन। रंग-प्रेम। बिहि-बिधाता। बिघटाओल-विघटित कर दिया, नष्ट कर दिया। निंदओ हेराएल-नींद भी जाती रही। धइरज धर-धैर्य धारण करो। अचिरे-शीघ्र ही। पुरत-पूरा होगा।

प्रसंगः—प्रियतम नायिका के नयनों से दूर हैं लेकिन प्राण हैं कि उनका चिर सान्निध्य पाने को व्यग्र हैं। यह व्यग्रता विरहिणी के मन को इतना उन्मथित कर देती है कि उसकी आत्मा चीत्कार कर उठती है। यह चीत्कार ही अनलंकृत रूप में प्रस्तुत पद में स्वर-बद्ध हुई है।

व्याख्याः—प्रिय की प्रतीक्षा में मेरे नयन (प्रिय-पथ की दिशा में) दौड़ते-दौड़ते थक गए अर्थात् नयन-पाँवड़े बिछा कर मैंने प्रियतम

की बाट जोही है, फिर भी मेरे प्रिय नहीं आए। हे प्रभु! (अब प्रियतम के बिना) जीवित नहीं रहा जाता अथवा मेरे प्राण भी नहीं निकलते, यह प्रियतम के आने की आशा में उलझे हुए हैं। भाव यह है कि प्रियतम के आने की आशा में ही नायिका के प्राण टिके हुए हैं।

इच्छा होती है कि मैं उड़ कर वहीं चली जाऊँ, जहाँ कि मेरे प्रिय मुझे प्राप्त हो सकें। और मैं उन्हें प्रेम की पारसमणि जान कर हृदय से लगा लूँ। अर्थात् जिस प्रकार निर्धन व्यक्ति पारसमणि को पाकर सहेज कर रख लेता है उसी प्रकार मैं भी कृष्ण को अपने हृदय में धारण कर लूँगी, वे मेरे लिए तो प्रेम की अक्षय निधि हैं। मैंने प्रियतम से स्वप्न में ही समागम किया, मात्र उतने से ही मेरे प्राणों में प्रणय का रंग बढ़ गया अर्थात् स्वप्न में ही प्रिय के दर्शन करने से मैं अत्यन्त उल्लसित हो गई, किन्तु विधाता ने मेरे इस (स्वप्न के) सुख को भी नष्ट कर दिया, (क्योंकि) उसने मेरी नींद हर ली। भाव यह है नायिका प्रिय-सम्बन्धी मधुर स्वप्न में आमग्न थी कि उसकी नींद उचट गई, और वह अपने इस सुख की बंचना का दोष विधाता को देने लगी।

विद्यापति गायन करते हुए कहते हैं कि हे सुन्दरी! तुम धैर्य धारण करो। तुम्हारे प्रियतम पति शीघ्र ही तुमसे मिलकर तुम्हारे मनोरथ पूर्ण करेंगे।

साहित्यक विश्लेषण:—

१. 'लोचन......आएल रे' में पर्यायोक्ति का सौन्दर्य दर्शित होता है।

२. 'सिब सिब' में वीप्सालंकार है।

३. 'पेम परसमनि' में लुप्तोपमा अलंकार है।

४. 'आस अरुझाएल' तथा 'सपनेहु संगम' में छेकानुप्रास तथा 'धनि धीरज धरि' में वृत्यानुप्रास का सौन्दर्य है।

५. प्रस्तुत पद में लोकगीत की धुन इतनी करुणोत्पादक कि उससे नारी-हृदय के विरह की सान्द्रता एवं घनीभूतता की अत्यन्त प्रखर अभिव्यक्ति हो गई है।

६. प्रस्तुत पद की विरहिणी का प्रेम 'प्लेटोनिक' नहीं है, वरन् वह पूर्णतया शारीरिक है।

(६२)

माधव हमर रतल दुर देस। केओ न कहइ सखि कुसल सनेस।।
जुग जुग जीवथु बसथु लाख कोस। हमर अभाग हुनक नहिं दोस।।
हमर करम भेल विहि विपरीति। तेजलनि माधब पुरुबिल पिरीति।।
हृदयक वेदन बान समान। आनक दुःख आन नहि जान।।
भनइ विद्यापति कबि जयराम। दैव लिखल परिनत फल बाम।।

शब्दार्थ :—रतल-अनुरक्त हो गए हैं। दुर देस-दूर देश। केओ-कोई भी। न कहइ-नहीं कहता है। कुसल सनेस-कुशल-सन्देश। जीवथु-जीवें। बसथु-बसें। हमर अभाग-हमारा दुर्भाग्य। हुनक-उनका। बिहि-विधाता। विपरीत-विरुद्ध। तेजलनि-त्याग दी। पुरुबिल पिरीति-पहले सी प्रीति। आनुक-अन्य का। आन-अन्य। परिनत-परिणाम।

प्रसंग :—प्रिय कृष्ण प्रवासी हो गए हैं। उनका प्रवास राधा के प्राणों को साल रहा है। प्रिय-विरह में स्थित होकर राधा अपनी सखी से अपनी विरह-व्यथा की करुण-कथा को कहती है।

व्याख्या :—मेरे प्रियतम कृष्ण दूर देश में जाकर किसी अन्य रमणी में अनुरक्त हो गए हैं। हे सखि! कोई उनकी कुशलता का समाचार भी नहीं बतलाता। अर्थात् मेरे प्रिय दूर देश में जाकर मुझसे इतने विमुख हो गए हैं कि वे किसी के द्वारा अपनी कुशल-क्षेम तक नहीं भेजते। (वह मुझसे भले ही विमुख हो जायँ लेकिन मेरी तो यही कामना है कि) वे युग-युग जियें अर्थात् वे दीर्घ जीवन का उपभोग करें, चाहें वे मुझसे लाखों कोस की दूरी पर ही क्यों न निवास करें। वे जो मुझसे इतने विमुख हो गए हैं वह मेरे ही दुर्भाग्य का आयोजन है, इसमें उनका कोई भी दोष नहीं अर्थात् मेरे दुर्भाग्य की प्रेरणा से ही कृष्ण मुझ से इतने विमुख हो गए हैं।

मेरे स्वयं के कर्मों से ही विधाता मेरे प्रतिकूल हो गया है और कृष्ण ने पहली जैसी प्रीति को छोड़ दिया है। भाव यह है कि राधा कृष्ण के प्रति इतनी समर्पणशील है कि वह उनकी निष्ठुरता की शिकायत भी नहीं करती, उनके विश्वासघात को अपने ही दुर्भाग्य का

फल मान लेती है। अब तो हृदय की पीड़ा वाण के समान चुभ रही है अर्थात् प्रिय-विरह की वेदना वाण की तरह प्राणों के अंतरंग में प्रवेश कर गई है। दूसरे की पीड़ा को कोई दूसरा नहीं जान सकता। भाव यह है कि राधा का वियोग-दुख इतना घनीभूत है कि उसको कोई अन्य हृदयंगम भी नहीं कर सकता।

विद्यापति कहते हैं कि राधा कहती है कि (एक पत्नी-व्रती) भगवान राम की जय हो। विधाता द्वारा लिखा हुआ प्रतिकूल-फल ही अपनी अन्तिम परिणिति को प्राप्त हो गया है। अर्थात् विधाता ने मेरे लिए जिस पीड़ा का आयोजन किया है वह अब अपनी चरमावस्था को पहुँच गई है। (अथवा भाग्य द्वारा लिखा हुआ ही प्रतिकूल परिस्थिति के रूप में परिणित होता है।)

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'हृदयक बेदन बान समान' में लुप्तोपमा अलंकार का प्रयोग हुआ है।

२. प्रस्तुत पद में राधिका के परम सात्विक प्रणय की उच्छ्वसित अभिव्यक्ति हुई है। राधा कृष्ण द्वारा दी गई सारी वेदना को चुपचाप पी लेती है, उसे अपने आराध्य के प्रति कोई शिकायत नहीं।

३. 'हृदयक ...जान' की तुलना में भक्ति-प्राणा मीरा की निम्न पँक्तियाँ दृष्टव्य हैं :—

"हेरी मैं तो दरद दिवाणी, मेरो दरद न जाणें कोइ।
घायल की गति घायल जाणें की जिण लाई होइ॥

(९३)

के पतिआ लए जाएत रे मोरा पियतम पास।
हिय नहिं सहए असह दुःख रे भेल साबन मास॥
एकसरि भवन पिया बिन रे मोरा रहलो न जाय।
सखि अनकर दुख दारुन रे के पतिआय॥
मोर मन हरि हरि लए गेल रे अपनो मन गेल।
गोकुल तजि मधुपुर बस रे कत अपजस लेल॥

विद्यापति कवि गाश्रोल रे धनि धरु पिय श्रास ।
श्राश्रोत तोर मन भावन रे एहि कातिक मास ।।

शब्दार्थ :—के-कौन । पतिश्रा-पत्र । लए जाएत-ले जायेगा । हिए-हृदय । सहए-सहन करता है । श्रसह्य-न सहने योग्य । साश्रोन-श्रावण, सावन । एकसरि-श्रकेली । मोरा-मुझसे । रहलो न जाए-रहा नहीं जाता । श्रनकर-श्रन्य का । दारुन-दारुण । के पतिश्राय-कौन विश्वास करता है । हरि लए गेल-हरण करके ले गए । श्रपनो मन गेल-मन स्वयं उनके साथ हो लिया । मधुपुर-मथुरा । कत-क्यों । श्रपजस-श्रपयश । श्राश्रोत-श्रायेंगे । मनभावन-प्रियतम ।

प्रसंग :—कृष्ण के विरह में राधा श्रत्यन्त उच्छ्वसित पीड़ा की श्रनुभूति कर रही है । उसे विश्वास है कि यदि उसके प्रिय उसकी पीड़ा से श्रवगत हो जायेंगे तो वे निश्चय ही श्राकर उसकी पीड़ा मिटायेंगे । इसी श्राशा में वह प्रियतम के पास श्रपना पत्र भेजने के उद्देश्य से कह उठती है ।

व्याख्या :—मेरे प्रियतम के पास कौन मेरा पत्र ले जायगा । सावन का महीना श्रा गया है, श्रब तो (प्रिय-वियोग की वेदना के) श्रसह्य दुख को मेरा हृदय सह नहीं सकता । भाव यह है श्रावण के भीगे महीने में राधिका को प्रियतम का श्रभाव प्राण-दंशक पीड़ा प्रदान कर रहा है ।

राधिका कहती है कि प्रियतम से रहित इस भवन में मुझसे नहीं रहा जाता । हे सखी ! दूसरे की दारुण पीड़ा का कौन विश्वास करेगा । श्रर्थात् मैं जिस कठिन पीड़ा को सह रही हूँ उसका विश्वास ही कौन कर सकता है । भाव यह है कि राधा की पीड़ा को यदि उसकी सखी ही समझ लेती तो वह ही उसका सन्देश प्रिय के पास पहुँचा देती श्रौर फिर उसे इतना रोने गिड़गिड़ाने की श्रावश्यकता ही नहीं रह जाती ।

कृष्ण मेरे मन को हर कर (श्रपने साथ ही) ले गए, श्रथवा मेरा (समर्पणशील) मन भी स्वयं ही उनके साथ हो लिया । श्रर्थात् मेरा मन सदैव ही जहाँ कृष्ण हैं वहीं उनके श्रासपास ही भटकता रहता है । कृष्ण ने गोकुल (की नारियों की श्रपूर्व प्रेम-निष्ठा) का परित्याग कर मथुरा में निवास करके क्यों इतनी श्रपकीर्त्ति श्रर्जित की ।

भाव यह है कि राधिका को अपनी पीड़ा की इतनी चिन्ता नहीं जितनी कि कृष्ण के अपयश फैलने की चिन्ता है। कितनी पूर्ण एवं निर्विकार है उसकी यह प्रेम-भावना।

कवि विद्यापति गायन करते हुए कहते हैं कि (सखी कहती है कि) हे सुन्दरी ! तुम प्रियतम के आने की आशा रखो। तेरे मनभावन साजन इसी कार्त्तिक मास में आवेंगे।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'सखि······पतिआय' में अप्रस्तुतप्रसंशा अलंकार है।

२. 'हरि हरि' में यमकालंकार है।

३. सम्पूर्ण पद में दैन्य और औत्सुक्य संचारियों ने राधिका की पीड़ा की असहायता की मार्मिक व्यंजना की है।

४. श्रावण मास में घुमड़ते बादल, कौंधती बिजली और रह-रह कर बरसती फुहारें विरहिणियों को प्रिय-सान्निध्य की लालसा से व्यग्र कर देती हैं। विद्यापति ने अपने इस पद में श्रावण मास के इसी सत्य की करुणार्द्र अभिव्यक्ति की है। प्रेम-दिवाणी मीरा की निम्न पँक्तियाँ भी इसी सत्य का मुखरण करती हैं :—

"बरसै बदरिया सावन की,
सावन की मन भावन की।
सावन में उमग्यो मेरौ मनवा,
भनक सुनी हरि आवन की।"

(९४)

अंकुर तपन ताप जदि जारब कि करब बारिद मेघे।
ई नव जोबन बिरह गमाओब कि करब से पिया गेहे ॥
हरि हरि के यह दैब दुरासा।
सिन्धु निकट जदि कंठ सुखाएब के दुर करब पियासा ॥
चदन तन जब सौरभ छोड़ब ससधर बरखब आगी।
चिंतामनि जब निज गुन छोड़ब कि मोर करम अभागी ॥
साओन माह घन-विंदु न बरिखब सुरतरु बाँझ कि छाँदे।
गिरिधर सेबि ठाम नहिं पाएब विद्यापति रहु धाँदे ॥

शब्दार्थ ;—तपन ताप-ताप की प्रतप्तता। जदि जारब-यदि जला दे। कि-क्या। करब-करेगा। बिरह गमाओब-बिरह में व्यतीत हो जाए। के-कौन। इह-यह। दैब-भाग्य। सुखाएब-सूख जाय। दुर करब-दूर करेगा। पिआसा-पिपासा। सौरभ-सुगन्ध। छोड़ब-छोड़ दे। ससधर-चन्द्रमा। बरखब-वर्षण करने लगे। चिंतामनि-चिन्तामणि, इच्छाओं की अभिपूर्त्ति करने वाली मणि। अभागीदुर्भाग्य। साओन-सावन। सुरतरु-कल्पवृक्ष। बाँझ-वंध्या, फलहीन। कि छाँदे-किस-प्रकार। गिरिधर-पृथ्वी, कृष्ण। सेवि-सेवा करके। ठाम-स्थान। धाँदे-सन्देह।

प्रसंग :—राधिका सोचती है कि यौवन की सार्थकता तो प्रिय के साथ प्रणय-रस की मधुर केलियों के अविरल नर्तन में है। यदि यौवन अभुक्त ही रह गया और फिर प्रियतम आये तो लाभ ही क्या? राधिका अपने यौवन की इसी निरर्थकता की ज्ञापना अनेक दृष्टान्तों के द्वारा करती है।

व्याख्या :—यदि ताप की ज्वाला नवांकुरों को झुलसा दे तो फिर जलप्रदायक मेघ क्या कर सकता है अर्थात् वह झुलसे अंकुरों को फिर से रसमयी हरीतिमा प्रदान नहीं कर सकता। इसी प्रकार यदि यह मेरा नवयौवन विरह में नष्ट हो गया तो फिर प्रियतम घर आकर क्या करेंगे? अर्थात् यौवन का प्राण-तत्त्व तो प्रिय के साथ का उपभोगा रसमय हास-विलास है, बिना इस प्राण तत्त्व के यौवन निरर्थक है। यौवन के व्यतीत हो जाने पर रसोपभोग की उद्दाम लालसा प्रशमित हो जाती है, तब प्रिय के आने पर उनका प्राणों की मधु ऊष्मा से स्वागत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार उस समय उनका आना बेकार ही होता है।

हे हरि! क्या यह मेरे भाग्य की निराशा नहीं। अर्थात् यह मेरे यौवन की अभुक्तता क्या मेरे दुर्भाग्य का ही आयोजन नहीं है। सागर के तट पर ही यदि कंठ सूख जाय तो फिर पिपासा को किस प्रकार दूर किया जा सकता है। भाव यह है कि कृष्ण तो प्रणय के सागर हैं, और यदि वे ही मेरे प्राणों की सरस पिपासा को नहीं बुझायेंगे तो फिर वह किस प्रकार शान्त हो सकती है अर्थात् शान्त नहीं हो सकती।

यदि चन्दन का वृक्ष अपनी सुगन्धि का परित्याग कर दे, और चन्द्रमा अग्नि का वर्षण करने लगे और चिन्तामणि अपने गुण

(मनोवांछित फल देने) का त्याग कर दे तो क्या यह मेरा ही दुर्भाग्य नहीं है। भाव यह है कि कृष्ण जैसे रसिक शिरोमणि प्रेमी से प्रेम करके भी मैं प्रेम से बंचित रही।

विद्यापति कहते हैं कि सावन के मास में मेघ चाहें एक बिन्दु का भी वर्षण न करें किन्तु क्या (समस्त कामनाओं का अभिपूर्त्ति-कर्त्ता) कल्पवृक्ष फलहीन हो सकता है। अर्थात् नहीं। अतः मुझे इस बात में सन्देह नहीं है कि गिरि को धारण करने वाले अर्थात् सदैव ही संकटों को हरण करने को तत्पर रहने वाले कृष्ण की सेवा करके किसी को (शुभ) स्थान न मिले। अर्थात् कृष्ण की सेवा करने से समस्त कामनाओं की अभिपूर्ति अवश्य होगी।

साहित्यिक विश्लेषणः —

१. 'अंकुर......गेहे' में दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग है।

२. 'सिन्धु......छाँदे' में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का प्रयोग हुआ है।

४. 'गिरिधर' में परिकरांकुर अलंकार है।

५. प्रस्तुत पद में अंकित प्रेम-भावना पूर्णतया शारीरिक है। इसमें प्रेम ने काम का रूप ग्रहण कर लिया है।

(६५)

चानन भेल विषम सर रे, भूषन भेल भारी।
सपनहुँ हरि नहि आएल रे, गोकुल गिरधारी ॥
एकसरि ठाडि कदम-तर रे, पथ हेरथि मुरारी।
हरि बिनु हृदय दगध भेल रे, झामर भेल सारी ॥
जाह जाह तोहें ऊधव हे, तोहें मधुपुर जाहे।
चन्द्रबदनि नहि जीवति रे बध लागत काहे ॥
भनइ बिद्यापति तन मन रे सुन गुनमति नारी।
आजु आओत हरि गोकुल रे पथ चलु झटझारी ॥

शब्दार्थः—चानन-चन्दन। विषम सर-कठोर वाण। भूषन-आभूषण। भारी-बोझिल। एकसरि-अकेली। ठाडि-खड़ी हुई। कदम-

तर-कदम्ब वृक्ष के नीचे। हेरथि-देखती रही। दगध-दग्ध। झामर-मलिन। सारी-साड़ी। जाह-जाओ। तोहें-तुम। मधुपुर-मथुरा। जीबति-जीवित रहेगी। काहे-किसको। झटझारी-अति शीघ्र।

प्रसंगः—विरहिणी राधिका कृष्ण की अदर्शना से पीड़ित होकर अत्यन्त कृशगात्री हो गई है। उसकी एक मात्र अभिलाषा कृष्ण के मिलन की है। वह अकेली कृष्ण की प्रतीक्षा में लवलीन है। उसकी इस दुरावस्था का वर्णन एक सखी उद्धव से करती है।

व्याख्याः—(विरह के दाह के प्रशमन करने के लिए) जो चन्दन उसके शरीर में प्रलेपित है वह अब तीक्ष्ण वाण के समान लगता है। अर्थात् चन्दन के प्रलेपन से उसकी विरह-जनित प्रज्वलनता कम नहीं होती वरन् बढ़ती ही है। इस विरह की पीड़ा से उसका शरीर इतना कृश हो गया है कि उसे आभूषण भी भार-स्वरूप लगने लगे हैं। (अर्थात् वह आभूषणों को भी त्याग बैठी है।) गोकुल के कृष्ण अब उसे स्वप्न में भी दर्शन देने नहीं आते। भाव यह है कि वह उनकी प्रतीक्षा में निशि-वासर जागती ही रहती है, इस प्रकार स्वप्न में कृष्ण-दर्शन की सम्भावना भी उसके जीवन से पलायन कर गई है। सच पूछो तो राधा की पीड़ा की कोई थाह नहीं।

वह राधा एकाकी ही कदम्ब-वृक्ष के नीचे स्थित होकर कृष्ण की बाट जोहती रहती है। कृष्ण के अभाव में उसका हृदय (विरह की ज्वाला में) प्रज्वलित हो रहा है। (इस हृदय के विरह-ताप के कारण उसकी साड़ी भी मलिन हो गई है। भाव यह है कि कृष्ण की पीड़ा में राधिका इतनी अन्तरोन्मुखी हो गई है कि उसे अपनी वेश-भूषा की किञ्चित् मात्र भी चिन्ता नहीं रही है।

हे उद्धव! तुम शीघ्र ही मथुरा जाओ। (और कृष्ण को जाकर राधिका की विरहजन्य मरणान्तक पीड़ा से अवगत कराओ) और उनसे कहना कि) वह चन्द्रमुखी (तुम्हारे बिना) जीवित नहीं रह सकती। यदि तुम्हारी उपेक्षा के परिणाम-स्वरूप उसका प्राणान्त हो गया तो उसकी हत्या का पाप किसे लगेगा। अर्थात् तुम्हीं को लगेगा।

विद्यापति कहते हैं कि हे गुणवती नारी! तुम ध्यान देकर सुनो, आज कृष्ण गोकुल आवेंगे, इसलिए मार्ग में उनसे मिलने के लिये द्रुत गति से चलो।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'जाह जाह' में वीप्सालंकार है।

२. 'चन्द्रवदनि' में लुप्तोपमा अलंकार है।

३. 'चन्द्रबदनि......बध लागत काहे' में अर्थापत्ति का प्रयोग हुआ है।

४. प्रस्तुत पद में अतिशयोक्ति के द्वारा राधिका की विरह पीड़ा का मार्मिक चित्रण हुआ है। औत्सुक्य तथा दैन्य संचारियों ने इस चित्रण को अत्यधिक करुण स्पर्श प्रदान किया है।

५. प्रस्तुत पद में अभिचित्रित विरह-पीड़ा की तुलना में सूर का पद द्रष्टव्य है:—

ऊधो जू ! मैं तिहारे चरनन लागौं बारक या ब्रज करबि भाँवरी।
निसि न नींद आवै, दिन न भोजन भावै, मग जोवत भई दृष्टि झाँवरी ।।
बहै वृंदाबन स्याम सघन बन, बहै सुभग सरि सरि साँवरी।
एक स्याम बिनु स्याम न भावै सुधि न रही जैसे बकत बाबरी ।।
लाज छाँड़ि हम उतहि न आवतीं चलि न सकति आवैं बिरह-ताँवरी।
सूरदास प्रभु वेगि दरस दीजै होय है जग में कीरति रावरी।

(६६)

लोचन नीर तटिनि निरमाने। करए कलामुखि तथहि सनाने ।।
सरस मृनाल करए जपमाली। अहनिस जप हरिनाम तोहारी ।।
वृन्दाबन कानु धनि तप करई। हृदय बेदि मदनानल बरई ।।
जिब कर समिध समर कर आगी। करति होम बध होएबह भागी ।।
चिकुर बरहि रे समरि कर लेअई। फल उपहार पयोधर देअई ।।
भनइ विद्यापति सुनह मुरारी। तुअ पथ हेरइत अछि बरनारी ।।

शब्दार्थ:—लोचन नीर-अश्रु जल। तटिनि-सरिता। निरमाने-बना दी। कलामुखि-चन्द्रमुखी। तथहि-उसी में। सनाने-स्नान। सरस मृनाल-कमल नाल। करए-बनाकर। जपमाली-जपमाला, सुमरनी। तोहारी-तुम्हारे। कानु-कृष्ण। धनि-सुन्दरी। तप करइ-

तपस्या कर रही है। हृदय-वेदि-हृदय रूपी वेदी पर। मदनानल बरई-कामाग्नि प्रज्वलित हो रही है। जिब-प्राण। समिध-सनिधा, यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली लकड़ी। समर कर ग्रागी-स्मरण की अरणी। करति होम-यज्ञ करती है। बध होएबह भागी-हत्या के उत्तरदायी होंगे। चिकुर-केश। बरहि-कुश। समरि-समेट कर, सम्हाल कर। कर लेग्रई-हाथ में लेकर। पयोधर-उरोज। देग्रई-देती है। अछि-है।

प्रसंग :—राधिका विरह की प्रज्वलनता में भस्मीभूत हो रही है। उसकी सखी कृष्ण से उसकी भस्मीभूतता का वर्णन साँगरूपक अलंकार की भूमि पर करती है।

व्याख्या :—अपने अश्रु-जल से सरिता का निर्माण कर वह चन्द्रमुखी (राधिका) उसी में स्नान कर रही है। अर्थात् वह निशि-वासर अश्रु-निर्झरण करती रहती है। वह कमल-नाल की माला बनाकर दिन-रात अर्थात् समय की सम्पूर्णता में तुम्हारे नाम का जाप किया करती है। (भाव यह है कि जिस प्रकार कोई तपस्विनी सरिता के तट पर स्नान करती हुई प्रभु नाम का जाप करती है उसी प्रकार राधिका भी अश्रु-जल-सरिता में अवगाहन करती है। अपने विरह-तप्त शरीर को शीतल करने के उद्देश्य से उसने कमल नाल की माला धारण कर ली है और वह बार-बार प्रियतम-नाम का उच्चारण करती है।)

हे कृष्ण ! वह सुन्दरी वृन्दाबन में तपस्या कर रही है। उसकी हृदय-वेदिका में कामाग्नि प्रज्वलित हो रही है। प्राणों को अग्निहोत्र की लकड़ी तथा स्मरण को अरणी बना कर वह यज्ञ कर रही है। (भाव यह है विरहिणी राधिका बृन्दावन में विरह की जिस पीड़ा का दंशन सहन कर रही है उसको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह विरह का यज्ञ कर रही हो। इस यज्ञ में उसके हृदय में काम की ज्वाला उठती रहती हैं और उसमें वह कृष्ण को स्मरण कर निरन्तर अपने प्राणों को जला रही है।) ऐसी स्थिति में यदि उसका प्राणान्त हो गया तो उसके बध के उत्तरदायी तुम ही होगे। (क्योंकि तुम्हारी ही निष्ठुरता के कारण उसकी मृत्यु होगी)

वह केश रूपी कुशों को हाथ में सम्हाल कर रखी हुई है अर्थात् उसके केशों की स्निग्धता तैलादि न डालने के कारण समाप्त हो गई है और वे कुशों की भाँति रूखे-सूखे हो रहे हैं। और उपहार के रूप में

(यज्ञ के चढ़ावे के रूप में) उरोज रूपी फल देती है। भाव यह है कि वह नायिका कृष्ण के चिन्तन में वक्षस्थल पर हाथ रखे हुए बैठी रहती है और रूखे बाल उसके हाथों के ऊपर बिखरे रहते हैं।

विद्यापति कहते हैं कि (सखी कृष्ण से कहती है कि हे कृष्ण ! सुनो, वह श्रेष्ठ युवती (प्रतीक्षा में) तुम्हारा मार्ग देख रही है।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'लोचनि......सनाने' में अतिशयोक्ति पूर्ण कथन है।
२. 'कलामुखि' में लुप्तोपमा अलंकार का प्रयोग हुआ है।
३. सम्पूर्ण पद में सांगरूपक की योजना है।

(६७)

माधव कठिन हृदय परवासी।
तुझ पेअसि मोयँ देखल बियोगिनि अबहु पलटि घर जासी॥
हिमकर हेरि अवनत कर आनन करु करुना पथ हेरी।
नयन काजर लए लिखये बिधुन्तुद भये रह ताहेरि सेरी॥
दखिन पवन बह से कइसे जुबति सहकर कबलित तनु अंगे।
गेल परान आस दये राखये दस नख लिखए भुजंगे॥
मीनकेतन भय सिब सिब सिब कये धरनि लोटावए देहा।
कर रे कमल लए कुच सिरफल दए सिब पूजए निज गेहा॥
परभृत के डर पाअस लए कर बायस निकट पुकारे।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन करथु बिरह उपचारे॥

शब्दार्थ :—परबासी-प्रवासी। तुअ-तुम्हारी। पेअसि-प्रेयसी। मोयँ देखलि-मैंने देखा है। अबहु-अब भी। पलटि-लौटकर। जासी-जाओ। हिमकर-चन्द्रमा। अबनत करि-झुका लेती है। आनन-मुख। लए-लेकर। बिधुन्तुद-राहु। भये-भयभीत होकर। ताहेरि-उसी की। सेरी-शरण। से-वह। कइसे-कैसे। कर कबलित-आग्रसित करता है। गेल परान-निकलते हुए प्राण। दस नख-दश नाखूनों से। लिखए-चित्रित करती है। भुजंगे-सर्प। मीनकेतन-कामदेव। सिरफल-श्रीफल, बेल। पूजए-पूजती है। परभृत-कोकिल। पायस-खीर। बायस-कौआ। करथु-करें।

प्रसंग :—नायिका विरह की असह्य पीड़ा से उन्मादित है। उसके इसी उन्माद का वर्णन उसकी एक सखी कृष्ण से करती है।

व्याख्या :—हे कृष्ण ! तुम जैसे प्रवासी का हृदय अत्यन्त निष्ठुर है। मैंने तुम्हारी विरहिणी प्रेयसी को देखा है (वह इतनी घनीभूत पीड़ा से दंशित है कि यदि उसके प्राण बचाना चाहते हो तो तुम अब भी लौट कर घर चले जाओ।

वह चन्द्रमा को देख कर अपना मुख नीचा कर लेती है और फिर व्यथा से भर कर (तुम्हारी प्रतीक्षा में) बाट जोहती रहती है। (चन्द्रमा का दर्शन उसके विरह की पीड़ा को अत्यन्त सघन कर देता है इस कारण वह (चन्द्रमा को भगाने के उद्देश्य से) आँखों के काजल से राहु का चित्र चित्रित करती है और (चन्द्रमा के भय के कारण) वह उसी की शरण चली जाती है। भाव यह है कि वह विरहिणी चन्द्रमा की पीड़ा से बचने के लिए उन्मादिनी जैसा आचरण करती है।

(शीतल-मन्द-सुगन्धित) मलय-पवन प्रवाहित होती है, उसको वह युवती कैसे सह सकती है; क्यों कि वह उसके सम्पूर्ण शरीर को ही (काम-भावना द्वारा) आग्रसित कर लेती है। इस आग्रसन से बचने के लिए वह अपनी दशों अँगुलियों के नाखूनों से सर्प के चित्र को चित्रित करती है और इस प्रकार वह अपने जाते हुए प्राणों में आशा का संचार कर उनकी रक्षा करने का उपक्रम करती रहती है। भाव यह है कि प्रकृति के शीतल पदार्थ नायिका के विरह-प्रज्वलन की अभिवृद्धि करते हैं।

वह रमणी कामदेव से भयभीत होकर शिव-शिव कह कर धरती पर अपने शरीर को लुंठित करती है (ताकि वह धूल-धूसरित होकर कामदेव के लिए शिव रूप में प्रतिभासित हो; और कामदेव उसे प्रपीड़ित न करे।) वह हाथ रूपी कमल में उरोज रूपी श्रीफल को (नैवेद्य रूप में) रख कर अपने घर में ही शिव का पूजन करती है। अर्थात् वह आकाँक्षा करती है कि शिव कामदेव से उसकी रक्षा करें।

वह कोकिल (के कामोद्दीपक मधुर स्वर) से भयभीत होकर खीर को हाथ में धारण कर कौवे को पुकारती है। (जिससे कि कौवे

से भयभीत होकर कोकिल अपने स्वरों से उसे काम-भावना से उन्मथित न करे।

विद्यापति कहते हैं कि रूपनारायन राजा शिवसिंह आप उसके विरह को दूर करने का उपाय करें।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. सम्पूर्ण पद में विरह का अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण हुआ है।

२. 'कर रे……गेहा' में रूपकालंकार है।

३. प्रस्तुत पद में जिस प्रकार की ऊहात्मक पद्धति की विरह-दशा का वर्णन हुआ है, उसी प्रकार का वर्णन सूर और जायसी ने भी किया है। इन दोनों के वर्णन भी द्रष्टव्य हैं :—

जायसी का वर्णन :—

"गहै बीन मकु रैनि बिहाई।
ससि बाहन तहँ रहे ओनाई॥
पुनि धनि सिंह उरैहै लागै॥
ऐसिहि बिथा रैनि सब जागै॥"

सूर का वर्णन :—

(अ) दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाही रथ हाँक्यो,
नाहिन होत चन्द को ढरिबो॥

(ब) मन राखन को बेनु लियो कर,
मृग थाके उडुपति न चरै।
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यो कर
जेहि भामिनि को करुन टरै।

इस प्रकार के वर्णनों में बौद्धिक-विलास ही अधिक होता। वस्तुत: इनमें रसमयी भाव-व्यंजना के दर्शन नहीं होते।

(६८)

सरदक ससधर मुखरुचि सोंपलक हरिन के लोचन लीला ।
केसपास लए चमरि के सोंपलक पाए मनोभव पीला ।।
माधव, जानल न जिबति राही ।
जतवा जकर ले ले छलि सुन्दरि से सब सोंपलक ताही ।।
दसन-दसा दालिम के सोंपलक बन्धु अधर रुचि देली ।
देह दसा सौदामिनि सोंपलक काजर सनि सखि भेली ।।
भौंहक भंग अनंग चाप दिहु कोकिल के दिहु बानी ।
केवल देह नेह अछ लओले एतवा अएलहुँ जानी ।।
भनइ विद्यापति सुन बर जौबति चिन्त झँखह जनु आने ।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन लखिमा देइ रमाने ।।

शब्दार्थः—सरदक ससधर-शारदीय चन्द्र । मुख-रुचि-मुख की आभा । सोंपलक-सौंप दी है । लोचन-लीला-नेत्रों की चपलता । चमरि-चमरी गाय, वह गाय जिसकी पूँछ का चँवर बनाया जाता है । मनोभव-कामदेव । पीला-पीड़ा । जानल न जीवति राही-मैं समझ गई राधा जीवित नहीं बचेगी । जतबा-जितना । जकर-जिसका । छलि-थी । ताहि-उसी को । दसन-दसा-दाँतों की काँति । दालिम-दाड़िम, अनार । बन्धु-बन्धूक, वह लाल पुष्प जिसे मिथिला में मधुरी का फूल कहते हैं । रुचि-काँति । सौदामिनि-बिजली । काजर सनि-काजल के समान । भेली-हो गई । भौंहक-भंग-भ्रू-भंगिमा । अनंग चाप-कामदेव का धनुष । दिहु-प्रदान कर दी । नेह-स्नेह । अछ लओले-लिए हुए है । एतवा अएलहुँ जानी-इतना जान पाई हूँ । झँखह-झुँझलाहट । जनु आने-मत लाओ ।

प्रसंग :—कृष्ण के विरह ने राधिका के शरीर के सौन्दर्य को झुलसा दिया है । उसकी सखी कृष्ण से उसके सौन्दर्य की कान्तिहीनता का चमत्कारिक ढंग से वर्णन करती है ।

व्याख्या :—कामदेव द्वारा अत्यधिक प्रपीड़ित होने के कारण (उस राधिका ने) अपने मुख की (अपूर्व धवलिमायुक्त) कांति शारदीय चन्द्र को, नेत्रों की (यौवन चपल) भ्रभंगिमा हरिण को तथा अपनी गुच्छ-गुच्छ केश-राशि चँवर गाय को सौंप दी है । अर्थात् काम

की व्यथा के कारण उस राधा का मुख निष्प्रभ, नेत्र उदास और अचंचल तथा केश प्रसाधनीय शोभा से वंचित हो गए हैं।

हे कृष्ण ! (उसके निष्प्रभ शारीरिक सौन्दर्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि) अब राधा जीवित नहीं बचेगी। उस सुन्दरी ने जितना कुछ (रूप-सौन्दर्य) जिससे लिया था, वह सब उन्हीं को सौंप दिया है। (मानो उसने सारे सौन्दर्य के ऋणों को लौटा कर महाप्रयाण की तैयारी कर ली हो।)

उसने अपने दाँतों की (श्वेत-रक्तिम) काँति को अनार के दानों को, अधरों की (रक्ताभ) काँति को बन्धूक के पुष्प को तथा अपनी देह-यष्टि की (धवल-चंचल), आभा बिजली को सौंप दी है। इस प्रकार मेरी सखी (विरहाग्नि में झुलस कर) काजल के समान कालिमा युक्त हो गई है। तात्पर्य यह है कि उसके अंग-प्रत्यंगों का सौन्दर्य अपने-अपने प्राकृतिक सौन्दर्योपमानों में समाहित हो गया है।

(उस मेरी सखी ने) अपनी (यौवन-चंचल-बंकिम) भ्रू-भंगिमा कामदेव के धनुष को तथा अपनी वाणी (की मधुरिमा) कोकिल को प्रदान करदी अर्थात् अब वह न तो कटाक्ष-संचालन करती है और न ही यौवन की रसमयता से सिक्त मधुर बचन ही बोलती है। उस विरहिणी ने अपने शरीर में केवल स्नेह को बचा रखा है, यही जान कर मैं (तुम्हारे पास) आई हूँ अर्थात् वह अभी तक जीवित है तो केवल तुम्हारे प्रेम के कारण।

विद्यापति कहते हैं कि हे सुन्दरी ! सुनो, तुम अपने चित्त में झुँझलाहट मत लाओ। रूपनारायण राजा शिवसिंह लखिमा देवी के पति हैं।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. प्रस्तुत पद में प्रतीप अलंकार का चमत्कार दर्शित होता है।

२. विद्यापति की भाँति ही भक्त-प्रवर सूरदास ने भी "अप्रस्तुत-प्रशंसा द्वारा राधिका के अंगों और चेष्टाओं का विरह से द्युतिहीन और मन्द होना व्यंजित किया है" :—

तब तें इन सबहिन सचु पायो।
जब तें हरि संदेस तिहारो, सुनत ताँवरो आयो॥

फूले व्याल दुरे तें प्रगटे, पवन पेट भरि खायो।
ऊँचे बैठि विहंग-सभा विच कोकिल मंगल गायो॥
निकसि कंदरा तें केहरिहू माथे पूँछ हिलायो।
बन-गृह तें गजराज निकसि कै अँग-अँग गर्व जनायो॥

उपर्युक्त सूर के पद में चित्रित राधिका की अपेक्षा विद्यापति की राधिका की वेदना अधिक करुण एवं मर्मस्पर्शी है।

(१९)

अनुखन माधव माधव सुमरइत सुन्दिरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबधाई॥
माधव अपरुब तोहर सिनेह।
अपने विरह अपन तनु जरजर जिवइत भेलि संदेह॥
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छलछल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि॥
राधा सयँ जब पुनतहि माधव माधव सयँ जब राधा।
दारुन पेम तबहिं नहि टूटत बाढ़त विरहक बाधा॥
दुहु दिसि दारु-दहन जैसे दगधइ आकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कबि बिद्यापति भान॥

शब्दार्थः—अनुखन-अनुक्षण, प्रत्येक क्षण। सुमरइत-स्मरण करते हुए। मधाई-माधव। निज भाव-स्वत्व। बिसरल-भूल गई। लुबुधाई-मुग्ध हो गई। तोहर सनेह-तुम्हारा स्नेह। जिवइत-जीवित रहने में। भोरहि-प्रातः काल होते ही, अथवा विह्वल होकर। कातर दिठि हेरि-कातर दृष्टि से देखकर। पानि-जल। आधा आधा बानि-अस्फुट स्वरों में। पुनतहि-फिर। सयँ-से। दारुन-दारुण, कठिन। विरहक बाधा-विरह की वेदना। दुहुदिसि दारु-दहन-लकड़ी के दोनों ओर से जलने से। दगधई-जलाती है। कीट-कीडा। परान-प्राण। ऐसनि-इसी प्रकार। बल्लभ-स्वामी, कृष्ण।

प्रसंग :—राधा कृष्ण के विरह में प्रणय की अद्वैत-भूमि की अधिवासिनी हो जाती है। इस भूमि पर उसका विरह समाधि का रूप ग्रहण कर लेता है। राधिका की इसी परम विरहासक्ति का वर्णन उसकी सखी कृष्ण से करती है।

'व्याख्या :—प्रत्येक क्षरण माधव-माधव की रटना लगाने से राधिका स्वयं भी माधवमय हो गई। भाव यह है कि राधिका अपने प्रिय की याद करते करते 'भृंगी गति' को प्राप्त हो गई, उसने स्वयं माधवत्व की अभिधारणा कर ली। (माधव-भाव में स्थित हो जाने पर) वह स्वाभाविक रूप से अपने भाव अर्थात् राधात्व को विस्मृत कर अपने ही गुणों पर मुग्ध हो गई। अर्थात् वह अपने राधापन पर ही आसक्त हो गई।

हे कृष्ण ! तुम्हारा प्रेम अपूर्व है। (तुम्हारे स्नेह की अपूर्वता अर्थात् चरम विरहोन्माद के कारण ही) उस राधिका ने अपनी ही देह जर्जर कर डाली है अर्थात् वह अहर्निशि तुम्हारा ध्यान करते रहने के कारण स्वयं को माधव समझकर स्वयं के ही राधापन के विरह में ही जीर्ण-शीर्ण हो रही है। इस प्रकार उसकी असह्य पीड़ा की स्थिति इतनी विकटतर हो गई है कि अब तो उसका जीवित रहना भी सन्देह में पड़ गया है।

(इस असह्य पीड़ा के दंशन से) बेसुध होकर वह वियोगिनी अत्यन्त कातर-दीन-हीन-अकिञ्जन-दृष्टि से अपनी सखियों को देख-देख कर अपने नयनों से अश्रु-जल को छल-छल छलकाती रहती है। (मानो माधवत्व की भ्रान्ति में स्थित होकर वह गहरी पीड़ा की मूक दृष्टि द्वारा अपनी ही सहेलियों से राधिका के विषय में जानना चाहती हो) वह अनुक्षण (प्रेम-विह्वल) अस्फुट स्वरों में राधा-राधा का नामोच्चार करती रहती है। वह राधा से कृष्ण-भाव में और फिर कृष्ण-भाव से राधा की अपनी (मूल) भावना में स्थित हो जाती है, इन दोनों ही स्थितियों में उसका दारुण अर्थात् सांघातिक प्रेम टूटता नहीं अर्थात् वह अप्रतिहत गति से उसके प्राणों में तरंगायित होता रहता है और इस प्रकार उसकी विरह की (दुर्धर्ष) पीड़ा बढ़ती ही जाती है। भाव यह है कि वह राधा-भाव में माधव की पीड़ा में और माधव-भाव में राधा की पीडा में प्रज्वलित रहती है। इस प्रकार उसकी वेदना का प्रज्वलन अविच्छिन्न रहता है।

राधा के प्राणों की यह प्रज्वलनता उसी प्रकार की है जिस प्रकार कि दोनों ओर से लकड़ी के जलने पर उनके मध्य में स्थित कीड़ा जलता है और उसके प्राण अत्यन्त व्याकुल होते हैं। क्योंकि किसी भी दिशा में बढ़ने पर वह दाह से बच नहीं सकता।)

कवि विद्यापति कहते हैं कि हे कृष्ण तुम ऐसी (विरह-विदग्ध) चन्द्रमुखी को देखो। अर्थात् उसे जाकर इस निविड़ पीड़ा से मुक्ति दो।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'छल छल', 'राधा राधा', और 'आधा आधा' में वीप्सालंकार हैं।

२. 'दुहुदिस······परान' में वाक्यार्थोपमा अलंकार हैं।

३. 'सुधामुखि' में लुप्तोपमा अलंकार का सौन्दर्य है।

४. 'सुमरइत सुन्दरि' तथा 'जरजर जिवइत' में छेकानुप्रास तथा 'बाढ़त बिरहक बाधा' और 'दुह दिसि दारु दहन' में वृत्यानुप्रास का सौन्दर्य दर्शित होता है।

५. प्रस्तुत सम्पूर्ण पद में 'उन्माद' संचारी के रति-भाव के अंग-रूप में व्यवहृत होने के कारण 'प्रेयस्' अलंकार की व्याप्ति है।

६. प्रस्तुत पद में राधिका के रूढ़ महाभाव का चित्रण हुआ है। इस चित्रण में भक्ति की पावनता के दर्शन होते हैं।

७ प्रस्तुत पद की समतुलना में सूर का निम्नपद द्रष्टव्य है :—

"सुनो स्याम यह बात और कोउ क्यों समुझाय कहै।
दुहुँ दिसि को रति-विरह बिरहिनी कैसे कै जु सहै॥
जब राधे तब हीं मुख माधौ-माधौ रटति रहै।
जब माधौ होइ जात सकल तनु राधा बिरह दहै॥
उभय अग्र दौ दारु कीट ज्यों सीतलताहि चहै।
सूरदास अति बिकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै॥

८. प्रस्तुत पद के भाव-सौन्दर्य से प्रभावित होकर श्री शिवप्रसाद सिंह ने अपने ग्रंथ 'विद्यापति' में लिखा है कि "द्विधा-अग्नि से पीड़ित राधा की यह कंचन-मूर्ति विद्यापति के आँसुओं से अभिषिक्त हुई है······मैं नहीं जानता कि किसी दूसरे कवि ने अपनी नायिका को ····· विरह पीड़ित शची की तरह पवित्र और पार्वती की तरह साधनारत बनाया होगा।"

॥ भावोल्लास ॥

(१००)

सुतलि छलहुँ हम घरवा रे गरबा मोतिहार ।
राति जखनि भिनसरुवा रे पिया आएल हमार ॥
कर कौसल कर कपइत रे हरबा उर टार ।
कर-पंकज उर थपइत रे मुख चंद निहार ॥
केहिन अभागिलि बैरिन रे भागलि मोर निन्द ।
भल कए नहिं देख पाओल रे गुनमय गोबिन्द ॥
विद्यापति कबि गाओल रे धनि मन धरु धीर ।
समय पाए तरुवर फर रे कतबो सिचु नीर ॥

शब्दार्थ :—सुतलि छलहुँ-सोई हुई थी । घरबा-घर में । गरबा-गले में, ग्रीवा में । मोतिहार-मोतियों की माला । जखनि-जिस क्षण । भिनुसरुवा-भोर, प्रातःकाल । कर कँपइत-काँपते हुए हाथों से । हरबा-हार । टार-हटाया । उर थपइत-वक्षस्थल पर स्थापित करता हुआ । केहनि-कैसी । अभागलि-अभागिनी । भागल मोर निन्द-मेरी नींद भाग गई । भल कए-भली भाँति । धरु धरि-धैर्य धारण कर । कतवो सिचु नीर-चाहे उसे कितना ही जल से सींचो ।

प्रसंग:—नायिका स्वप्न में प्रिय-के स्पर्श से अमित आनन्द की अनुभूति करती है । लेकिन नींद टूट जाती है और वह स्वप्न-माधुरी से बंचित होकर स्वप्न में अनुभूत प्रिय के प्रत्येक स्पर्श का वर्णन अपनी सखी से निश्चल भाव से करती है ।

व्याख्या :—मैं गले में मोतियों की माला पहने हुई घर में सोई हुई थी कि रात्रि के व्यतीत होने पर उषाकाल के क्षणों में ही (स्वप्न में) मेरे प्रियतम आए । और उन्होंने (अत्यन्त सावधानी से) काँपते हुए हाथों से (जिससे कि मैं कहीं जाग न जाऊं) मेरे वक्षस्थल से मोतियों की माला को हटाया और अपने कमल रूपी हाथों को मेरे वक्षस्थल पर स्थापित कर (प्रेम-विभोर होकर) मेरे मुख-चन्द्र को देखने लगे ।

(हाय) मैं कैसी अभागिनी निकली कि मेरी दुष्टा नींद भाग गई और (स्वप्न में) गुणशाली गोबिन्द को भली भाँति देख भी न पाई ।

विद्यापति गायन करते हुए कहते हैं कि सखी समझाती हुई कहती है कि) हे सुन्दरी ! तुम अपने मन में धैर्य धारण करो । वृक्ष समय पर ही फल देता है चाहे उसे जल से कितना ही क्यों न सींचो । अर्थात् तुम चाहे कितना ही अश्रु-जल प्रवाहित क्यों न करो कृष्ण समय पर ही तुम्हें प्राप्त होंगे ।

साहित्यिक विश्लेषण:—

१. 'कर-पंकज' तथा 'मुख चंद' में रूपकालंकार है ।

२. 'भागलि मोर निंद' में नींद का मानवीकरण हुआ है ।

३. 'समय......नीर' में दृष्टान्त अलंकार है ।

४. पूरे पद में स्मरण अलंकार है ।

५. प्रस्तुत पद में लोकगीतीय अनलंकृत सुन्दरता, भावों की सहजता तथा भाषा की सुकुमार मधुरता का त्रिवेणी-संगम हुआ है ।

६. स्वप्न-भंग की पीड़ा एक सार्वकालिक सत्य है । कवि 'पराग' की विरहिणी की कसक भी दृष्टव्य है:—

सजनि, स्वप्न में साजन आए,
लेकर विगत बहार ।
निंदिया बैरिन देख न पाई
मेरा पुलकित प्यार ।

(१०१)

सरस बसंत समय भल पाओलि दछिन पवन बहु धीरे ।
सपनहुँ रूप बचन एक भाखिए मुख सों दूरि करू चीरे ।।
तोहर बदन सम चान होअथि नहि जइओ जतन बिहि देला ।
कए बेरि काटि बनाओल नब कैं तइओ तुलित नहि भेला ।।
लोचन-तूल कमल नहिं भए सक से जग के नहि जाने ।
से फेरि जाए लुकाएल जल-मयँ पंकज निज अपमाने ।।
भनहि विद्यापति सुनु बर जौबति ई सभ लछमी समाने ।
राजा सिवसिंघ रूपनरायण लखिमा देइ पति भाने ।।

शब्दार्थ:—सरस-रसमय । पाओलि-पाया । दछिन पवन-मलयज । बहु-प्रवाहित थी । सपनेहुँ-स्वप्न में । रूप-व्यक्ति । भाखिए-कहा । दुरि करु-दूर करो । चीरे-वस्त्र । चान्द-चन्द्रमा । होअथि-होता है । जइओ-यद्यपि । जतन-यत्न । कए बेरि-कितनी ही बार । काटि बनाओल-काट छाँट कर बनाया । नब कै-नवीन करके । तइओ-तथापि । तुलित-समतुल्य । तूल-तुल्य, समान । भए सक-हो सका । के-कौन । लुकाएल-छिप गया ।

प्रसंग :—नायिका स्वप्न में सुनी अपनी अपूर्व रूप-प्रशंसा की वर्णना अपनी सखी से करती है ।

व्याख्या :—वसन्त का रस-सिक्त सुन्दर समय था (प्रभात कालीन) मलय पवन मन्थर गति से दोलायमान थी कि किसी व्यक्ति ने स्वप्न में एक बात कही कि हे सुन्दरी ! तुम अपने मुख पर से वस्त्र को हटाओ । अर्थात् अपना मुख अनावृत कर दो । तुम्हारे मुख के (निष्कलंक एवं धवल सौन्दर्य के) समान चन्द्रमा नहीं हो सकता, यद्यपि विधाता ने उसको तुम्हारे मुख की अपेक्षा सुन्दर बनाने के लिए अनेक यत्न किए हैं । यद्यपि उसने उसे कितनी ही बार काँट छाँट कर नया रूप देकर बनाया तथापि वह चन्द्रमा सौन्दर्य में तुम्हारे मुख के समतुल्य नहीं हो पाया । भाव यह है कि विद्यापति-सुचित्रित नायिका के मुख की शोभाशीलता अनुपम है, क्योंकि मुख के सौन्दर्य का सर्वश्रेष्ठ प्राकृतिक उपमान चन्द्रमा ही उसके मुख के समक्ष हेय है ।

संसार में कौन नहीं जानता कि कमल तुम्हारे नेत्रों की (की स्निग्ध नीलिमा) की समतुलना नहीं कर सका । इसी कारण वही कमल अपने अपमान से विलज्जित होकर जल में छिप गया है ।

विद्यापति कहते हैं कि श्रेष्ठ युवती, सुनो, तुम्हारे ये सब सौन्दर्य-लक्षण लक्ष्मी के समान हैं । रूपनारायण राजा शिवसिंह लक्ष्मी देवी के पति हैं ।

साहित्यिक विश्लेषण :–

१. 'तोहर बदन······अपमाने' में व्यतिरेक अलंकार का प्रयोग हुआ है । कतिपय टीकाकारों ने इसमें प्रतीत अलंकार के दर्शन किए हैं, लेकिन हमारे मत में उपमेय के उत्कर्ष के सहेतुक कथन के कारण व्यतिरेक अलंकार ही है ।

२. 'पंकज' शब्द में परिकरांकुर अलंकार है।

३. पूरे पद में अतिशयोक्ति पूर्ण है ढंग से नायिका का रूपांकन हुआ है। इस रूपांकन में विद्यापति की भव्य कल्पना के परिदर्शन होते हैं।

(१०२)

मोरा अँगनवा चनन केरि गछिया.
ताहि चढ़ि कुररय काग रे।
सोने चोंच बाँधि देब तोयें बायस,
जओं पिया आबत आज रे॥
गावह सखि सब झूमर लोरी,
मयन अराधन जाऊँ रे।
चओदिस चम्पा मओली फूलिल,
चान उजोरिया राति रे॥
कइसे कए मोयं मयन अराधव,
होइति बड़ि रति साति रे।
विद्यापति कबि गाबए तोहर,
पहु अछ गुनक निधान रे॥
राओ भोगीसर सभ गुन आगर,
पदमा देइ रमान रे॥

शब्दार्थ :—अँगनवा-आँगन में। चनन केरि गछिया-चन्दन का वृक्ष। ताहि-उस पर। कुररय-बोलता है। काग-कौआ। देब-दूंगी। तोयें-तेरी। बायस-कौआ। जओं-यदि। गाबह-गाओ। झूमर लोरी-नृत्य के अवसर का गीत विशेष। मयन-कामदेव। अराधन-आराधना। चओदिसि चारों दिशाओं में। मओली-मल्लिका। फूलिल-फूल रही है। चान-चन्द्रमा। उजोरिया-उजाली, उज्ज्वल। रति-काम। होइति बड़ि रति साति रे-काम जनित अत्यधिक पीड़ा होती है। पहु-प्रियतम। अछ-है। राओ भोगीसर-राजा भोगीश्वर। आगार-निधान।

प्रसंग :— विद्यापति के बहुत से पदों में लोकगीतों की अकुंठित भावावेगिलता की सहज प्रकाशना हुई है। प्रस्तुत गीत में काम-पीड़ा से भावोल्लसित नारी की संवेदना मुखरित हुई है।

व्याख्या :—मेरे आँगन में चन्दन का पेड़ है, उस पर चढ़ कर कौआ बोलता है। (कौवे के बोलने को प्रिय-आगमन की शकुनात्मक पूर्व-पीठिका मान कर नायिका कौवे से कहती है कि) हे वायस ! यदि मेरे प्रियतम आज आजाएँगे तो मैं तेरी चोंच को सोने से मढ़ा दूँगी।

हे सखियों ! तुम सब मिलकर (नृत्य करती हुई) झूमर-लोरी गाओ, मैं कामदेव की आराधना के लिए जाती हूँ। भाव यह है कि आज प्रियतम आ रहे हैं, उनके साथ में काम की रसमयी आराधना करूँगी। अतः तुम सब मादक गीतों का गायन करके मेरे मन में मधुर-उल्लास भर दो। ताकि मेरी कामाराधना सफलता से सम्पन्न हो। (आज का वातावरण भी बड़ा ही उन्मादक है) चतुर्दिक चम्पा और मल्लिका के कुसुम प्रफुल्लित हैं और रात भी चन्द्रमा से उज्ज्वल है अर्थात् स्वच्छ और शीतल ज्योत्स्ना से धुली और पुष्पों से सौरभीली रात बड़ी ही उन्मादक है। ऐसे वातावरण में (प्रियतम के विरह में) मैं किस प्रकार कामदेव की आराधना कर सकूँगी, मुझे तो अत्यधिक काम-जनित पीड़ा (की अनुभूति) हो रही है। अर्थात् मैं चन्द्रिका-स्नात रात्रि के प्रमत्त करने वाले वातावरण में प्रिय के अभाव में अत्यन्त काम-विह्वल हो रही हूँ।

कवि विद्यापति गायन करते हुए कहते हैं कि (सखियाँ कहती हैं कि) तुम्हारा प्रियतम तो गुणों का आगार है। पद्मादेवी के पति राजा भोगीश्वर सारे ही गुणों के निधान हैं।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. प्रस्तुत पद में औत्सुक्य संचारी के द्वारा प्रियतम-प्रतीक्षा-रता नारी का अत्यन्त चपल एवं सजीव चित्रण हुआ है।

२. विद्यापति ने प्रस्तुत पद में लोकगीतों में प्रचलित प्रोषितपतिका के काक-शुकन-विधान को ग्रहण किया है।

(१०३)

सुन रसिया, अब न बजाऊ बिपिन बंसिआ।
बार बार चरणारविंद गहि सदा रहब बनि दसिया ॥
कि छलहुँ कि होएब से के जाने वृथा होएत कुल हसिया
अनुभव ऐसन मदन-भुजंगम हृदय मोर गेल डसिया ॥

नंद नदंन तुब सरन न त्यागब बलु जग होय दुरजसिया
बिद्यापति कह सुन बनिता मनि तोर मुख जीतल ससिश्रा
धन्य धन्य तोर भाग गोश्ररिनि हरि भजु हृदय हुलसिया ।।

शब्दार्थ :—रसिया-रसिक । बिपिन-वन में । बंसिश्रा-बंशी । चरणारविंद-चरण-कमल । सदा रहब-सदैव रहूँगी । बन दसिश्रा-दासी बन कर । कि-क्या । छलहुँ-थी । होएब-होऊँगी । से-वह, उसे । के जाने-कौन जानता है । वृथा-व्यर्थ ही । कुल हसिया-कुल की हँसी । ऐसन-ऐसा । मदन-भुजंगम-कामदेव रूपी सर्प । गेल डसिया-दंशित कर गया । तुश्र सरन-तुम्हारी शरण । बलु-भले ही । दुरजासिश्रा-श्रपयश । बनितामनि-स्त्रियों में रत्न-स्वरूप । जीतल-जीत लिया । ससिश्रा-चन्द्रमा । गोश्ररिनि-ग्वालिनी । हुलसिया-प्रसन्न होकर ।

प्रसंग :—कृष्ण की मुरलिका से अन्तर-घट तक प्यासी होकर राधिका लोक-लाज तक का त्यागन कर देती है । इससे वह श्रपकीर्त्ति की भागिनी होती है । इस कारण वह नायक से बंशी न बजाने की प्रार्थना करती है ।

व्याख्या :—हे रसिक कृष्ण ! सुनो, तुम (कृपा करके) श्रब वन में मुरली मत बजाया करो । मैं बार-बार तुम्हारे चरण-कमल पकड़ कर तुमसे कहती हूँ कि मैं सदैव तुम्हारी दासी बन कर ही रहूँगी । श्रर्थात् मैं तुम्हारी इंगितानुगामिनी तो वैसे ही हूँ, यों बंशी बजाकर सबके सामने ही न बुलाया करो, क्यों कि इससे लोक-लाज जाती है ।

मैं पहले क्या थी ? श्रौर श्रब क्या होऊँगी ? इसे कौन जानता है । श्रर्थात् हमारे तुम्हारे मध्य का गोपन प्रणय-व्यापार कोई भी नहीं जानता । इस प्रकार खुले खजाने मुरली बजा-बजा कर श्रामंत्रित करने से व्यर्थ ही मेरे कुल की हँसाई होती है । (भाव यह है कि नायिका नायक से गुप्त प्रणय-सम्बन्ध ही रखना चाहती है ।) मुझे ऐसा श्रनुभव हो रहा है कि कामदेव रूपी सर्प ने मेरे हृदय को दंशित कर लिया है। (यह सब तो तुम्हारी मुरली का ही प्रभाव है श्रौर श्रब तो मेरी तुम्हारे प्रति प्रीति इतनी उच्छ्वसित हो उठी है कि) हे कृष्ण ! श्रब मैं तुम्हारी शरण श्रर्थात् सान्निध्य नहीं त्यागूँगी, भले ही संसार में मेरी श्रपकीर्त्ति फैल जाए ।

विद्यापति कहते हैं कि हे स्त्री-रत्न राधा ! सुनो तुम्हारे मुख ने चन्द्रमा को जीत लिया है अर्थात् चन्द्रमा का सौन्दर्य तो सकलंक है जब कि तेरा मुख निष्कलंक है। (कृष्ण से प्रेम करके किसी का भी मुख कलंकित नहीं होता इसलिए) हे ग्वालिनि ! तेरा भाग्य सराहनीय है; तू हृदय में हुलसित होकर कृष्ण का भजन कर।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'मदन-भुजंगम' में रूपक है।

२. 'तोर मुख जीतल समिश्रा' में प्रतीप अलंकार है। कुछ टीकाकारों ने इसमें व्यतिरेक अलंकार का उल्लेख किया है, किन्तु इसमें उपमेय की सहेतुक उत्कर्ष की व्यंजना के अभाव में प्रतीप अलंकार ही का प्रकर्ष है।

३. 'धन्य धन्य' में वीप्सालंकार है।

४. 'बजाऊ विपिन बंसिश्रा' में वृत्यानुप्रास तथा 'हृदय हुलसिया' में छेकानुप्रास है।

(१०४)

सखि कि पुछसि अनुभव मोय।
से हो पिरित अनुराग बखानिए तिल तिल नूतन होय॥
जनम अबधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।
सेहो मधु बोल स्रवनहि सूनल स्रुति पथ परस न भेल॥
कत मधु जामनि रभस गमाश्रोल न बूझल कइसन केल।
लाख लाख जुग हिय हिय राखल तइयो हिय जुड़ल न गेल॥
कत विदगध जन रस अनुमोदई अनुभब काहु न पेख।
बिद्यापति कह प्राण जुड़ाएत लाखे न मिलल एक॥

शब्दार्थ :—कि पुछसि-क्या पूछ रही है। मोय-मेरा। से हो-वही। पिरित-प्रीति। तिल तिल-क्षण-प्रतिक्षण। जनम अबधि-जीवन भर। निहारल-निहारा देखा। तिरपित-तृप्त। भेल-हुए। स्रबनहि-कानों से। स्रुति पथ परस न भेल-मानो कानों के पर्दे का स्पर्श ही नहीं किया। कत-कितनी ही। मधु-जामिनि-मधु-यामिनियाँ, बसन्त की रातें। रभस-रति-क्रीड़ा। गमाश्रोल-व्यतीत की। न बूझल-ज्ञात नहीं हुआ।

कइसन-कैसी। केल-रति-क्रीड़ा। राखल-रखा। तइओ-तब भी। जुड़ल न-शीतल नहीं हुआ। विदगध जन-रसिक जन। अनुमोदइ-उपभोग करते हैं। पेख-देखता है। प्राण जुड़ाएल-प्राणों को शीतल करने वाला।

प्रसंग :—प्रेम की पिपासा चिरस्थायिनी है। प्रेमी हृदय में प्रतिपल नवीन-नवीन मधु तृषनाओं का उद्रेकन होता रहता है। इनका कोई अन्त नहीं, कोई ओर-छोर नहीं। ऐसा नित नूतन प्रेम अनिर्वचनीय है। इसीलिए राधिका अपनी सखी द्वारा प्रेमानुभूति के विषय में पूछे जाने पर कहती है।

व्याख्या :—हे सखि ! तू मेरा (प्रीति-विषयक) अनुभव क्या पूछ रही है। (मेरे विचार में तो) अनुराग उसी प्रीति को कहना चाहिए जो कि प्रतिक्षण ही नवीन होती जाय। भाव यह है कि प्रेम की चिरकालिक नूतनता अथवा प्रीति की चिर अतृप्ति की तरंगिमा ही अनुराग की संज्ञा धारण करती है।

जन्म भर मैं प्रियतम का सौन्दर्य ही निहारती रही, किन्तु मेरे नेत्र तृप्त नहीं हुए. उसकी मधुरिम वाणी को सदैव अपने कानों से सुनती रही हूँ, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि मानो उसने मेरे कानों का स्पर्श भी नहीं किया है। अर्थात् प्रिय की रूपच्छवि देखने की तथा उसकी रस घोलने वाली वाणी को सुनने की लालसा सदैव ही बनी रहती है।

मैंने अपने प्रिय के साथ कितनी ही वासन्तिक रात्रियों को (रसोपभोग में) व्यतीत किया है, लेकिन फिर भी आज तक नहीं समझ पाई हूँ कि केलि करना किसे कहते हैं ? अर्थात् केलि-रस की क्षण-क्षण की मादकता नूतनता के कारण उसके प्रति मेरे अन्दर कुंवारेपन की सी आकर्षणपूर्ण उत्सुकता बनी रहती है। मैं लाखों युगों से उसके हृदय को अपने हृदय से लगाए रही, लेकिन हृदय आज तक शीतल न हुआ। अर्थात् सदा से ही मैं प्रिय को अपने हृदय से लगाए हुए हूँ लेकिन तब भी मेरी पिपासा—मेरी प्रणयोष्णता अभी तक शान्त नहीं हुई है।

(कहने को तो) अनेकों ही रसिकजनप्रेम-रस का उपभोग किया करते हैं, लेकिन इसका पूर्ण अनुभव (अभी तक) किसी को भी नहीं हुआ है। भाव यह है कि अनुराग तो 'तिल तिल नूतन' होता है, जिस कारण कोई कैसा भी रसिक-शिरोमणि क्यों न हो इसको सम्पूर्ण

रूप से अनुभव कभी कर ही नहीं सकता ।

विद्यापति कहते है कि राधिका कहती है कि ढूंढ़ने पर लाखों में एक भी मनुष्य ऐसा न मिला जो यह कह सके कि मेरे प्राण प्रेम-रस से शीतल हुए हैं। भाव यह है कि प्रेम-रस तो चिरकालिक अतृप्त पिपासा है।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. 'तिल तिल' में वीप्सालंकार है।

२. 'जनम......भेल' में विशेषोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

३. 'से हो.........केल' में विरोधाभास, विशेषोक्ति अलंकार की संसृष्टि है।

४. 'लाख......गेल' में विरोधाभास, विशेषोक्ति तथा अतिशयोक्ति अलंकारों का त्रिवेणी-संगम हुआ है।

५ सम्पूर्ण पद में अतिशयोक्ति की व्यंजना द्रष्टव्य है।

६. 'से हो पिरित... नूतन होय' के समानान्तर 'उज्ज्वल-नीलमणि' का निम्न श्लोक द्रष्टव्य है:—

सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम् ।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुरागो इतीर्यते ॥

७. प्रस्तुत पद को कुछेक विद्वानों ने कवि वल्लभ की रचना माना है किन्तु डा॰ श्री कुमार वन्द्योपाध्याय ने इसे विद्यापति-कृत ही माना है। अपने ग्रंथ "बांगला साहित्येर कथा" में उन्होंने अपनी इस मान्यता को स्थापित करते हुए इस पद का काव्य-वैभव इन शब्दों में उद्‌घाटित किया है:—"यह महागीत किसी महाकवि की प्रतिभा से उत्सारित हुई है. इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं है। ... प्रेम का रहस्यमय विपरीत-धर्मित्व, इसकी आनन्द-वेदना के कारण अविच्छिद्य-भाव में जड़ित प्रकृति, इसका सर्वग्रासी आकर्षण, सब भुला देने वाला मोह, उनके पदों में [चण्डीदास और ज्ञानदास के पदों में—लेखक] सार्वभौम व्यंजना के साथ फूट पड़ता है, किन्तु आलोच्य पद की

कल्पना की विशाल विश्व-व्यापी, असीमकाल में प्रसारित, सृष्टि रहस्योदभेदकारी परिधि (Cosmic—imagination) चण्डीदास या ज्ञानदास में नहीं है। प्रेम की चिरन्तन अतृप्ति, आदर्श और वास्तव के बीच अनतिक्रम्य व्यवधान, सौन्दर्य के खंडित आंशिक प्रकाश से उसका मूल-प्रसवण की ओर दुरूह अभियान, रूप में रूपातीत की व्यंजना, अनायत्त की ओर व्याकुल हस्त-प्रसारण इत्यादि, प्रेम की दुरवगाह महिमा और आकर्षण का सुर इस कविता में इस आश्चर्यकारी रूप में अभिव्यक्त हुए हैं कि इन कारणों से पृथ्वी के श्रेष्ठ गीत-समूह में इसको स्थान मिलना उपयुक्त है। कीट्स की सौन्दर्योपभोग-अपरितृप्ति और शैली का आदर्श सन्धान में उर्द्धभियानपिपासी हृदयावेग मानो इस महागीत में निविड़ एकात्मता में युक्त हो गये हैं।"

॥ अनमेल विवाह ॥

(१०५)

पिया मोर बालक हम तरुनी।
कोन तप चुकलौंह भेलौंह जननी॥
पहिर लेल सखि एक दछिनक चीर।
पिया के देखैत मोर दगध शरीर॥
पिया लेली गोद कै चललि बजार।
हटिया के लोग पूछे के लागु तोहार॥
नहि मोर देवर कि नहिं छोट भाई।
पुरब लिखल छल बालमु हमार॥
बाट रे बटोरिया कि तुहु मोरा भाई।
हमरो समाद नैहरे लेने जाउ॥
कहिहुन बाबा के किनए धेनु गाइ।
दुधबा पियाइ के पोसता जमाइ॥
नहिं मोर टका अछि नहि धेनु गाइ।
कौन बिधि पोसब बालक-जमाइ॥
भनइ विद्यापति सुन ब्रजनारि।
धीरज धरह त मिलत मुरारि॥

शब्दार्थः—चुकलौंह-चूक हो गई। भेलौंह-हुई। जननी-नारी।

पहिर लेल-पहन लिया है। दछिनक चीर-दक्षिणदेशीय वस्त्र। हटिया-बाजार। तोहार-तुम्हारा। पुरुब लिखल-नियति का लिखा हुआ। बालमु-पति। बाट रे बटोहिया-मार्ग के पथिक। हमरो समाद-हमारा सम्बाद। नैहर-मायके। लेने जाउ-लेते जाओ। कहिहुन-कहना। किनए-खरीद कर। पोसता-पोषण करे। टका-रुपया-पैसा। अछि-है। कौन बिधि पोसव-किस प्रकार पालूंगी।

प्रसंग:—विद्यापति की रचनाओं में तत्कालीन समाज के यथार्थिक जीवन का भी अंकन हुआ। उन्होंने अपने युग की कुरीतियों पर भी व्यंग्य किया है। प्रस्तुत पद में एक ऐसी युवती का व्यंग्य स्वर-बद्ध है जिसका कि विवाह एक बालक से हो गया था।

व्याख्या:—मेरा पति तो बालक है और मैं हूँ तरुणी, (पता नहीं) किस तपस्या में मुझसे गलती हो गई जिसके कि कारण मुझे नारी का जन्म मिला। हे सखी, (मैंने युवती होने के कारण) दक्षिण देश का बारीक वस्त्र पहन लिया है, लेकिन (बालक) पति को देखते ही मेरा शरीर (क्रोधाभिभूत होकर) जलने लगता है। (क्योंकि मेरे रूप-शृंगार का मूल्यांकन वह कर ही कैसे सकता है।)

(एक दिन जब मैं) पति को लेकर बाजार गई तो बाजार के लोग पूछने लगे कि यह तुम्हारा कौन लगता है? (बड़ी शर्म महसूस हुई, लेकिन मुझे कहना ही पड़ा कि) यह न तो मेरा देवर ही है और न ही छोटा भाई ही, वरन् यह तो दुर्भाग्य द्वारा लिखा गया मेरा पति है। (भाव यह है है कि युवती नायिका अपने अल्पवयस्क पति को अपनी भाग्य की बिडम्बना ही मानती है।)

मैंने मार्ग में जाते हुए राहगीरों से कहा कि तुम मेरे भाई हो, मेरा सम्वाद अर्थात् मेरी प्रार्थना मेरे मायके लिए जाओ। तुम मेरे पिता से कहना कि वह अपने जमाई के लिए दूध पिलाकर पोसने के लिए गाए खरीद कर दें। क्योंकि मेरे पास न तो पैसा ही है (जिससे कि मैं दूध खरीद सकूं) और न ही गाय ही है। फिर भला उनके बालक जमाई (दामाद) को मैं किस प्रकार पोषित करूं?

विद्यापति कहते हैं कि हे ब्रज की युवती! सुनो, तुम धैर्य धारण करो, तुमको कृष्ण (अवश्य ही पति रूप में) मिलेंगे।

साहित्यिक विश्लेषण :—

१. प्रस्तुत पद में विद्यापति की बिडम्बना पीड़ित-नायिका अपने पिता की न तो भर्त्सना ही करती है और न ही वह उन पर क्रोधित ही होती है, वरन् वह तो बड़े ही हँसमुख ढंग से अपने पिता के मर्म पर तीखे व्यंग्य से प्रहार करती है।

२. विद्यापति के इस पद को देखकर हम कह सकते हैं कि वे केवल श्रृंगार के मूर्च्छना-लोक के अधिवासी ही नहीं थे, वरन् वे चतुर्दिक वातावरण के प्रति भी जागरूक थे।

पदानुक्रमणिका

	पद की प्रथम पंक्ति	पद संख्या	पृष्ठ संख्या
१.	अंकुर तपन-ताप जदि जारब	९४	(३१४)
२.	अंबर बदन झपावह गोरी	६६	(२५७)
३.	अखिल लोचन तम ताप-विमोचन	८२	(२९२)
४.	अनल रंध्र कर लक्खन नरबए सक समुद्द	२३	(१६०)
५.	अनुखन माधब मदधब सुमरत	९९	(३२५)
६.	अभिनब कोमल सुन्दर पात	८७	(३०१)
७.	अरुन पुरब-दिसा बितलि सगरि निसा	८०	(२८८)
८.	अवनत आनन कए हम रहलिहुँ	५३	(२२९)
९.	आगे माई एहन गमत बर लाइल हिमगिरि	६	(१३२)
१०.	आज पुनिमतिथि जानि मोयँ अएलिहुँ	७३	(२७३)
११.	आज पेखल नन्द किसोर	५६	(२३६)
१२.	आजु नाथ एक बर्त्त माँहि सुख लागत हे	१०	(१३९)
१३.	आज मोहि सुभ दिन भेला	४४	(२०८)
१४.	उगना हे मोर कतय गेला	२०	(१५७)
१५.	एत दिन छलि नब रीति रे	८३	(२९४)
१६.	ए धनि कमलिनि सुन हित बानि	५७	(२३८)
१७.	ए सखि पेखल एक अपरूप	४९	(२२०)
१८.	कंचन गढ़ल हृदय हथिसार	६९	(२६३)
१९.	कंटक माँझ कुसुम परगास	५५	(२३३)
२०.	कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ	३	(१२८)
२१.	कतन बेदन मोहि देसि मदना	५१	(२२४)
२२.	कनक-भूधर-सिखर-बासिनि	१२	(१४३)
२३.	कनक लता अरबिंदा	३६	(१९२)
२४.	कबरी भय चामरि गिरि कंदर	३७	(१९४)
२५.	कर धरु करु मोहे पारे	६२	(२४८)
२६.	कामिनि करए सनाने	४२	(२०४)
२७	कि आरे ! नब जौवन अभिरामा	३१	(१८०)
२८.	कि कहब हे सखि कानुक रूप	४१	(२०२)